युग और साहित्य

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

युग और साहित्य

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
प्रयाग

सन् १९४१

प्रथम संस्करण] [मूल्य २)

Published by
K. Mitra.
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd
Benares-Branch.

अपनी बात

मैंने तो अपनी पिछली पुस्तक 'सञ्चारिणी' के साथ ही एक प्रकार से पाठकों से विदा ले ली थी। उस समय अपने जीवन की एकमात्र निधि बहिन कल्पवती देवी के निधन से मैं सर्वस्व-शून्य हो गया था। शिशु के मस्तक पर से माँ का अञ्चल हट जाने से वह जैसा करुण-निरीह हो जाता है, वैसा ही तो मैं भी हो गया था। बहिन के अभाव में पहिली बार मुझे वास्तविकता का बोध हुआ, पहिली बार मैं काव्य की सरलता से समाज की जटिलता के परिचय में आया। किसी ज़माने में मैंने भी कविताएँ लिखी हैं ('नीरव' और 'हिमानी'), आँसुओं से सींचकर। आँसुओं की तरलता से ही अपने कण्ठ को आर्द्र कर मैं कुछ गा गया हूँ। किन्तु आज तो आँसू भी सूख गये हैं। आज सोचता हूँ, यदि पृथ्वी पर अपने अस्तित्व को रक्षित रखना है तो अपने और अपनी बहिन के आँसुओं को कुछ शक्ति देनी होगी। इसी लिए एक बार मैं फिर जी उठा।

बहिन का देहावसान जिस निःसहाय स्थिति में हुआ और कृत्रिम मनुष्यता के दानवी आकार में समाज की जिस हृदय-हीनता का कुरूप परिचय मिला, उससे मेरे शिशु-सहज विश्वासों पर वज्रपात हो गया। आज मेरा शैशव बहिन की मृत्यु के साथ

अन्तिम साँस लेकर चिता की लपटों की आँच पा गया है। आज मेरे हृदय के एक पार्श्व में माँ-बहिनों की कोमल संस्कृति है, दूसरे पार्श्व में निःसहाय अश्रुओं की उद्वेलित उत्क्रान्ति।

आज मेरे एक ओर छायावाद और गान्धीवाद है, दूसरी ओर समाजवाद है। मैंने अपनी बहिन के भीतर जिस उज्ज्वल आत्मा का दर्शन किया था, उसी की प्रेरणा से मैं छायावाद (भाव) और गान्धीवाद (संस्कृति) को अपना लेता हूँ। किन्तु वैसी आत्माओं के लिए इस पृथ्वी पर ठौर-ठिकाना नहीं है। उनका जीवन आठ-आठ आँसू रोने के लिए रह गया है, या, सन्तापों से पृथ्वी की छाती फाड़कर सीता की तरह उसी में समा जाने के लिए। जीवन की इस करुण विडम्बना की आवृत्ति पुनः पुनः न हो, इसी लिए मैं युग-धर्म्म के रूप में समाजवाद को भी स्वीकार कर लेता हूँ। हाँ, पहिले मैं छायावाद और गान्धीवाद की ओर अधिक उन्मुख था, क्योंकि तब मैंने उसे बहिन के अभाव में नहीं देखा था। उस समय तक मैं समाज के खोखलेपन से अनजान था, कारण, बहिन ने मेरी शून्यता को अपने वात्सल्य से भर रखा था। उस समय मैं समाजवाद के प्रति केवल सहानुभूति-पूर्ण था, उसके उदार आर्थिक दृष्टिकोण के कारण। आज मैं छायावाद के प्रति सहानुभूतिपूर्ण हूँ, समाजवाद के प्रति अधिक उन्मुख। आज मैं जानता हूँ कि समाजवाद न केवल एक नवीन आर्थिक दृष्टिकोण है, बल्कि उसमें दैनिक जीवन की सम्पूर्ण आकुलताओं का निदान है।

हमारा अब तक का शरीर (समाज) एकदम सड़ गया है, जिसके भीतर चेतना पीड़ा से छटपटा रही है। फिर भी उसकी विवर्ण मुखाकृतियों (साहित्य, कला, संगीत, सभ्यता) में ही हम उसके भाव और संस्कृति का सौन्दर्य और माधुर्य देखने का हृदय-हीन प्रयत्न करते आ रहे हैं, मानो युग-युग की पीड़ा के साथ क्रीड़ा कर रहे है। साहित्य और कला के नाम पर एक बहुत बड़ी छलना लेकर हम जीवन का मिथ्या अभिनय कर रहे हैं। अब इस प्रवञ्चना का अन्त होना चाहिए। युग-युग की पीड़ित चेतना को उसके रुग्ण शरीर से मुक्ति देनी चाहिए। उस चेतना का समाजवाद ही कायाकल्प कर सकता है। भावी युग में आत्मा (छायावाद और गान्धीवाद) की अभिव्यक्तियाँ (भाव और संस्कृति) भी चेतना का प्रकाश पाकर प्रस्फुटित होती रहेंगी, किन्तु वे समाजवादी मानव के उत्फुल्ल मुखमण्डल पर ही स्वस्थ मुद्राएँ अंकित कर सकेंगी, अभी तो वे मुरझाये मुखों पर फूलों की म्लान छवि जैसी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने युग-द्वन्द्वों और तज्जनित भावी सम्भावनाओं को अपने साहित्य के माध्यम से उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। मैंने 'वादों' से विवाद नहीं किया है, हाँ, वादियों की विडम्बना की ओर संकेत अवश्य किया है। किन्तु मेरा उद्देश्य शुभ है। द्वन्द्व नहीं, ऐक्य; विभाजन नहीं, संयोजन; वैषम्य नहीं, सामञ्जस्य मेरा लक्ष्य है। मैं समन्वय की ओर हूँ, अतएव विवादी स्वर के बजाय संवादी स्वर द्वारा जीवन की

लय में अभिन्नता स्थापित करने का मैंने यत्न किया है। आदर्श-वाद-यथार्थवाद, छायावाद-प्रगतिवाद, गान्धीवाद-समाजवाद को परस्पर विभक्त न कर, उन्हें मैंने द्वन्द्व समास बना दिया है।

यह पुस्तक एक प्रकार से हमारे वर्तमान साहित्य का इतिहास है। शैली अब तक के इतिहास-लेखन से भिन्न है। कला की विवेचना इसमें गौण है, जीवन की गति-विधि का निरीक्षण अधिक। इसी लिए पुस्तक का नाम 'युग और साहित्य' है। इसमें 'इतिहास के आलोक' में शीर्षक लेख विस्तृत है, और एक प्रकार से इस पुस्तक का केन्द्रबिन्दु है। इसमें वर्तमान सत्याग्रह (सन्' ४०) से पूर्व तक की साहित्यिक, राजनीतिक और सामाजिक गति-विधियों का निरूपण है। बाद की परिस्थितियाँ और हलचलों को इस लेख का परिशिष्ट समझना चाहिए, जो कि हमारे सामने प्रत्यक्ष है।

कार्याधिक्य और अस्वास्थ्य के कारण कुछ युग-प्रतिनिधि साहित्यिकों को इसमें विशेष स्थान नहीं दे सका, यथा, आदरणीय सेठ गोविन्ददास और मान्यवर बा० मैथिलीशरण गुप्त। दोनों महानुभाव अपनी-अपनी कला में द्विवेदी-युग के श्रेष्ठ प्रतिनिधि हैं; इनके सम्बन्ध में यथावकाश फिर लिखने की इच्छा है। द्विवेदी-युग की सीमा में ये उसी प्रकार सम्मान्य नाटककार और कवि हैं, जिस प्रकार छायावाद-युग में प्रसाद और निराला।

पुस्तक में मैंने विशेष-विशेष प्रतिनिधि साहित्यिकों को ही ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। फिर भी सर्वश्री माखनलाल चतुर्वेदी

और जैनेन्द्रकुमार को मैं अपनी उक्त असमर्थता के कारण विशेष स्तम्भ नहीं दे सका। माखनलालजी की तो सम्पूर्ण कविताएँ पुस्तकाकार सुलभ भी नहीं हैं। फिर भी, भविष्य की आशा पर निश्चिन्त न रहकर मैंने उक्त सभी महानुभावों के कृतित्व को रेखा-बद्ध कर लिया है।

सद्य:जात नये-नये लेखकों और कवियों पर कुछ लिखने की इच्छा नहीं थी, क्योंकि वे अभी उग रहे हैं। फिर भी भविष्य में उनकी प्रतिभा के विकास या ह्रास का संकेत पाने के लिए मैंने उन्हें भी नामांकित कर लिया है। सम्भव है, एकाध नाम छूट गये हों, जिन्हें नये संस्करण में सम्मिलित कर सकूँगा। इसके अतिरिक्त, यत्र-तत्र छापे की जो गलतियाँ हों, सुधी पाठक उन्हें क्षमा-पूर्वक सुधार लेने का कष्ट करें।

अपने जीवन में मैं जिस प्रकार धनाढ्यता से वंचित हूँ उसी प्रकार विद्वत्ता से भी मेरी शिक्षा-दीक्षा साक्षरता से अधिक नहीं है। अतएव मैं अपने चारों ओर के वातावरण से ही लिखने की प्रेरणा ग्रहण करता हूँ, जो कि मेरे लिए उतना ही सुलभ है जितना कि मेरे चारों ओर का मानुषिक और प्राकृतिक जगत्। जीवित जगत् का अध्ययन ही मेरा मनन-चिन्तन है।

यत्र-तत्र मैंने अँगरेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है, जैसे व्यावहारिक जीवन में सरकारी सिक्कों का उपयोग करता हूँ। जब तक नये सिक्के (हिन्दी शब्द) नहीं बन जाते, मेरे जैसे निर्धनों को उन्हीं परिचित सिक्कों से काम चलाना पड़ेगा।

हिन्दी में जिस अनुपात से नवीन साहित्य बन रहा है उस अनुपात से पारिभाषिक शब्द नहीं बन रहे हैं। सम्भव है, राष्ट्रभाषा की स्थापना हो जाने पर पारिभाषिक शब्द हिन्दी में ढलने लगें किन्तु उसके पूर्व भी अभाव की इस दिशा की ओर साहित्य के अधिकारियों द्वारा कुछ निश्चित प्रयत्न होने की आवश्यकता है, ताकि भावी पीढ़ी को सौकर्य्य प्राप्त हो।

यह पुस्तक मेरे आन्दोलित जीवन की रचना है। भविष्य में मैं कहाँ तक और क्या क्या लिख सकूँगा, स्वयं नहीं जानता। कारण, मेरा स्वास्थ्य, साहित्य में उस दीन, दलित, पीड़ित वर्ग का सूचक है जिसे सदियों से ऊपर उठने का अवसर ही नहीं मिला है। राष्ट्रभाषा के इस युग में मैं तो संयोग से ही साहित्य में आ गया हूँ और राजनीति में जिस प्रकार निम्नवर्ग भी अपनी एक वाणी पा गया है, उसी प्रकार साहित्य में मैं।

युग अभी नव-निम्मार्ण के स्वप्नों में ही चल रहा है। अभी तो मुझ जैसों की स्थिति उस माता की तरह है जो अपने रक्त-बिन्दुओं से एक सृष्टि को जन्म देकर अपने दुर्बल कलेवर के लिए सुखाद्य से वञ्चित रह जाती है। सन्तोष इतना ही है कि नवनिर्मित भावी युग नई नई पीढ़ियों को स्वास्थ्य और सौन्दर्य्य से जीवन-मय कर देगा।

लोलार्क कुण्ड,
काशी
३०-१२-४० ।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

सूची

युग और साहित्य

नव-विन्दु

आज से कुछ ही वर्ष पहले का संसार बहुत बदल गया है। एक ज़माना था जब दुनिया के किसी कोने में कोई परिवर्त्तन होने में वर्षों बीत जाते थे फिर भी कोई अभूतपूर्व परिवर्त्तन नहीं होता था। मोटे तौर से यही देखने में आता रहा कि साम्राज्यों के लिए लड़ाइयाँ होती थीं और एक राजा या बादशाह के बाद कोई दूसरा गद्दी पर बैठ जाता था। इस प्रकार के राज्य-परिवर्त्तन के कारण इतिहास में युगों का लेखा-जोखा नृपतियों के शासनकाल से किया जाता था। शासकों का जीवन-मरण ही इतिहासों का युग-युगान्तर था। इतिहास का यही ढङ्ग १९वीं शताब्दी तक चला आया है। इसके बाद सचमुच इतिहास में एक परिवर्त्तन होता है—हम इतिहास का युग-विभाजन कोरमकोर राजाओं के शासन-काल से नहीं, बल्कि शासक जिनके राजा हैं उनकी

उन्नति और अवनति के हिसाब-किताब से करने लगे हैं और देश के शुभचिन्तकों के नाम के साथ युग को ज्ञापित करके (यथा, 'गांधी-युग') इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि इतिहास को देखने का हमारा दृष्टिकोण कितना बदल गया है।

हाँ तो, एक ज़माना था जब दुनिया के किसी कोने में युग-परिवर्त्तन होने में सदियाँ बीत जाती थीं। इसका अभिप्राय यह कि परिवर्त्तन तो होते ही थे किन्तु वह परिवर्त्तन, जिससे समाज और जीवन का ढङ्ग बदलता है, मनुष्य विकास की ओर चलता है, दुर्लभ था। कारण, जिनको लेकर समाज और जीवन है उनकी आवाज दबी हुई थी, राजसत्ताओं के कोलाहल में उनकी वह दबी आवाज क्षीणतम होकर सुनाई पड़ती थी—क्रन्दन के स्वर में। समाज रो रहा था और राजनीति अपने हलवे माँड़े में लगी हुई थी। फलतः हम इतिहास में राज्य-विस्तार तो देखते हैं किन्तु समाज-संस्कार शून्य। किन्तु वह दबी हुई आवाज़, वह क्रन्दन का क्षीण स्वर सर्वथा शून्य में ही लीन नहीं हो गया, वह अपने युग के ज्ञानियों के हृदय पर अङ्कित होता गया। उन ज्ञानियों ने, उन सहृदय सामाजिक श्रोताओं ने जनसाधारण के स्वर को साहित्य की रचना में मुखरित किया, विवेक-पूर्वक।

१९वीं शताब्दी तक इसी प्रकार साहित्य-रचना होती रही। इस साहित्य-रचना में समाज के दूषित अंश भी हैं। विवेकवान्

रचयिताओं द्वारा जहाँ सामाजिक उत्थान के स्वप्न मिले, वहाँ रसिकों द्वारा पतन के भाव भी। एक ओर समाज उच्चवर्गीय (राजविलासी) लोगों के दूषणों को ही जीवन का आनन्द समझ-कर उसी में अपनी आत्मा का हनन कर अपने को भुलाता आ रहा था, दूसरी ओर अपनी कमज़ोरियों में भी सत्साहित्य के प्रति वह श्रद्धालु था, क्योंकि गोस्वामी तुलसीदास जैसे साहित्य-स्रष्टा उसके उद्बोधक थे।

किन्तु यह प्रगति नहीं थी, यह तो समाज का ढहना-गिरना और उसकी रोक-थाम थी। प्रगति का प्रारम्भ तो होता है १९ वीं शताब्दी के अन्त से ही। सत्साहित्य के प्रति श्रद्धालु होकर भी तब तक समाज अकर्मण्य था। उसकी श्रद्धा रूढ़ि हो गई थी, अतः साहित्य द्वारा प्राप्त आदर्श समाज के जीवन में गतिमान् न होकर कुण्ठित था। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से इसी रूढ़ि एवं अकर्म-ण्यता के विरुद्ध समाज-सुधारकों द्वारा असन्तोष जगा। यहीं से प्रगति का श्रीगणेश है। समाज-सुधार के आन्दोलन जोर पकड़ते गये और आज हम देखते हैं कि तब से अब तक कितना परिवर्त्तन हो गया है। यदि मध्ययुग का कोई मनुष्य आज के समाज को देख पाये तो वह विस्मय से अवाक् हो जायगा, इसी लिए आज भी जो रूढ़ि-ग्रस्त हैं वे प्रगति के प्रति प्रतिक्रियाशील हैं।

यह नहीं कि १९वीं शताब्दी के अन्त से नवीन राजतन्त्र विगत राजतन्त्रों की अपेक्षा हमारे सामाजिक अभ्युदय के प्रति

अधिक आत्मीय था। सच तो यह है कि हमें अपने सामाजिक उत्थान के लिए अपने ही पैरों पर खड़ा होना पड़ा है। यदि मध्ययुग का राजतन्त्र हमारी सामाजिक उन्नति की ओर से निश्चेष्ट था तो नवीन राजतन्त्र भी निरपेक्ष रहा। कहा जाता है कि नवीन राजतन्त्र ने हमें सामाजिक या धार्मिक उन्नति के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता दी, इसमें हस्तक्षेप करना उसने उचित नहीं समझा। उसकी यह तटस्थ नीति एक प्रकार से अपने लिए एक सुरक्षित निश्चिन्तता थी। मध्ययुग में राजतन्त्रों को जनता की परवाह नहीं थी, वह उनकी लाठी की भैंस थी; उनका आमना-सामना तो समान शक्तियों से ही होता था, फलतः राजशक्तियाँ आपस में ही लड़ती-भिड़ती थीं। किन्तु नवीन राजतन्त्र ने मध्ययुग की राजशक्तियों को पिंजड़े का शेर बना दिया, उनकी ओर से उसे भय नहीं रह गया। रह गई जनता। नवीन राजतन्त्र को अपने देश की नागरिकता-द्वारा जनता की शक्ति का परिचय है, विशेषतः इसलिए भी कि वहाँ जनता द्वारा ही कितनी राजक्रान्तियाँ हो चुकी हैं। फलतः मध्ययुग के विषम शासन-भार से मृतप्राय जनता को कुछ जीवन देकर अपना आभारी बनाना नवीन राजतन्त्र को ठीक जान पड़ा, अतएव वह सामाजिक या धार्मिक स्वतन्त्रता का पृष्ठपोषक बन गया। किन्तु इस सौजन्य (!) में उसका एक अपना भी उपकार था, यह कि जनता सामाजिक या धार्मिक सुधारों में ही अपने को भूली रहे, राजनीति की ओर

उनकी दृष्टि न पड़ने पावे। परन्तु जागृति एकाकिनी नहीं होती, वह धीरे धीरे सर्वांगीण हो जाती है। आज हम देखते हैं कि न केवल सामाजिक बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जागृति भी हमारे देश में व्याप्त हो गई है। ऐसे समय में जो साम्प्रदायिक विद्वेष चल रहे हैं उनके द्वारा शासकों की उस शुभेच्छा का भी पर्दाफाश हो गया है जो सामाजिक या धार्मिक स्वतन्त्रता के रूप में प्रदर्शित की गई थी।

जगे हुए आदमी को अन्धड़ और तूफान भी देखने पड़ते हैं, उसे इन सबसे अपनी दृष्टि को स्वच्छ रखकर प्रगति के पथ पर गतिशील होना पड़ता है। अन्धाधुन्ध चलते रहना ही प्रगति नहीं है। आज हमारी जागृति देश के ग्रीष्मकाल (संतप्त काल) की जागृति है, यह एक प्रज्वलित सौभाग्य है. ठंडे मिजाज से ही हम इसका सदुपयोग कर सकते हैं। आँधी और तूफान में स्थितप्रज्ञ होकर ही हम ठीक राह पर चल सकते हैं, अन्यथा गुमराह हो जाने की अधिक आशंका है। मध्ययुग के अनेक दूषणों से हम आज भी युद्ध कर रहे हैं। कहीं प्रगति की झोंक में हम वर्त्तमान युग से भी इतने दूषण न ले लें कि प्रगति के बजाय हमें अपनी गन्दगी से ही पीछा छुड़ाना मुश्किल हो जाय। समाज, साहित्य और राजनीति इन सब को बड़े सजग हृदय से नव-निर्माण देना है, तनिक-सी भूल हमें सदियों पीछे ढकेल सकती है। हमें याद रखना चाहिए कि आज विश्व के

रङ्गमञ्च पर एक-एक दिन में एक-एक शताब्दी बन रही है, उसमें हमें भी अपना भाग्य आजमाना है।

आज की प्रगति में महिलाएँ भी आगे बढ़ी हैं, कर्त्तव्य-क्षेत्र में वे बहुत कुछ पुरुषों के समीप पहुँच गई हैं। सदियों के बाद उन्होंने अपनी शक्ति को पहचाना है। वे चाहें तो अपनी आत्म-चेतना से प्रगति की संरक्षिका बन सकती हैं। वे अपने व्यक्तित्व की शीतलता से उत्तप्त मस्तिष्कों को प्रकृतिस्थ हृदय से सोचने की प्रेरणा दे सकती हैं। युगों तक तो वे परदे में रही हैं, अब परदे से बाहर आ जाने पर भी उनमें वह लज्जा और गतिधीरता तो बनी ही रहनी चाहिए जो बहुत समझ-बूझकर पद-निक्षेप करती है। आज की प्रगति में उन्हें अपनी उसी गतिधीरता को छन्द की तरह नियोजित करना है, ताकि प्रगति स्वच्छन्द होकर दुर्गति में न पड़ जाय।

साहित्य के विभिन्न युग

[१]

हमारे वर्तमान साहित्य के दो युग निश्चित हो चुके हैं—(१) भारतेन्दु-युग, (२) द्विवेदी-युग* । ये दो युग व्यक्ति-विशेष की प्रमुखता के कारण निश्चित हुए हैं, साहित्य की उस धारा-विशेष के कारण नहीं, जिसके द्वारा हम मध्ययुग के साहित्य का वर्गीकरण करते आये हैं। हम मध्ययुग के साहित्य को भी व्यक्ति-विशेष के नाम से अभिहित नहीं कर सके, इसका कारण यह कि उस काल की प्रवृत्तियाँ किसी विशेष व्यक्ति में ही निहित नहीं थीं, वे हमारे समग्र जीवन में ओत-प्रोत थीं। एक शब्द में उस काल की रचनाएँ संस्कृति-मूलक थीं, व्यक्ति उसके अभिव्यक्ति मात्र थे। संस्कृति के सञ्चालन में बड़े-बड़े आचार्यों का हाथ होने पर भी संस्कृति ने उनके नाम से नहीं, बल्कि सिद्धान्तों के स्वरूप के अनुसार युग-संज्ञा प्राप्त की। राम-काव्य और कृष्ण-काव्य में भी तुलसी और सूर नहीं

---

* इस युग के नामकरण में एक छूट रह गई है। भारतेन्दु के बाद वर्तमान साहित्य का पृष्ठभाग प्रस्तुत करने का श्रेय तपोवृद्ध बाबू श्यामसुन्दरदास को है। द्विवेदी-युग के वे मूलपुरुष हैं। उनकी सेवाओं को कोई युग-चिह्न न देना बड़ी कृतघ्नता है।

बल्कि उनकी संस्कृति के आराध्य देवता हैं। व्यक्तियों के बजाय भगवन्नाम की ही प्रमुखता है। किन्तु आप्त पुरुषों ने इससे भी ऊपर उठकर नाम के सार-रूप, सृष्टि के सारांश-रूप को ही युग-संज्ञा दी थी—सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग। इस एक एक युग में न जाने कितने युग-पुरुष हुए, किन्तु कभी उन्होंने युग को अपने नाम का सिक्का नहीं दिया। यह व्यक्ति का आध्यात्मिक आत्मविसर्जन है, जिसके द्वारा उसने अपने को अनन्त अदृश्य में खो दिया।

किन्तु जब इस भूखण्ड में अन्य जातियों का प्रवेश हुआ, तब विभिन्न मनोवृत्तियों (या मतों) का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इसे ही हम इतिहास-काल कहेंगे। यह इतिहास-काल ही कलियुग है, जिसमें पिछले तीन युगों की परम्परा और अपने समय की प्रधानता है। पिछले युग यदि आध्यात्मिक-समष्टिवादी थे तो यह युग पार्थिव-व्यक्तिवादी है। पिछले युगों के समष्टिवाद के प्रतीक-स्वरूप इस युग में भी धर्मशालाएँ हैं, पाठशालाएँ हैं, देवालय हैं, किन्तु उनके निर्माण में व्यक्ति-विशेष का नाम आगे है। यह युग सार को नहीं, संसार को लेकर चला है। इस युग में आत्ममोह इतना अधिक है कि पार्थिव-व्यक्तिवाद की भीषण लिप्साओं से ऊबकर अब एक पार्थिव-समष्टिवाद का भी जन्म हो रहा है या संसार का नवीन संस्कार होने जा रहा है। यही ऐतिहासिक प्रगतिशीलता है। यह पार्थिव-समष्टिवाद ही कलियुग का अतिक्रम कर आध्यात्मिक समष्टिवाद में जा मिलेगा,

इतिहास अपनी चरम सीमा पर पुराण में परिणत हो जायगा, पूर्व से चला हुआ सूर्य फिर पूर्व में ही उदित होगा।

तो यह ऐतिहासिक युग है। मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल के प्रारम्भ तक जीवन का एक ही व्यक्तिवादी प्रवाह बहता आया है। यह प्रवाह प्राचीन समष्टिवादी संस्कृति को अपने तूफानी वेग में बहा ले गया, काल के आवर्त में डूबने के पूर्व कमल की भाँति जो भक्ति-काव्य अपना स्वर्गीय सौरभ बगरा गये वे ही है—राम और कृष्ण-काव्य। इस प्रकार साहित्य में तो हम अपनी विगत संस्कृति का अनुभव करते हैं और इतिहास में जीवन की विकृति का। जिस प्रकार इस विकृति ने संस्कृति के प्रतिकूल गति धारण की थी, उसी प्रकार आज इस विकृति के प्रतिकूल प्रगति आ रही है (पार्थिव समष्टिवाद के रूप में)! किन्तु अभी तक वही मध्यकालीन विकृति अपने अन्तिम संघर्ष में लगी हुई है।

आधुनिक काल के प्रारम्भ तक इस विकृति की गति निर्द्वन्द्व हो गई थी। तब तक साहित्य दिवंगत आत्मा की स्मृति की भाँति संस्कृति को सँजोये हुए चल रहा था और इतिहास अपनी सामयिक हलचलों को पिरोये हुए। इतिहास प्रबल होकर भी साहित्य के आदर्शों को विचलित नहीं कर सका, साहित्य कृष्णार्पण ही बना रहा। अतएव, प्रभु की चीज में किसी भक्त का नाम नहीं लग सका। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी (आधुनिक काल का

प्रारम्भ) के उत्तरार्द्ध से इतिहास ने साहित्य पर भी प्रभाव छोड़ना आरम्भ किया। कारण, हमने निश्चित रूप से ऐतिहासिक जीवन की विजय स्वीकार कर ली, मानो शुक्ल पक्ष ने कृष्ण पक्ष की प्रभुता मान ली। निदान, अतीत ब्राह्मण की तरह विदा हो गया, मध्यकाल क्षत्रिय की तरह वीर गति पा गया और आधुनिक काल मुस्लिम शक्ति का अँगरेजी रूपान्तर होकर शासक बन गया।

[२]

आधुनिक काल के प्रारम्भ में एक नये शासन का आरम्भ हुआ। मध्यकाल के संघर्ष समाप्त हो गये थे, आधुनिक काल गत संघर्षों के भस्मस्तूप पर सिंहासनासीन हुआ। यह श्मशान-शान्ति का काल है। इस समय हमें अपने विगत जीवन का सिंहावलोकन करने का अवसर मिला—एक तुलनात्मक सिंहावलोकन, जिसमें तब और अब का नीर-क्षीर-निरीक्षण था। भारतेन्दु ने कहा—

"अँगरेज राज सुख-साज सजै सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी॥"

साथ ही साहित्य में संस्कृति के जो अक्षर चले आ रहे थे उन्हें भी श्रद्धा का अक्षत दिया गया। इस प्रकार नवीन राष्ट्रीय विवेक और पुरातन सांस्कृतिक चेतना लेकर भारतेन्दु-युग प्रकाशमान हुआ। एक में जीवन का सामयिक यथार्थ था, दूसरे में जीवन का चिरकालिक आदर्श। राष्ट्रीय विवेक ने हमें जो यथार्थ

दिया उससे हमें अपने सामाजिक यथार्थ को भी देखने का दृष्टि-कोण मिला। सामाजिक यथार्थ ने हमें अपनी रूढ़ियों की दुर्बलता का परिचय दिया। हमारा चिरकालिक आदर्श इन रूढ़ियों के भग्नस्तूप पर उसी प्रकार विराजमान था जिस प्रकार मध्ययुग के भस्मस्तूप पर आधुनिक काल। चिरकालिक आदर्श को संस्कृति का सुदृढ़ सात्विक आधार देने के लिए विकृत रूढ़ियों का विरोध आवश्यक हुआ। रूढ़ियों का मुक्त विरोध, संस्कृति का गान-ध्यान, और दबे हुए कण्ठ से यत्किञ्चित् राष्ट्रीय असन्तोष, यही भारतेन्दु युग की प्रवृत्तियाँ हैं। यही प्रवृत्तियाँ द्विवेदी-युग तक चली आईं। हाँ, भारतेन्दु-युग ने सामाजिक रूढ़ियों का तो विरोध किया, किन्तु मध्यकाल की (रीतिकाल की) साहित्यिक रूढ़ियों को रसिकतापूर्वक अपनाया। इतने अंश में वह दुर्बल था और इतने ही अंश में द्विवेदी-युग, भारतेन्दु-युग से नवीन। द्विवेदी-युग, भारतेन्दु-युग का ही पूरक है। भारतेन्दु-युग की यत्किञ्चित् अपूर्णता को उसने पूर्णिमा दी।

[२]

युग-निश्चय के आधार ये है—(१) प्रवृत्ति (जीवन को देखने का दृष्टिकोण), (२) प्रगति (सामाजिक और राजनीतिक इतिहास), (३) अभिव्यक्ति या कला (भाषा, शैली और सुरुचि)। संक्षेप में जीवन, इतिहास और कला ये ही युग के परिचायक हैं—किसी व्यक्ति के आचार-विचार, गति-मति और वेश-भूषा की भाँति।

इस भाँति हम देखें—

भारतेन्दु-युग में देश के शासक बदल गये थे, किन्तु जीवन और इतिहास मध्ययुग का ही था। कला भी पुरानी ही थी ब्रजभाषा और संस्कृत के सम्पर्क में। एक प्रकार से भारतेन्दु-युग पिछले संसार का ही हिन्दी-रूपान्तर था। आधुनिक काल तो तब नवजात शिशु मात्र था। इस शिशु का ज्यों ज्यों आत्म-विस्तार होता गया त्यों त्यों साहित्य का उससे भी परिचय होता गया, उसके मंगल-अमंगल का बोध होता गया। आधुनिक काल के प्रथम बोध से साहित्य में जितनी नवीनता सम्भव थी, भारतेन्दु-युग ने अपनी प्राचीन परिधि में उसे भी ग्रहण किया। यों कहें, भारतेन्दु-युग एक आधुनिक क्लासिकल युग था।

मध्ययुग में काव्य ही साहित्य था, भावात्मक आइडियलिज़्म के कारण। जीवन के अभावात्मक रियलिज़्म में तब का साहित्य नहीं बना। आधुनिक काल की खासियत यह है कि उसने जीवन से आइडियलिज़्म को अपेक्षाकृत कम कर दिया। एक नये शिशु के जन्म के साथ जिस प्रकार किसी गृहस्थ के हृदय में एक अभावात्मक (चिन्ताजनक) रियलिज़्म का उदय होता है, उसी प्रकार साहित्य के हृदय में भी आधुनिक काल की यथार्थता की चिन्ता जगी। भावात्मक आइडियलिज़्म ने काव्य का प्रादुर्भाव किया था तो अभावात्मक रियलिज़्म ने गद्य की उद्भावना कर दी। इस प्रकार व्यावहारिक जीवन का माध्यम (गद्य) साहित्य में भी आ गया।

यों कहें, साहित्य निद्रित स्वप्नों से जीवन की सजग स्थिति में भी आया। इसी के अनुरूप भारतेन्दु-युग का साहित्य आधुनिक काल की प्रथम जागृति और मध्यकाल की अन्तिम स्वप्नदर्शिता का संयोजन है। यह साहित्य का उषःकाल है।

साहित्य के इस उषःकाल में भारतेन्दु-युग ने उस नवजात आधुनिकता के विविध अंग गद्य में संगठित किये। गद्य में केवल धार्मिक कथाएँ थीं, भारतेन्दु ने नाटक, चम्पू, कहानी और प्रहसन से उसका विस्तार किया। हिन्दी का यह भारतेन्दु-युग अपनी सीमा में बंगाल का बंकिम-युग है। हाँ, हमारे साहित्य में उपन्यास तब तक नहीं बन सका था, किन्तु इसकी प्रेरणा भी भारतेन्दु के साहित्यिक प्रयत्नों में थी जिसे उसी युग के स्वर्गीय किशोरीलाल गोस्वामी और देवकीनन्दन खत्री ने प्रत्यक्ष किया।

इस प्रकार भारतेन्दु-युग वर्तमान साहित्य के गद्यारम्भ का युग है। ज्यों ज्यों साहित्य में आधुनिकता वयस्क होती गई, त्यों त्यों उसके गद्यांगों का विकास होता गया। जिस प्रकार एक ही आतप और प्रकाश देश-काल के अनुसार अपना भिन्न प्रभाव रखता है, उसी प्रकार आधुनिकता ने अँगरेजी और हिन्दी-साहित्य में विभिन्न गति से विभिन्न विकास पाया।

[४]

भारतेन्दु-युग वर्तमान साहित्य का प्रसवकाल है। स्वभावतः उसमें उत्ताप अधिक है। उसमें एक अवरुद्ध-उद्‌फुल्लता और

उद्बोधन है। द्विवेदी-युग इस प्रसव-काल के बाद का साहित्य है, अतएव वह स्वभावतः कुछ प्रकृतिस्थ है। भारतेन्दु-युग ने जो आधुनिक साहित्य दिया उसी का पालन-पोषण द्विवेदी-युग ने किया; जैसे राजनीति में तिलक की उत्पन्न की हुई जागृति का गान्धी ने। अतएव, द्विवेदी-युग ने भारतेन्दु-युग की अपेक्षा कोई नई सामूहिक चेतना नहीं दी; भारतेन्दु-युग की चेतना को ही उसने नई भाषा (खड़ी बोली) दे दी। द्विवेदी-युग ने भारतेंदु-युग के साहित्य का कण्ठ-परिष्कार किया, यही उसकी खास विशेषता है।

कहा जा चुका है कि हिन्दी का वह भारतेन्दु-युग बङ्गाल का बङ्किम-युग है। यही युग द्विवेदी-युग तक चला आया है। तब तक मध्यकाल के जीवन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था, केवल उसकी अभिव्यक्ति आधुनिक होती गई। यों कहें कि जीवन क्लासिकल रहा, कला रोमैन्टिक होती गई। द्विवेदी-युग के बाद साहित्य में जो छायावाद आया उसमें यही रोमैन्टिक अभिव्यक्ति है। बंकिम-युग के बाद रवीन्द्र-युग इस रोमैन्टिक कला का कलाकार है।

हमारे साहित्य में द्विवेदी-युग सन् १९१९ में पूर्ण हो जाता है, जब कि द्विवेदीजी 'सरस्वती' से अवकाश लेकर एकान्तवास करते हैं। इसके बाद ही हमारे साहित्य में छायावाद और फिर गान्धीवाद का प्राधान्य होता है। रवीन्द्र और गान्धी के व्यक्तित्वों

में जितना अन्तर है, उतना ही इन दोनों 'वादों' की अभिव्यक्तियों में भी। रवीन्द्र की अभिव्यक्ति जब कि रोमैन्टिक है, गान्धी की अभिव्यक्ति क्लासिकल (यथा, चर्खा, कर्घा, इत्यादि)। किन्तु जीवन के दृष्टि-बिन्दु में दोनों ही क्लासिकल हैं। दोनों मध्ययुग के भक्ति-साहित्य के पुनरुत्थान हैं। रवीन्द्र-कृत छायावाद सगुण काव्य की भाँति प्रवृत्ति-मूलक है, गान्धीवाद (रहस्यवाद) निर्गुणकाव्य की भाँति निवृत्ति-मूलक। रवीन्द्र निर्गुण की उपासना में सगुण का लक्ष्य रखते हैं, गान्धी सगुण की उपासना में निर्गुण का लक्ष्य।

हमारे साहित्य में सन् १९२० के बाद की रचनाएँ इन्हीं महारथियों के अनुरूप कला व्यक्तित्व लेकर आईं। यों कहें कि इनके द्वारा कला में एक आधुनिक रोमैंटिसिज्म और एक आधुनिक क्लासिसिज्म का जन्म हुआ। एक में लाक्षणिकता है, दूसरे में प्रासादिकता। पहले के अन्तर्गत 'युगान्त' के पूर्व पन्त, प्रसाद, महादेवी और निराला हैं; दूसरे के अन्तर्गत द्विवेदी-युग के वे लेखक और कवि जिन्होंने गान्धीवाद का प्रभाव अधिक ग्रहण किया, यथा, गुप्तजी और प्रेमचन्दजी। आवश्यकतानुसार दोनों वर्गों के साहित्यिकों ने एक दूसरे के कला-विन्यास को अपनाया भी है; यथा, गुप्तजी ने छायावाद की लाक्षणिक कला और पन्त ने इधर की रचनाओं में द्विवेदी-युग-सी गद्य-कला ली है। गुप्तजी ने अपना काव्योत्कर्ष वस्तुजगत् से छायावाद के भावजगत् में किया, पन्त ने छायावाद से द्विवेदी-युग के बाद के वस्तुजगत् में।

सन् १९१३ में नोबुल-पुरस्कार पाने के बाद से ही साहित्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव पड़ने लगा था। सन् २० के पूर्व, द्विवेदी युग से भी हमारे साहित्य पर यह प्रभाव कुछ कुछ दीख पड़ता है। सन् २० के बाद हिन्दी में जिस छायावाद ने प्राधान्य ग्रहण किया, उसका बीजाङ्कुर द्विवेदी-युग में भी था (गुप्तजी की 'झंकार', प्रसादजी का 'झरना' उसी काल की रचनाएँ है)। सन् १९२० के बाद का साहित्य द्विवेदी-युग में उसी प्रकार प्रच्छन्न है, जिस प्रकार भारतेन्दु-युग में द्विवेदी-युग। इन विविध युगों में मूलतः कोई अन्तर न होने के कारण इनमें परस्पर अविच्छिन्नता बनी हुई है, इन सबके भीतर मध्यकाल का जीवन ही माध्यम है।

यह एक प्रश्न है कि सन् १९२० के बाद के साहित्यिक युग को हम किस नाम से अभिहित करें? द्विवेदी-युग तक हमारा साहित्य अपनी ही भाषा के साहित्यिकों की प्रेरणा से चला था, इसलिए मुख्य प्रेरकों के नाम पर हमने पिछले दो युगों को भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग की संज्ञा दे दी। किन्तु इसके बाद का हमारा साहित्य हिन्दी के बाहर के प्रभावों को लेकर प्राणान्वित हुआ। इस परवर्ती साहित्यिक युग को हम हिन्दी के किसी रचनाकार की सीनियरटी के कारण ही उसका नाम नहीं दे सकते, जब तक कि उसके प्रभाव और प्रेरणा के कारण ही वर्तमान साहित्य न बना हो, जैसे भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में। सच तो यह है कि इसे हिन्दी के संकुचित दायरे में न रखकर हमें हिन्दमहासागर

की विस्तीर्णता में देखना होगा। ताकि आनेवाली पीढ़ी इस युग के जीवन और इतिहास को अधिक स्पष्टता एवं सुबोधता से हृदयङ्गम कर सके। इस युग को हम क्यों न 'गान्धी-रवीन्द्र-युग' कहें। इस नामकरण द्वारा हमारे अब तक के जीवन और साहित्य तथा विश्व-मानव और विश्व-साहित्य के साथ उसके सम्पर्क की सचेष्टता का स्पष्टीकरण हो जाता है। युग का यह नामकरण न केवल हिन्दी के लिए, बल्कि इनसे प्रभावित सम्पूर्ण अन्तःप्रान्तीय साहित्यों के लिए भी सार्थक हो सकता है, एक शब्द में इसके द्वारा सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र की आत्मा और अभिव्यक्ति प्रकट हो सकती है।

[५]

भारतेन्दु ने कहा था—

"अँगरेज राज सुख साज सजै सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी॥"

सन् १९१४ के महायुद्ध तक हमारी राष्ट्रीय भावना यहीं तक सीमित रही। किन्तु सन् १९१९ के पञ्जाब-हत्याकाण्ड ने ब्रिटिश शासन पर अविश्वास उत्पन्न कर दिया, जिससे हममें स्वराज्य के लिए सत्याग्रह जगा। स्वराज्य का मन्त्र तिलक दे गये थे, उसका साधन गान्धी ने बताया। इस तरह हमारी राष्ट्रीयता स्वाधीनता की ओर उन्मुख हुई। हमने अपने देश के लिए स्वाधीनता में ही उस अर्थ-शोषण का अन्त पाया, जिसके लिए भारतेन्दु का कहना था—

"दे धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।"

इस प्रकार क्लासिकल जीवन ने परिवर्त्तन का एक द्वार खोला। मध्ययुग के संसार में बीसवीं शताब्दी के लिए भी एक वातायन खुला। गान्धीवाद का विशद प्रसार हुआ। रवीन्द्रयुग (छायावाद) से चलकर साहित्य यहाँ (गान्धीयुग) तक पहुँचा। 'गान्धी-रवीन्द्र-युग' द्वारा हमारे साहित्य ने द्विवेदी-युग के बाद की पूर्णता प्राप्त की।

इसके आगे नवीन प्रयत्न नये युवकों का था। जो अर्थ-शोषण हमारे पराधीन देश में जारी है, वही स्वतन्त्र देशों में भी तो है। नये युवकों की दृष्टि इस अर्थ-शोषण के मूल-कारण की ओर गई। इस अर्थ-शोषण के मूल में उन्होंने देखा, मध्यकालीन पूँजीवादी राजनीतिक व्यवस्था को। आइडियलिज़म को दूर हटाकर उन्होंने पूर्णतः रियलिज़्म को देखा। फलतः आज साहित्य और राष्ट्र में समाजवाद सजग है। इसे हम रोमैन्टिक रियलिज़्म कह सकते हैं। जीवन की विकृतियों में सामाजिक रियलिज़्म को पहले भी देखा गया था, किन्तु उसी पुराने भवन (मध्यकाल) के जीर्णोद्धार के लिए। उस रियलिज़्म में सुधारवादी दृष्टिकोण है। किन्तु यह रोमैन्टिक रियलिज़्म आमूल क्रान्तिकारी है।

अब साहित्य और संसार का भविष्य वर्तमान महायुद्ध के परिणाम पर निर्भर है। वर्तमान महायुद्ध में पूँजीवादी विकृतियाँ ही आपस में टकरा रही हैं। दूसरे शब्दों में, मध्ययुग की राजनीतिक व्यवस्थाएँ अपना अन्तिम भाग्य-निर्णय कर रही हैं।

यदि वे फ़ेल हो गईं तो समाजवाद आयेगा। परन्तु गान्धीवाद (आध्यात्मिक समष्टिवाद) कहाँ रहेगा ?

समाजवाद को यह सोचना है कि जैसे किसी देश को स्वाधीनता मिल जाने से ही अर्थ-शोषण का अन्त नहीं हो जाता, वैसे ही अर्थ-सुखी हो जाने पर ही मानव के मनोरथ शान्ति-लाभ नहीं करते। अतएव, मध्ययुग के जीवन में (पुराकाल का) जो आध्यात्मिक आइडियलिज्म है, वह व्यर्थ नहीं है। वही हमें आन्तरिक शान्ति देगा। मध्ययुग में वह औपचारिक मात्र था, आन्तरिक नहीं; इसी लिए रूढ़ि-निर्वाह में हम उसकी कदर्थना देखते आये हैं। रोमैंटिक रियलिज्म की सार्थकता यह है कि वह मध्ययुग के आध्यात्मिक आइडियलिज्म को (जिसका वर्तमान नामकरण 'गान्धीवाद' है) वह नवीन पार्थिव आधार दे जिससे निर्विकल्प होकर मानव-समाज गान्धीवाद की ओर उन्मुख हो; एक ओर वैभव और दूसरी ओर दारिद्रय के कारण वस्तुस्थिति के अज्ञान में अध्यात्मवाद के नाम पर आध्यात्मिक प्रमाद न करे।

भविष्य का जीवन और साहित्य गान्धीवाद और समाजवाद के संयोग से बनेगा। जैसे द्विवेदी-युग भारतेन्दु-युग का पूरक बना, वैसे ही समाजवाद गान्धीवाद का पूरक बन जायगा। भावी साहित्य में इन दोनों की एकता का युग आयेगा और तदनुकूल उसका नामकरण होगा; या तो युग की प्रवृत्ति-विशेष के आधार पर या युग के व्यक्ति-विशेष के नाम पर।

युगों का आह्वान

[१]

आज साहित्य के नवीन वातावरण में हम गत युगों की उपेक्षा तो करते ही हैं, साथ ही छायावाद (जो काव्य का श्रेष्ठ दान है), गान्धीवाद (जो ठेठ भारत का सम्बल है), आज ये दोनों भी आउट-आफ-डेट समझे जाने लगे हैं और नवीन उद्बुद्ध पीढ़ियों द्वारा उपेक्षित से हो रहे हैं। सम्प्रति समाजवाद एक असन्तुष्ट स्वर में अब तक के संसार के प्रति विद्रोह कर उठा है। एक दिन निर्गुण सन्तों ने संसार को माया कहकर इसके प्रति आध्यात्मिक विद्रोह किया था, आज समाजवाद उसी माया को विकलांग होते देखकर पार्थिव चीत्कार कर उठा है। अवश्य ही समाजवाद के लिए माया—माया नहीं। वह तो माया को अपने मनोनुकूल देखने के लिए क्षुब्ध है। यद्यपि समाजवाद आज का ताजा दृष्टिकोण है तथापि परिस्थितियों के संघर्ष और विकास में मनुष्य का दृष्टिकोण कहाँ जाकर केन्द्रित होगा यह अभी नहीं कहा जा सकता। आज तो असन्तोष का प्रखर मध्याह्न है, वातावरण में उष्णता है, स्वस्थ विचारों के लिए सुशीतल हृदय की आवश्यकता है।

प्रत्येक युग दूसरे युग को कुछ देकर जाता है, अन्यथा इतनी बड़ी सृष्टि अस्तित्वहीन होकर कभी की शून्य में समा जाती। एक

युग का आदान

युग दूसरे युग को जो कुछ दे जाता है, उसी के आदान-प्रतिदान से नव-नव युग भविष्य की ओर चलते है। इस प्रकार—

भक्ति-काल ने हमारे साहित्य और जीवन को एक दार्शनिक जागरूकता दी है, शृङ्गार-काल ने रसात्मकता, छायावाद ने भाव-विस्तीर्णता। शृङ्गार-काल ने भक्ति-काल से उपासना पाकर उसे सौन्दर्य और सङ्गीत का प्रतिदान दिया। फलत: भक्ति-काव्य कृष्ण-काव्य भी बन गया। छायावाद ने शृङ्गार-काल से मधुरता पाकर उसे चेतनता का स्पर्श दे दिया, फलत: शृङ्गार-काव्य विश्वात्म सा हो गया। शायद इसे ही एक साहित्यिक सहयोगी ने 'प्रकृत अध्यात्म' कहा है।

शृङ्गार-काव्य ने भक्ति-काव्य को रूप दिया था, छायावाद ने रूप को जगमगाया। भक्ति (निर्गुण) काव्य में केवल चेतना थी, शृङ्गारिक कृष्णकाव्य में केवल रूप। अवश्य ही सूर और मीरा जैसी काव्यात्माओं ने रूप के भीतर आबद्ध चेतना का भी निर्देश किया था, किन्तु सगुण काव्य भी शृङ्गार-काव्य की भाँति ही रूप-प्रधान था। जिन सगुण कवियों ने यथा सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि ने रूप के भीतर अरूप चेतन की स्मृति बनाये रखी, उन्हीं के पुण्य से हिन्दी कविता शृङ्गार-काव्य के साथ ही विलास-जर्जर नहीं हो गई, उसने अपनी चेतना का कला-विकास वर्तमान छाया-वाद द्वारा पाया। छायावाद में रूप और अरूप (चेतना) का संयोजन है। शृङ्गार-काव्य में जब कि जड़-सौन्दर्य है,

छायावाद में चैतन्य स्वरूप। सगुण काव्य में भी यही चैतन्य स्वरूप है, किन्तु उसका आलम्बन है व्यक्ति—लोकोत्तर व्यक्ति, जब कि छायावाद का आलम्बन है प्रकृति—समस्त सृष्टि। छायावाद निसर्ग के चन्द्रिकाधौत स्पर्श से शृंगार काव्य का शुक्लपक्ष बन गया है। सबसे पहले गोस्वामी तुलसीदास ने 'सियाराममय सब जग जानी' कहकर इस ओर भी एक निर्देश कर दिया था। छायावाद ने जो भाव-विस्तीर्णता दी वह विस्तीर्णता प्रदान करने में छायावादी भी गोस्वामी तुलसीदास की भाँति अपने युग में काव्योत्कर्षक हैं।

निर्गुण ने मुक्त चेतन का बोध दिया, सगुण ने बद्ध चेतन का शृङ्गार-काव्य ने सौन्दर्य्य-बन्धन का, छायावाद ने दिगन्त सृष्टि का। छायावाद का भाव-जगत् सृष्टि की भाँति विस्तीर्ण होकर भी दिशाओं की भाँति सीमित है। इस प्रकार छायावाद बद्ध चेतन (सगुण) का ही नवीन परिवर्द्धित संस्करण है, और जब कि पूर्व संस्करण धार्मिक अधिक है यह नवीन संस्करण साहित्यिक। साहित्यिक छटा के कारण इसमें राजसंस्करण का सौन्दर्य्य आ गया है। महात्मा गांधी और कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर जिस प्रकार एक ही सत्य की दो अभिव्यक्तियाँ हैं, उसी प्रकार पूर्वकालीन और वर्तमानकालीन छायावाद भी।

गोस्वामी तुलसीदास के प्रबन्ध-काव्य 'रामचरितमानस' में जो चेतन-स्वरूप है, वही वर्तमान छायावाद के मुक्तक में भी। इस

मुक्तक में गोस्वामीजी की 'विनयपत्रिका' के समान ही एक संगीत-मय व्यक्तित्व है। अन्तर यह है कि गोस्वामीजी वैरागी थे, छायावादी अनुरागी हैं। साथ ही एक में प्राचीन कला है दूसरे में आधुनिक; फलतः दोनों की अनुभूति और अभिव्यक्ति में भी प्रकारान्तर है। दोनों अपने अपने समय के साहित्यिक विकास की शाखाएँ हैं।

[२]

जीवन का यह काव्यरूप निर्विघ्न नहीं चला आया है। गृहस्थ के जीवन में रोग-शोक की भाँति देश में ऐतिहासिक संघर्ष-विघर्ष भी होते आये हैं। जीवन इन आपत्तियों की न तो उपेक्षा कर सका और न उन्हीं को लेकर रुका रहा। उसने कठिन परिस्थितियों का निदान किया और फिर आगे बढ़ा। ऐसा ही आगे भी होगा।

आज जीवन फिर संकट में है। ऐसे कठिन अवसरों पर जीवन जिस प्रकार मरण (बलिदान) के वरण-काल (संघर्ष) के तात्कालिक साहित्य (वीरगाथा, राष्ट्रीय-संगीत इत्यादि) को ग्रहण करता आया है, उसी प्रकार इस समय भी वह ग्रहण कर रहा है। इस आपत्ति-काल में गांधीवाद और समाजवाद सामने है। अपने साहित्य में भी हम इनका दर्शन पा रहे हैं। सम्प्रति गांधीवादी और समाजवादी साहित्य ही प्रमुख हो गया है, अन्य साहित्य गौण। कविता, कहानी, निबन्ध सब में इन्हीं वादों के दृष्टिकोण का प्रकाशन हो रहा है। हाँ, प्रेमचन्द जिस प्रकार गांधीवाद

[illegible]

के सफल उपन्यासकार थे, उस प्रकार समाजवाद का भी कोई उपन्यासकार अभी तक हिन्दी में नहीं आया, किन्तु इस दिशा में आबाद करने के लिए तो अभी ज़मीन ही बन रही है, जब कि गांधीवाद के लिये बुद्ध और ईसा के समय से ही बृहत् पृष्ठिका प्राप्त है। उचित भूमि पा जाने पर समाजवादी साहित्य भी नाना रूप में फले-फूलेगा।

ऐसा लगता है कि आज की महार्घता में पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं की संस्कृति और सभ्यता ने अपने अब तक के तत्त्वों का निचोड़ (सत्त) गांधीवाद और समाजवाद के रूप में उपस्थित कर दिया है। हम देखें कि ये सत्त या सत्य हमारे समाज के लिए और समाज के कारण हमारे साहित्य के लिए कहाँ तक जीवनप्रद है। यों तो गांधीवाद और समाजवाद की उपयोगिता आँकने के लिए अथवा अब तक के इतिहासों और इतिहासों की सफलता-असफलता को स्पष्ट करने के लिए बृहत् विवरण चाहिए। परन्तु हम अपने वर्त्तमान प्रत्यक्ष जीवन को ही लेकर देखें जिसमें इतिहासों के परिणाम जलवायु की तरह घुले-मिले हैं। पूर्व और पश्चिम की विभिन्न दिशाओं से इतिहासों की विभिन्न धाराएँ बहकर भी वर्तमान के संगम पर एक ही निनाद उठा रही है। अब तक हम युद्धक्षेत्र में ही चीत्कार सुनते आये हैं, आज जीवन के पुलिन-पुलिन पर हाहाकार सुनाई पड़ता है। सच तो यह है कि अनवरत संघर्ष ही अब तक का

ऐतिहासिक जीवन रहा है। पहले साम्राज्य लड़ते थे अब उनकी विडम्बनाओं के परिणाम-स्वरूप वर्ग-युद्ध भी सजग हो गया है।

समय-समय पर प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र, न जाने और कौन-कौन से तन्त्र-मन्त्र जनता को सन्तुष्ट करने के लिए सिद्ध किये गये। किन्तु यह सब छलावा था, जनता को भुलाये रखने के लिए। जिस उच्चवर्ग के द्वारा जीवन में विषमता आ गई है, उसके अहंकार-पूर्ण स्वार्थ स्थिर ही रहे, तन्त्र-मन्त्र तो उन स्वार्थों की निश्चिन्त सुरक्षा के लिए मोहक प्रयत्न थे, पुरानी शोषण-नीति के ही नवीन सुलभ संस्करण थे। देवता के मन्दिर में मोहनभोग की तरह जीवन की नियामतें कुछ परिमित मूर्तियों और पंडों के लिए ही सुरक्षित रहती आई हैं, बाक़ी लोगों को भाग्य और ईश्वर के भरोसे ज़िन्दगी के दिन काटने पड़े हैं। यदि कभी कुछ मिल गया तो ईश्वर की दया, यदि न मिला तो भाग्य की अकृपा अथवा पूर्व जन्म के कर्मों का कुफल! किन्तु ईश्वर, धर्म और भाग्य ऐसे निरंकुश-निर्दय नहीं हैं, जैसे कि समाज के धनीधोरी वर्ग। इनके द्वारा परिचालित समाज जैसा है, ईश्वर, धर्म और भाग्य उसी के परिणाम का एरेंजमेंट कर देते हैं। ईश्वर, धर्म्म, भाग्य (अभिशाप और वरदान) सत्य हैं। किन्तु इनके बीच से एक और बड़ा सत्य खो गया है—मानव का परस्पर स्नेह-सहयोग। समाज ने अपनी सहज सहृदयता का स्नेह-सूत्र छिन्न-भिन्न कर दिया है। यदि पीड़ित मानव सुखी नहीं हो पाता तो समझना होगा कि समाज ही ग़लत

है। हमें उसके नवीन नियमन के लिए सचेष्ट होना है। इसी सचेष्टता के लिए समाजवाद सम्प्रति ईश्वर, धर्म और भाग्य का भी विरोधी है, ताकि अकारण की ओर ध्यान न देकर पीड़ित वर्ग वास्तविक कारण की ओर एकाग्र हो। ईश्वर, धर्म और भाग्य के नाम पर ही तो उच्चवर्ग निम्नवर्ग को वास्तविकता की ओर से भुलाये रहा। पीड़ित वर्ग जब इस भुलावे से बाहर आयेगा तभी वह ईश्वर और धर्म की ठीक ठीक उपासना कर सकेगा। अभी तो आध्यात्मिकता और पार्थिवता दोनों ही विडम्बित हैं, उन्हें ठीक रूप देने के लिए ही गांधीवाद और समाजवाद हैं। मैं जब गांधीवाद कहता हूँ तब अपनी माँ-बहिनों के अंचल में पली हुई संस्कृति की याद दिलाता हूँ और जब समाजवाद कहता हूँ तब समूह-विशेष की स्वेच्छाचारिता से परे जीवन-यात्रा के साधनों के सर्वसुलभ होने की आवाज़ उठाता हूँ।

आज जीवन दुष्काल-पीड़ित है, फलतः हम पग-पग पर अपनी आत्मा को कन्या-विक्रय की भाँति ही बेच बेचकर किसी तरह गुजर-बसर कर रहे हैं। सच तो यह है कि सम्पन्नवर्ग के पैशाचिक सुखों के लिये हम सभी का जीवन वेश्या बन गया है, सौन्दर्य बेचनेवाली वेश्याएँ तो हमारी ढँकी हुई सामाजिक परिस्थितियों की बाहरी साइनबोर्ड मात्र हैं। अब तक का सामाजिक और राज-नैतिक इतिहास युगों की हमारी कुरूपताओं का अलबम है। अब

तक की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के स्पष्टीकरण के लिए मोटी मोटी पोथियों और बड़ी बड़ी गवेषणाओं को उतनी जरूरत नहीं है जितनी अपने सामने के साक्षात् दृष्टान्तों को देख लेने की। समाज में जब तक एक भी वेश्या है और राजनीति में जब तक तनिक भी साम्प्रदायिक विद्वेष है तब तक हमें यही समझना चाहिये कि पैशाचिक समाज और पाशविक राजनीति का अभी युगान्त नहीं हुआ है। वेश्यायें और साम्प्रदायिक विद्वेषी हमारी प्रगति के पथ में लाल लालटेन हैं। जब तक हम समाज और राजनीति की बुनियादी कमजोरियों को ठीक नहीं कर लेते, तब तक हमें आगे के लिए उन्मुक्त पथ नहीं मिल सकता।

अब तक अज्ञान के वातावरण में साधारण वर्ग दुःख सहता आया है, एक मूढ़ दार्शनिक की तरह; उच्चवर्ग स्वर्गीय सुख प्राप्त करता आया है, एक कूटनीतिज्ञ की तरह। इस मूढ़ता और कूटनीतिज्ञता के बीच मुमूर्ष मानवता का जागरण ही समाज-वाद और गांधीवाद है। समाजवाद ने हमारे दुःखों का वैज्ञानिक कारण बतलाया, उसने हमें सामाजिक विवेक प्रदान किया। गांधी-वाद ने ईश्वर, धर्म और भाग्य का समुचित स्वरूप बतलाया, हमें आध्यात्मिक बल प्रदान किया। इस प्रकार गांधीवाद यदि पौरा-णिक शोधक है तो समाजवाद ऐतिहासिक तत्त्वान्वेषक। गांधीवाद सत्य को उसके मूलरूप (आदर्श) में उपस्थित करता है; समाजवाद उस मूलरूप की ऐतिहासिक विकृतियों (यथार्थ) को प्रकट करता

[illegible]

[illegible] गान्धीवाद और समाजवाद अपने अपने दायरे में काव्य और विज्ञान के युग-प्रतिनिधि हैं।

आज जिस प्रकार छायावाद के लिए नागविरोध हो गया है, उसी प्रकार गान्धीवाद के लिए भी। ये दोनों मानव-हृदय के शाश्वत सत्यों पर निर्भर रहकर भी बाह्य परिस्थितियों को निमूर्ल करने में असमर्थ हैं। इसमें आध्यात्मिक ज्ञान है किन्तु मनोविज्ञान नहीं। पिछले युगों का जो संसार चला आ रहा है ये उसी के हर्ष-विषाद के नियोजक हैं। गत युगों का हर्ष हमारा गान बना हुआ है, गत युगों का विषाद ऐतिहासिक अत्याचारों का प्रमाण। आज का पीड़ित संसार जिन युगों के अत्याचारों का परिणाम है उनके गानों पर भी हमारा विश्वास नहीं रह गया है। उन गानों में जीवन का निर्दोष संगीत होते हुए भी नवीन संसार उसमें मृग की भाँति बधिक का ही स्वर सुनता है। अतीत का हर्षोत्फुल्ल गान आज के संसार के लिए बहुत महँगा पड़ा है, उसके मीठे स्वरों पर लक्ष-लक्ष जीवन का बलिदान देना पड़ा है।

जो इतिहास पौराणिक आदर्शों का पैशाचिक रूप बन गया है, जिसने देवताओं के शस्त्र (शास्त्र) लेकर मानव-समाज का वध किया है, आज समाजवाद उसी इतिहास का वागी है। कितनी ही शताब्दियों से हमारे जीवन में जो ऐतिहासिक व्यवधान आ गये हैं, समाजवाद उसी व्यवधान का तिरोधान करना चाहता है।

गांधीवाद इस ऐतिहासिक व्यवधान को बिना पार किये ही 'राम-राज्य' में चला जाना चाहता है। मेरे जैसा पौराणिक संस्कारों में पला हुआ व्यक्ति यह चाहेगा कि 'राम-राज्य' अवश्य स्थापित हो। किन्तु इतिहास बताता है कि सदियों से संसार के ऊपर 'रावण-राज्य' शासन करता आ रहा है—'जिमि दशनन महँ जीभ बेचारी' की तरह निम्नवर्ग के भीतर से जो प्राणी अब भी बचे-खुचे चले आ रहे हैं उन्होंने ही आज समाजवाद के रूप में उस रावण-राज्य के विरुद्ध त्राहि-त्राहि की है। हमारी अब तक की भक्ति, अब तक की कला, अब तक का साहित्य और संगीत, यह सब कुछ रावण-वंशीय है। जिस प्रकार प्रभुता के गर्वीले प्रासादों में निरीह शिशु कंठ भी सुनाई पड़ता है उसी प्रकार उस रावणीय माया-विस्तार में छायावाद, रहस्यवाद का स्वर उन परमहंसों के अन्तःकरण से उद्‌गीर्ण होता आया है जिन्होंने पृथ्वी पर परमात्मा की प्रजा होकर जन्म लिया, न कि अपनी ऐन्द्रिक दुर्बलताओं से राजशक्तियों से शोसित होकर। आज की परिस्थितियों में गांधीवाद भी वही निर्विकार कंठ है। हम उसे प्यार कर सकते हैं, किन्तु साथ ही यह भी नहीं भूलेंगे कि इस कंठ का स्वर अपने में निर्दोष होते हुए भी बहिर्जगत् के ऐतिहासिक वातावरण का व्यतिक्रम नहीं कर सकता। विषैले गैस से घिरे हुए वातावरण में धूपायन अपना सौरभ नहीं बगरा सकता। उस विषाक्त वातावरण को मिटा देना समाजवाद का काम है।

असल बात यह है कि आज का संसार अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के दीर्घकालीन दुरुपयोग का दुष्परिणाम भोग रहा है। 'जग पीड़ित है अति दुख से, जग पीड़ित रे अति सुख से'— यह अति सुख-दुख अर्थ और काम के असन्तुलित उपभोग का परिणाम है। कहीं कंगाली और कामुकता है तो कहीं ऐश्वर्य और विलासिता। समाजवाद का प्रयत्न कुछ इस प्रकार का है कि काम और अर्थ के उपभोग में सब एक समान हों, चाहे वह जिस सीमा पर हो, वह सीमा सबके लिए एक समान हो। उसमें संतुलन है, संयमन नहीं। उसमें मैटर और मीटर है किन्तु यति नहीं, जिसके कारण जीवन का गति-भंग संभव है। गांधीवाद ही उसे यति का बोध दे सकता है। गांधीवाद जीवन के पद-निक्षेप के लिए संयमन को अपनाता है, यहीं उसकी आध्यात्मिकता जगती है। समाजवाद का संयम-हीन उपभोग मनुष्य को समान पशुता की ओर ले जा सकता है। अब तक मनुष्य छोटा और बड़ा पशु रहा है, समाजवाद इसी छोटी-बड़ी पशुता को एक सीमा या एक स्तर पर पहुँचा रहा है। साथ ही गांधीवाद का निरा संयम कुछ साधकों का ही श्रेय बन सकता है। दूसरे शब्दों में यों कहें कि समाजवाद और गांधीवाद के पृथक् पृथक् प्रयत्नों के फल-स्वरूप संसार एक क़दम भी आगे नहीं जा सकता। समाजवाद द्वारा पाशव वृत्तियाँ समान उपभोग पायेंगी और गांधीवाद द्वारा साधकों का संसार सदा की भाँति

अलग पड़ा रहेगा, लोक-जीवन में व्याप्त नहीं होगा। आवश्यकता यह जान पड़ती है कि समाजवाद और गांधीवाद के सम्मेलन से नवीन संसार का निर्माण हो। अर्थ और काम (भौतिक पहलू) के साथ धर्म और मोक्ष के (आध्यात्मिक पहलू) का योग होने से ही मानवता की परिपूर्ण सृष्टि हो सकेगी। इस प्रकार समाजवाद द्वारा हम पार्थिव उपभोगों को सर्वसुलभ कर सकेंगे और गांधीवाद द्वारा उसे पाशविक नहीं बल्कि मानवीय उपभोग बना सकेंगे। लक्ष्य और उपलक्ष्य की तरह गांधीवाद और समाजवाद को परस्पर सम्बद्ध होना है। जीवन में हम जो यह सम्बद्धता, यह संयोजन चाहते हैं, वही साहित्य में भी। यहाँ उसे हम समाजवाद और गांधीवाद न कहकर यथार्थवाद और आदर्शवाद कहते हैं। इनके संयोजन के बिना अलग अलग वादों का साहित्य कैसा लगता है? देवता और पशु का, मनुष्य का नहीं। मानव-साहित्य दोनों के संयोजन से बनेगा, अर्थात् समाजवाद और गांधीवाद के एकीकरण से।

[२]

आज हमारे सामने दो संसार हैं—एक पौराणिक, दूसरा ऐतिहासिक। पौराणिक जगत् किसी अतीत संगीत की भाँति कहीं बहुत दूर अपनी क्षीण प्रतिध्वनि में विलीन हो रहा है। आकाश तट पर डूबते हुए नक्षत्र जैसी उसकी एक झलक जिसने देख ली है, वह अपने आदर्शों में उसकी दिव्यता और उज्ज्वलता

का स्वप्न देख रहा है। सार्वजनिक क्षेत्र में महात्मा गांधी और साहित्य-क्षेत्र में कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर वही स्वप्न-द्रष्टा हैं। किन्तु अतीत और भविष्य अगोचर है, वर्तमान दृग्गोचर। अतएव हम अपने सामने वर्तमान ऐतिहासिक संसार को ही देख रहे हैं। भूत और भविष्य हमारे विश्वास हैं, परिश्रान्त वास्तविकता के बीच एक स्वप्न-काव्य; किन्तु वर्तमान हमारे जीवन की साँस-साँस में गद्य होकर समाया हुआ है। किसी घटनापूर्ण सनसनीदार नाटक की भाँति वर्तमान हमारे सामने प्रत्यक्ष है—वही प्रतिदिन की हाय-हाय, वही अत्याचार, उत्पात, राग-द्वेष, द्वन्द्व-कलह, छीन-झपट, मिहनत-मजदूरी, आराम-बेराम। यही है हमारा ऐतिहासिक जीवन। और हम आश्चर्यपूर्वक देख सकते हैं कि ऐतिहासिक जीवन में हमारे साहित्य और समाज ने उन्नति नहीं की है, उसने उन्नति की है अपने पौराणिक जीवन में। श्रीमद्‌भगवत् गीता, बाइबिल और कुरान आज भी जीवन और साहित्य के प्रेरक हैं। यह दूसरी बात है कि ऐतिहासिक जीवन में हमने इनका दुरुपयोग किया है। इसी लिए तो हमने शुरू ही में कहा है कि ऐतिहासिक काल की नियामतों ने अपने आसुरी स्वार्थों के लिए देवताओं के शस्त्र लेकर मनुष्यों का वध किया है।

मनुष्य स्वप्नों को पाथेय बनाकर ही कठिन जीवनपथ में अग्रसर होता है। पौराणिक समाज ही ऐतिहासिक समाज का पाथेय था, यद्यपि उसने अपने विषैले दाँतों से इस पाथेय को

भी विषाक्त बना लिया। ज्यों ज्यों स्वप्नों का स्वच्छ वायवीय वातावरण विषाक्त होता गया, त्यों त्यों जीवन और साहित्य का ह्रास होता गया, प्रधान होता गया शासन और शस्त्र। इस दिशा में उन्नति करते करते मनुष्य बर्बर जंगली जातियों का शिक्षित राजनैतिक संस्करण हो गया है। ऐसे विकट दुर्द्धर्ष युग में साहित्य और कला का भविष्य क्या है? सचमुच भविष्य ही पूछना पड़ रहा है, वर्तमान तो तिमिराच्छन्न हो गया है। वर्तमान वीभत्स परिस्थितियों में साहित्य और कला दावानल में पुष्पलताओं की भाँति निष्प्रभ है। इस समय प्रधान है विज्ञान। विज्ञान के प्राधान्य ने साहित्य के अस्तित्व को स्वप्नवत् कर दिया है। वैज्ञानिक विभीषिकाओं ने जिस युद्धभूमि की रचना कर दी है, उसके निष्कर्ष पर ही साहित्य का भविष्य निर्भर है। सम्प्रति गांधीवाद और समाजवाद ही साहित्य के जीवित दृष्टिकोण हैं, उन आभ्यन्तरिक दूषणों को दूर करने के लिए जिनके वाह्य परिणाम वैज्ञानिक साधनों में राजनीतिक विडम्बनाएँ हैं।

साहित्य और संसार यदि आज युद्ध-वश अवरुद्ध है तो इसके माने यह कि इस समय यह एक स्थायी समस्या के समाधान में लगा हुआ है। गांधीवाद और समाजवाद शाश्वत मानव-जीवन के प्रयत्न हैं। तात्कालिक परिस्थितियाँ उनका मार्गावरोध किये हुए हैं। आज जीवन और मृत्यु के वीच द्वन्द्व चल रहा है। जीवन के विजयी होने पर साहित्य एक प्रशस्त क्षेत्र पा जायगा और तब इसके प्रत्येक पग

(प्रगति) में नवीनता ही नवीनता रहेगी। यदि फ़िलहाल किसी को वर्तमान साहित्य नवीनता-विहीन लगता है तो इसके माने यह कि उसने साहित्य को एक सस्ती नवीनता की ही चीज़ समझ रखा है। उस नवीनता का अभिप्राय पुरानी कलाबाज़ी के नये करिश्मे से है। इस रुचि ने जीवन की ऐतिहासिक गम्भीरता में साहित्य पर विचार नहीं किया है।

युद्ध के बाद की पृथ्वी की नई मिट्टी पर जो नई पीढ़ी खड़ी होगी वही ठीक ठीक नये संसार और नये साहित्य की रचना करेगी। भावी पीढ़ी ही अब तक के संसार का सिंहावलोकन कर, सारांश को ग्रहण कर, जीवन और साहित्य का तात्त्विक संदेश देश देश में उद्घोषित करेगी। भविष्य के मंत्रदाता राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक नहीं, बल्कि नवयुवक साहित्यिक होंगे। विश्व की एक प्रजा के नाते जीवन के प्रति मोहासक्त होकर संसार के हानि-लाभ को अपना हानि-लाभ समझ जब वे स्रष्टा बनेंगे, तब प्रजा के ऊपर शासन करनेवाले कोरे शासकों की अपेक्षा वे कहीं अधिक कल्याणकारी होंगे। आज साहित्य पर जैसे राजनीतिक सेन्सर है, उसी प्रकार एक दिन राजनीति पर साहित्यिक सेन्सर हावी होगा। राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों को साहित्यिकों (जीवन के जागरूक प्रतिनिधियों) की मन्त्रणा लेकर चलना पड़ेगा। उस समय एक साहित्यिक का महत्त्व किसी डिक्टेटर या राष्ट्रपति से कहीं अधिक होगा।

भावी साहित्यिक जब जनता में नवीन समाज की रचना करेंगे, तब वे अब तक के परिणामों को देखकर अधिक ठोस रचनाएँ देंगे। उस भावी रचना में आज के साहित्यिकों की कौन कौन सी रूप-रेखाएँ अङ्गीकृत होंगी, यह देखने का सौभाग्य हमें मिले या न मिले, किन्तु हमारा उत्तरदायित्व गुरुतर है, इसमें सन्देह नहीं। हमारी भावी पीढ़ी हमसे भी कुछ पा सके इसकी ओर यदि हम प्रयत्नशील न रहेंगे तो आनेवाला युग कहेगा कि राजनीतिज्ञों की भाँति ही उस युग (आज के वर्तमान युग) के साहित्यिक भी ऐसे-वैसे ही थे।

चाहे समाजवाद हो या गांधीवाद, चाहे राजतन्त्र हो या प्रजातन्त्र, मनुष्य के जीवन में सबजेक्टिव रूप से सुख और दुख तो सदैव रहेंगे ही। सुख और दुख के बिना जीवन कैसा? उन्हीं के बीच तो हमें सामाजिकता प्राप्त होती है और उन्हीं के बीच जीवन की साधना जगती है। किन्तु ऑबजेक्टिव कारणों से उत्पन्न सुख-दुख विषम ज्वर के समान है, वह अस्वाभाविक है। स्वस्थ मनोवेदना जीवन को शक्ति देती है, इञ्जन की अग्नि की तरह; किन्तु यह अस्वस्थ सुख-दुख (जो अब युद्ध के कारण महाज्वर बन गया है) हमें भस्मीभूत किये दे रहा है। इस ज्वराक्रान्त अवस्था को दूर करना होगा। हमारा अब तक का जीवन और साहित्य ऐसी ही अस्वस्थता की कराल छाया में पला है। आज के साहित्य का प्रगतिवादी स्वर इसी अस्वस्थता के प्रति जेहाद है।

जीवन की वर्तमान महार्घता में हम राजनीति की शरण में हैं सम्प्रति अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए राजनीति को व्यवस्थित करने में ही साहित्य संलग्न है। ऐसे समय में हमारे पिछड़े कलाविदों का साहित्य मरघट में बाँसुरी की तान छेड़ने जैसा है। उचित स्थान पर बाँसुरी की तान की भी अपनी एक समाँ है किन्तु जीवन की आसन्न समस्याओं से विमुख हो रणक्षेत्र में यह रासलीला कैसी ?

तो सम्प्रति हम राजनीति की शरण में हैं, किन्तु क्या कभी साहित्यिकों का प्रभुत्व न होगा ? साहित्य क्या राजनीति का अनुगामी ही रहेगा ? उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। बात असल में यह है कि जीवन रह ही नहीं गया है, संसार श्मशान बना हुआ है! जब जीवन ही नहीं तो साहित्य कहाँ ? जीवन ही को जुगोने के लिए हम सम्प्रति राजनीति की शरण में गये हैं, क्योंकि युगों से जीवन उसी के हाथों में बन्धक है। गांधीवाद, समाजवाद अथवा मानववाद उसी बन्धक को छुड़ाने के लिए हैं। साहित्य में जो आदान-प्रदान चलता है वह राजनीति के बन्धन से जीवन के रत्नों को मुक्त कर। हम अब तक के राजनीतिक संसार से अपने जीवन के रत्न लेंगे और उन्हें धारण करने के लिए नवीन शरीर (भावी समाज) देंगे। जीवन के रत्नों (भाव, कला और विज्ञान) में जो दाग (पूँजीवादी अभिशाप) लगे हुए हैं उन्हें ही आज की तीक्ष्ण परिस्थितियाँ परिष्कृत कर रही हैं। इस कठिन परिष्करण से जो अलङ्करण शेष रह जायगा वह निःसन्देह भविष्य के समाज और साहित्य का जीवन-धन होगा।

प्रगति की ओर

हमारे साहित्य में इधर मुक्तक कविताओं की ही प्रचुरता है। गीतिकाव्य के प्रचार ने तो यह सूचित कर दिया है कि वर्तमान युग इतना आक्रांत है कि जीवन के नन्हे नन्हे क्षणों में भाव-बिन्दुओं से ही भावुक-समाज अपने तप्त हृदय को छींटे देकर शीतल विश्राम देना चाहता है। कोई जमाना था जब 'कथासरित्सागर' और 'सहस्त्ररजनीचरित्र' जैसी सुदीर्घ कहानियाँ अनेक रात्रि-दिवसों तक श्रोताओं के बीच अटूट चला करती थीं। वह साहित्य पौराणिक युग के ठेठ रसिक-समाज का था। ऐतिहासिक मनुष्य-समाज ने भी कला के नये साज में पौराणिक जगत् को महाकाव्यों और खण्डकाव्यों में आदर्शवत् अपनाया। किन्तु ज्यों ज्यों अतीत से हमारा साथ छूटता गया और वर्तमान की समस्याओं से मनोवेदन बढ़ता गया, त्यों त्यों साहित्य अपने ही युग का दर्पण होकर प्रकट होने लगा। इसी परवर्ती काल में आधुनिक उपन्यास और नाटक प्रकाशित हुए, हमारे यहाँ जिसके प्रमुख कलाकार हैं श्री प्रेमचन्द। जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप से वर्तमान युग की सदस्यता स्वीकार नहीं की उन्होंने भी ऐतिहासिक अतीत का आधार लेकर परोक्ष रूप से वर्तमान् जगत् की भावनाओं का साथ दिया, अर्थात् अपने को

स्थानान्तरित कर दूर से वर्तमान युग को अपनी उपस्थिति दी। ऐसे कलाकारों में प्रत्यक्ष जगत् की साधना नहीं थी; मानसिक जगत् में उन्हें अतीत-कल्पना का निर्विघ्न सुख ही अभीष्ट था। हमारे यहाँ प्रसादजी ऐसे ही कलाकारों में से थे, अपने ऐतिहासिक नाटकों द्वारा। अवश्य ही, बाद में उन्होंने सामाजिक उपन्यास भी लिखे, जिससे यह सूचित होता है कि वर्तमान युग अपनी समस्याओं से इतना दिग्ध है कि कलाकार का उससे तटस्थ होना सम्भव नहीं रह जाता। यही स्थिति गुप्तजी के कलाकार की भी रही। फलतः वे एकदम पौराणिक काल से अपना प्रारम्भ कर भूतकालीन (मध्यकालीन) और वर्तमानकालीन (असहयोगकालीन) ऐतिहासिक जगत् में आये।

हमारे साहित्य की ये बृहत् रचनाएँ द्विवेदी-युग के स्वास्थ्य की देन हैं। परिस्थितियों के कठिन आघात में ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय स्वास्थ्य का ह्रास होता गया, त्यों-त्यों कला की रचनाएँ भी संक्षिप्त, साथ ही बूँद में ही बाड़व का दाह होकर प्रकट होने लगीं। उपन्यासों के बजाय छोटी कहानियाँ, महाकाव्यों और खण्ड-काव्यों के बजाय संगीत-कविताएँ, इसी परिवर्तित स्वास्थ्य की सूचक हैं।

नई पीढ़ी के नवयुवकों में से जो अँगरेजी साहित्य के सम्पर्क में आये वे साहित्य-रचना में द्विवेदी-युग से भिन्न हो गये। किन्तु जिनका जीवन ठेठ भारतीय संस्कारों में ही पला वे द्विवेदी-युग के

ही प्रतीक बने रहे। अतएव एकदम नई पीढ़ी में जहाँ हम पन्त, प्रसाद और महादेवी स्कूल के कवि पाते हैं वहाँ गुप्त और हरिऔध के स्कूल के भी।

द्विवेदी-युग का स्वास्थ्य मुख्यतः शारीरिक था। मध्ययुग में ब्रजभाषा के कवियों का स्वास्थ्य भी शारीरिक ही था, इसी लिए उनमें शारीरिक माधुर्य प्रकट हुआ। द्विवेदी-युग ने परिस्थितियों के निरूपण से उसी शारीरिक स्वास्थ्य के ओज को जागरूक किया। जिस प्रकार द्विवेदी-युग मध्ययुग की विपरीत दिशा में चला, उसी प्रकार छायावाद भी द्विवेदी-युग से विपरीत दिशा में। छायावाद ने मानसिक स्वास्थ्य को ग्रहण किया, उसने काव्य में सूक्ष्म भाव-शरीरों की सृष्टि की। मध्य युग के सन्तों ने भी अपने साहित्य में यही मानसिक स्वास्थ्य दिया था, किन्तु जिस प्रकार द्विवेदी-युग ने शृङ्गार-काव्य के शारीरिक स्वास्थ्य को भिन्न दिशा (राष्ट्रीय और सामाजिक क्षेत्र) में मोड़ दिया, उसी प्रकार छायावाद ने भक्तिकाव्य के मानसिक स्वास्थ्य को विराग की दिशा से अनुराग की दिशा में उन्मुख कर दिया। द्विवेदी-युग ने जिस प्रकार भक्ति-युग के मानसिक स्वास्थ्य को भी लिया, (यथा, 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' में), उसी प्रकार छायावाद ने शारीरिक स्वास्थ्य (शारीरिक अभिव्यक्ति) को भी (यथा, 'ग्रन्थि' और 'निशीथ' में)। फिर भी दोनों युगों के काव्यों में यह अन्तर तो है ही कि छायावाद में- अन्तःशरीर (मानसिक जगत्)

प्रधान है, द्विवेदी-युग में बाह्य शरीर (बहिर्जगत्)। तदनुरूप दोनों की काव्य-सृष्टियों में भी अन्तर है—छायावाद भाव-प्रधान है, द्विवेदी-युग वस्तु-प्रधान।

किन्तु द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के बाद अब हम एक तीसरे युग को देखते हैं, यह है प्रकाश-युग। ब्रजभाषा के माधुर्य के परे जिस प्रकार द्विवेदी-युग ओज को लेकर चला, उसी प्रकार छायावाद की मधुरता के परे यह युग पीड़ितों के पौरुष को लेकर चला है। इस तीसरे युग की कविता मनुष्य के अस्तित्व के लिए विकल है, (यथा, पन्त की 'युगवाणी' में)। जिन महार्घताओं के कारण मनुष्य का अस्तित्व दिवालिया हो गया है, उन्हीं के निराकरण के लिए उचित वैज्ञानिक नियोजन वर्तमान साहित्य की मानवीय आकांक्षा है।

हाँ, इस नई आवाज़ में अभी मधुरता नहीं आ पाई है। जिस कराल वास्तविकता के विरुद्ध हमें चीत्कार करना है उसमें वीणा की झंकार सुनी भी नहीं जा सकती। त्रस्त विहंगों का कलरव तो विकल रव ही बन जाता है न! मधुरता के लिए ज़रा प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। जिस छायावाद की मधुरता से हम अब तक परिचित रहे हैं, वह कुछ दिनों या कुछ वर्षों की निष्पत्ति नहीं है, उसके बैकग्राउंड में युगों का ऐतिहासिक समाज है। युगों से रोते-गाते जिन मध्ययुगीय परिस्थितियों में हमारा भाव-जगत् निखरता आया है, छायावाद उसी का काव्योत्कर्ष है।

अब तक काव्य के भावमय स्वप्नों में हम इतिहास की वास्तविकता से आँख चुराते रहे हैं। सामाजिक जीवन में हम ऐतिहासिक वास्तविकताओं के भुक्तभोगी रहे और साहित्यिक जीवन में एक मादक विस्मृति में अपने को भुलाते रहे। किन्तु ऐतिहासिक वास्तविकताओं की भुक्ति अब इतनी निदारुण हो गई है कि आज दिशा-दिशा में त्राहि-त्राहि है। जिस भाव-जगत् की मदिरा में हम अपने को भूलते आये हैं, उसी का वास्तविक जगत् आज का विकट विश्व है। जब एक वस्तुजगत् अप्रीतिकर हो जाता है तब उसका भावजगत् भी अरुचिकर हो जाता है। यही हाल अब तक के इतिहास, समाज और साहित्य का हो गया है।

मध्ययुग का संसार ही अपनी उन्नति करता हुआ बीसवीं शताब्दी के वर्तमान साम्राज्यवादी जगत् तक पहुँचा है। यह एक प्रश्न है कि मध्ययुग में ही साहित्य अपने वस्तु-जगत् और काव्य-जगत् के प्रति असन्तुष्ट क्यों न हो गया? इसका उत्तर यह कि तब तक का संसार इतने बृहत् और विकराल रूप में हमारे सामने स्पष्ट नहीं हुआ था। उस समय भी दुःख था, पीड़न था, दलन था, वैषम्य था। जो कुछ भी था उसका ठीक निदान हमने नहीं जाना था, कारण वस्तु-स्थिति को ही हमने ठीक-ठीक नहीं जान पाया था। स्थिति के वैषम्य में उस समय राज्य, राज्य के साथ; धर्म, धर्म के साथ लड़ता था। फिर भी स्थिति में अन्तर नहीं पड़ता था। वही शोषण और अरण्य-रोदन बना हुआ था।

किसी जमाने में एक सामाजिक व्यवस्था बनी थी और धर्म के अनुशासन में परिचालित हुई थी। किन्तु जिस सामाजिक व्यवस्था के नियमन के लिए धर्म अनुशासक बना था वह धर्म तो रूढ़िमात्र रह गया, प्रधान हो गया पूँजीवाद के हाथों में अर्थ। वही अर्थ आज अनर्थ की सीमा पर पहुँच गया है। आज स्थिति यह है कि एक ओर पूँजीवाद द्वारा सुरक्षित लोग तो साहित्य, समाज और राजनीति में अपना वही आलाप अलापते जा रहे हैं, दूसरी ओर जिनके हृदय में पीड़न है, कण्ठ में क्रन्दन है, वे उस पुराने स्वर से अपना स्वर-विच्छेद कर रहे हैं।

हाँ, तो आज कविता में जो नई आवाज़ सुनाई दे रही है वह मधुर नहीं है, उसमें संगीत नहीं है, वह तो गद्य से भी अधिक रूक्ष है। किन्तु यही गद्य जब धीरे धीरे निखरेगा तब उसका संगीत कल के स्वर से कहीं अधिक मर्मभेदक और स्थायी होगा। आज जिसे माधुर्य कहते हैं वह क्लासिकल युग का जादू टोना मात्र रह जायगा। अब तक का संगीत तो न जाने कितने काव्यों, खण्डकाव्यों, महाकाव्यों के बाद का सत्त है, सुदीर्घ प्रयासों का निचोड़ है। इसी तरह नई आवाज़ को भी अपनी अन्तिम मनोहर परिणति तक पहुँचने के लिए अभी समय अपेक्षित है। अभी तो युग की वाणी का गद्य बन रहा है, फिर काव्य बनेगा, तदुपरान्त उसमें संगीत (गीतिकाव्य) भी सुनाई पड़ेगा। इस प्रकार युग की प्रगति के साथ-साथ वाणी की भी प्रगति होगी ही। फिर निराशा क्यों?

हिन्दी-कविता में उलट-फेर

जिस प्रकार मध्यकाल की कविता-लता द्विवेदी-युग में देश, काल और साहित्य की नवीन आवश्यकताओं के फलस्वरूप झर गई, उसी प्रकार द्विवेदी-युग की कविता छायावाद के उत्कर्ष पर पहुँचकर फिर नवीन आवश्यकताओं के फल-स्वरूप अतीत होने को है। आज हिन्दी-कविता पुनर्जन्म के लिए विवश है। भाषा की राष्ट्रीय सुबोधता और अभिव्यक्ति की दैनिक स्वाभाविकता, ये दो बातें कविता को नवीन कला-स्वरूप ग्रहण करने के लिए प्रेरित तो कर ही रही हैं, इनके अतिरिक्त एक और बड़ी प्रेरणा भावों के दिशा-परिवर्त्तन की भी मिल गई है।

हमारा कल तक का संसार मध्ययुग का ही विकास है, यों कहें, वह सम्पन्नवर्ग-द्वारा अनुशासित जीवन का ही अथ-इति है। राजदरबार में जिस प्रकार राजा के सुख-दुख से ही वहाँ के लोग हर्षित विमर्षित होते है, और वह सुख-दुख समूह का न होकर समूह के छत्रपति मात्र का ही होता है, उसी प्रकार हमारे काव्य में छायावाद के उठान तक जो सुख-दुख चला आया है वह जनवर्ग का सुख-दुख न होकर कुछ सीमित व्यक्तियों का राजसी अभ्यास रहा है। राजा के मुकुट की तरह उसमें भी एक कला है, किन्तु

इसमें उस बहुसंख्य मानव-जगत् का सत्य नहीं है जहाँ बहनें सेवा-शुश्रूषा के अभाव में मर जाती हैं, भाई माँ के दूध के अभाव में काल-कवलित हो जाते हैं और युवक जीवन के शत शत अभावों से दंशित होकर अकालवृद्ध हो जाते हैं।

अब तक हम भाव पर ज़ोर देते आये हैं, भाव की बारीकियों पर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से भी अधिक सजगता से हमारी आँखें गड़ जाती रही हैं। काश, इसी प्रकार अभावों पर भी हमारी दृष्टि जाती, तब शायद एक का दुःख दूसरे के सुख से छिपा नहीं रहता, तब शायद पृथ्वी पर इतना रौरव-क्रन्दन नहीं सुनाई पड़ता। आज हमें अपने साहित्य के भीतर से ही नवीन मानवता के दृष्टिकोण को स्थापित करना है, क्योंकि अब तक का दृष्टिकोण उसी के द्वारा समाज के स्तर-स्तर में प्रसरित हुआ है।

पुराने संसार से उलाहना यह है कि उसने सम्पन्नवर्ग के तत्त्वावधान में आत्मिक और शारीरिक भाव-सौन्दर्य में अपने को भुला दिया, किन्तु अपनी या जनवर्ग की वास्तविक फटी हालत को नहीं देखा। यदि वह जनवर्ग की फटी हालत के भीतर से भक्ति और शृंगार को लेकर आता तो उसकी भक्ति और शृंगार में उसके तन मन की भूख प्यास और भी मर्मभेदी हो जाती। नवीन संसार (अभाव जगत्) इसी फटी हालत के भीतर से जन्म ले रहा है।

मध्ययुग की कविता जिस प्रकार द्विवेदी-युग के लिए आउट-आफ-डेट थी और जिस प्रकार द्विवेदी-युग की कविता छायावाद के

लिए, उसी प्रकार आज छायावाद भी नूतन संसार के लिए आउट-आफ-डेट होता जा रहा है। हम यह मानते हैं कि कविता कोई ऐसी सामयिक चीज नहीं है जिसका मूल्य केवल तात्कालिक हो। निःसन्देह उसका स्थायी महत्त्व भी है, लेकिन उसका स्थायित्व जीवन के निर्माण पर निर्भर करता है और जीवन का निर्माण इतिहास के परिवर्त्तन पर। अब तक का इतिहास दो खण्डों (शोषक और शोषित) में विभक्त रहा है, अखण्ड जीवन हमें मिला नहीं, इसी लिए हमारे कवि भावजगत् में ही अपने अभाव को विस्मृत करते रहे हैं, प्रत्यक्ष जगत् में वे भी राजा के सामने रङ्क थे अथवा किसी नृपति या धनपति के आश्रित। कहते हैं कि मध्यकाल की कविता दरबारी थी, किन्तु कविता का वह दरबारीपन छायावाद के समय तक भी नहीं मिटा। छायावाद तो उसी प्रकार के अभ्यस्त वातावरण में एक मानसिक स्वप्न है। उसमें राजा और राजकवि नहीं हैं, किन्तु उसमें जो कवि हैं वे उसी मध्यकालीन व्यवस्था से उत्पन्न सुख-दुख के परिणाम हैं। जिस प्रकार विगत कांग्रेसी सरकारें एक पराधीन-स्वतन्त्रता (राजतन्त्री प्रजातन्त्र) का उपभोग कर रही थीं उसी प्रकार छाया-वादी कवि मध्यकाल के इतिहास से प्रभावित जीवन का रस ले रहे हैं। रस उन्हें मिलता नहीं, अतएव वे हवा (कल्पना) में साँस लेकर अपने को जीवित रहने का धोखा देते हैं। उनकी कल्पना की सार्थकता यह हो सकती है कि जीवन के उत्कर्ष को

कहाँ तक पहुँचना है—यह उनसे सूचित हो। किन्तु वह उत्कर्ष जीवन में मूर्त हो, वह स्वप्न पृथ्वी पर साकार हो, इसके लिए भी प्रयत्नशील होना चाहिए। कब तक हम जीवन में वंचित होकर अपने को काव्य में रक्षित रख सकते हैं! हमें उन ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों को दूर करना होगा जिनके कारण स्वप्न, स्वप्न ही बने हुए हैं। पीड़ित मानव-समुदाय का नवीन प्रयत्न, जनवर्ग का नवीन जागरण, उन्हीं विघ्न-बाधाओं को पार करने के लिए है जिनके कारण जीवन हमारे लिए स्वप्न हो गया है। हम कवि से यह आशा नहीं करते कि वह भी राजनीतिक और सामाजिक नेता ही बन जाय (बन सके तो अच्छा), किन्तु उससे हम यह आशा जरूर करते हैं कि वह अखण्ड जीवन के लिए प्रयत्नशील मानवता के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर अपने स्वरों को नवीन अभ्यास दे, आत्मप्रवंचना छोड़कर अपने जीवन को नवीन प्रारम्भ दे। आदिम युग से लेकर अब तक का इतिहास और जीवन चाहे जो रहा हो, अब हम इतने लम्बे प्रयोग के बाद फिर से सृष्टि का श्रीगणेश करने जा रहे हैं। कवि को इसमें योग देना होगा, अन्यथा लोग उसकी कल्पनाओं को मिथ्या कहकर उसे पागल तो कहते ही हैं, नवीन सृष्टि में वह सचमुच पागल ही रह जायगा। युगों के बाद आज कवि को यह 'चान्स' मिला है कि वह अपनी कल्पनाओं को नवीन जगत् में मूर्तिमान होते दिखा दे।

हिन्दी कविता के प्राञ्जलतम कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने (जिन्होंने एक दिन खड़ी बोली की कविता के भाव और भाषा को चरम सौन्दर्य और माधुर्य प्रदान किया था) आज पिछले संसार से निकलकर हमारे साहित्य में नवीन जगत् का काव्य-प्रतिनिधित्व किया है। यह ठीक है कि उनके नवीन काव्य प्रयत्नों में भाषा और भाव का वह लालित्य नहीं है, किन्तु हम यह क्यों भूल जाते हैं कि वास्तविकता स्वयं इतनी कुरूप है कि जब हम कल्पना के इन्द्रधनुषी आकाश से उतरकर उसे पृथ्वी की मिट्टी की तरह स्पर्श करते हैं तो वह इतनी खुरदुरी लगने लगती है। हमें सौन्दर्य और माधुर्य का फिर से आरम्भ करना है। इसी खुरदुरी वास्तविकता को सुघर बनाना है। अन्यथा हम आकाश में उड़ते-उड़ते थककर जब कभी इस पृथ्वी पर विश्राम लेना चाहेंगे तब हमें उस स्निग्ध विहार के बाद यहाँ के कङ्कड़-पत्थर ही मिलेंगे।

कल्पना के आकाश में वास्तविकता की ओर से आँखें मूँदकर एक कवि ने गाया था—

> इन्द्रधनु पर शीश धरकर
> बादलों की सेज सुख पर
> सो चुका हूँ नींद भर मैं
> चंचला को बाहु में भर,
> दीप रवि-शशि-तारकों ने
> बाहरी कुछ केलि देखी,

देखा, पर पाया न कोई
स्वप्न वे सुकुमार, सुन्दर।

(बच्चन)

किन्तु आज वही कवि यह क्रन्दन भी कर उठा है—

मेरा तन भूखा, मन भूखा
मेरी फैली युगबाँहों में
मेरा सारा जीवन भूखा !

(बच्चन)

जीवन का यही कंगाल-कंकाल हमारे काल्पनिक रंगीन आवरणों में छिपता आया है। कंकाल को आवरणों में ढाँककर सौन्दर्य नहीं दिया जा सकता। उसकी वास्तविकता को सामने रखकर ही उसे नवजीवन देना होगा।

तो आज हिन्दी-कविता में कला-परिवर्त्तन भी हो रहा है और भाव-परिवर्त्तन भी। कला गीतों की ओर चली गई है और भाव अभाव की ओर। वर्तमान जगत् की हलचलों में हिन्दी कविता के सामने यह प्रश्न है कि अब वह कौनसा बानक धारण करे ? काव्य के सामने इस समय दो संसार हैं—एक पिछला संसार, दूसरा नवीन जाग्रत संसार। पिछले संसार के कवित्व की भाषा और भाव अपने परिपूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच चुके हैं, किन्तु नवीन संसार का कवित्व अभी अपनी वर्णमाला की रचना कर रहा है। एक में रेशमी स्निग्धता है, दूसरे में खद्दर का

खुरदुरापन। हम नहीं कहते कि खद्दर खद्दर ही रहे, उसे भी खादी-सिल्क होना है, उसे भी मानवता के स्वावलम्बी प्रयत्नों की सुषमा उपस्थित करनी है। उसके जीवन का आर्ट उसकी काव्य-कला में इतना भव्य हो जाय कि वह पिछली रेशमी कला के लिए भी स्पृहणीय हो। इसके साथ ही उस पिछले संसार की कला को भी अपनी राजसी सजावट छोड़कर जनसाधारण के वानक में आने की जरूरत है। नवीन कला पिछली कला के स्वप्नों को सत्य करे, पिछली कला नवीन कला की जनता को जीवन दे। यों कहें कि नवीन कला पिछली कला को सहज सुबोध बनाकर ग्रहण करे और पिछली कला स्वयं सहज सुबोध होने का प्रयत्न कर नवीन मानवता के स्वर अपनावे। नवीन कला को काव्य-कला के नव विकास का मार्ग छायावाद के भीतर से बनाना है और छायावाद को नवीन भावनाओं का संचयन नवीन कला के संसार से करना है।

छायावाद इस समय गीतों में अपने को गुञ्जारित कर रहा है। यह ख़ुशी की बात है कि गीतिकाव्य सम्प्रति भाषा और भाव की सरलता और सुबोधता की ओर भी अग्रसर हो रहा है। इस दिशा में उसके सामने सूर, तुलसी, कबीर और मीरा का आदर्श है।

सरलता और सुबोधता का अभिप्राय हिन्दुस्तानी भाषा नहीं, बल्कि साहित्यिक भाषा का सहज परिष्कार होना चाहिए। श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी कविताओं में साहित्यिक और हिन्दुस्तानी भाषा का ऐसा मिश्रण किया है कि उसमें दोनों रुचियों

के लिए आकर्षण होते हुए भी कला का परिष्कृत लालित्य नहीं मिलता। श्री प्रभाकर माचवे ने भी 'नवीन' की ही कविताओं से भाषा-प्रेरणा लेकर उसे कुछ निखार दिया है, यों कहें कि उनकी भाषा और शैली का एक नूतन किसलय उपस्थित किया है, जो अपेक्षाकृत सुघर होते हुए भी समतल नहीं है। 'नवीन' और माचवे के गीतों में जो सरलता और स्वाभाविकता है उसे उत्तरोत्तर परिष्कृत होते जाना है। हाँ, 'नवीन' और माचवे के गीतों में ठेठ-संस्कार अधिक है, जो कहीं कहीं काव्य का ग्राम्यदोष भी बन गया है। ज़रूरत यह है कि प्रान्तीय या ठेठ प्रयोग भाषा में एक हार्मनी बनाये रहें, बेमेल न हो जायँ। सरलता और स्वाभाविकता की दिशा में उर्दू कवि हाफ़िज़ जालन्धरी तथा वैसे ही एकाध अन्य कवियों के गीत सुबोध काव्य-कला के दृष्टान्त हो सकते हैं। उर्दू प्रभाव की प्रेरणा से नवयुवक कवियों में सर्वश्री बच्चन, नरेन्द्र और सुमन कविता की भाषा को सहज बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। कला की इस नई भूमि पर यह ध्यान रखना होगा कि भाषा और अभिव्यक्ति न तो एकदम सिनेमा के गीतों की सतह पर उतर आयें और न उनमें हिन्दुस्तानी भाषा जैसा अनगढ़पन हो। हमें एक मध्यमार्ग से सहज कला की उन्नति करनी है।

इतिहास के आलोक में

[१]

भारत का इतिहास कविता में बन्द होता आया है। कविता ही हमारे लिए सम्पूर्ण साहित्य रही है। यों कहें, हम भाव-लोक के प्राणी रहे हैं, फलतः हमारा जो साहित्य बना वह काव्यमय होकर—उसे चाहे हम दृश्य-काव्य कहें या श्रव्य-काव्य। हमारे स्रष्टा, श्रोता और दर्शक जीवन में आइडियलिज्म को लेकर चले आये है। भावमय जीवन और उसका भावमय स्वप्न—यही हमारा आधार और आधेय रहा है। जीवन मे भावों की जो अपूर्णता रह जाती थी, उसी की पूर्णता या परितृप्ति हम स्वप्नों (काव्यों) में ग्रहण करते रहे हैं।

दन्तकथाओं और लोकगीतों में जनसाधारण का जो जीवन प्रवाहित होता आया है वही उच्चकोटि के साहित्य में भी। यहाँ

उसे शिक्षितों की कला प्राप्त हो गई है। मनुष्यों के आकार-प्रकार की भाँति ही सामाजिक अवस्थानों में विविधता होते हुए भी एक विशेष पौराणिक वातावरण में जीवन समग्रत: एक था, राजा से रङ्क तक एक ही मनोधारा (स्वप्न-प्रवाह) में प्रवाहित थे, फलत: साहित्य भी एक-सा है।

विदेशियों के आगमन के साथ वह पौराणिक वातावरण बदल गया। यों तो पुराण भी प्राचीन इतिहास ही है, किन्तु आज जिस अर्थ में इतिहास अङ्गीकृत है, उसका आरम्भ विदेशियों के आगमन के साथ ही होता है। भिन्नदेशीय जीवन के संघर्षों का परिणाम ही अब इतिहास बन गया है। उस पौराणिक जीवन में भी संघर्ष रहे हैं, या तो पराक्रम के लिए या मानव-संरक्षण के लिए। उन संघर्षों का वातावरण समुद्र की क्षुब्ध तरङ्गों की भाँति ऊपर ही ऊपर दोलायमान होता रहा है, भीतर का जीवन (समाज की आन्तरिक सतह का जीवन) अपनी स्वाभाविक गति से ही संसरण करता रहा है। किन्तु तूफ़ान की भाँति विदेशियों का आगमन जन-समुद्र के बाह्य वातावरण में ही नहीं, सबमेरीन की तरह आन्तरिक सतह में भी हलचल मचा गया। यहीं स्वाभाविक गति से बहते हुए जीवन-प्रवाह को एक अनपेक्षित वास्तविकता का सामना करना पड़ा, मानो आइडियलिज्म को रियलिज्म के सम्मुख उपस्थित होना पड़ा। किन्तु भारत के जीवन ने उस रियलिज्म को स्वीकार नहीं किया। भाव-

लोक के प्राणियों ने अपनी ही वाणी (कविता) में अपने देश के क्षत्रियों को उस वास्तविकता का सामना करने के लिए उत्साहित किया। उन्हें हम वीरगाथा-काल का कवि कहें या चारण, किन्तु उन्होंने अपने क्षत्रियों के संरक्षण का पूरा-पूरा ऋण-शोध किया। वे अपने समय में उसी साहित्यिक स्थान पर थे जहाँ आज हमारे राष्ट्रीय कवि हैं।

तो, इतिहास रुका नहीं। सामाजिक जीवन में पौराणिक स्वप्न चलते रहे, राजनीतिक जीवन में ऐतिहासिक संघर्ष। यों कहें कि जीवन नहीं बदला था, किन्तु मरण राजनीति द्वारा परिवर्त्तन के पृष्ठ खोल रहा था।

ऐतिहासिक संघर्ष प्रभुत्वों का संघर्ष था। जब संघर्ष चलता है तब समाज जैसे अपने सैनिक भेजता है, वैसे ही साहित्य भी अपने युग-गायक प्रस्तुत करता है। साथ ही जैसे आपत्ति-काल में दैनिक गृह-जीवन भी अपनी गति से चलता रहता है इसी प्रकार लोक-साहित्य भी। फलतः साहित्य में एक ओर वीर-काव्य, दूसरी ओर प्रेम और भक्ति-काव्य के दर्शन होते रहे, ठीक इसी प्रकार जैसे आज राष्ट्रीय-काव्य और छायावाद के।

युग के अनुसार अब तक हमारे काव्य ने तीन स्टेज पार किये है—(१) पौराणिक काव्य (मूल जीवन के विश्वासों और भावनाओं से निःसृत काव्य—जिसके अंतर्गत मध्यकालीन प्रेम और भक्ति तथा वर्तमानकालीन छायावाद है, जो कि स्थायी

मनोभावों के कारण शाश्वत माने जाते हैं)। (२) वीर-काव्य और (३) राष्ट्रीय काव्य (इनके द्वारा जीवन को परिवर्तन की ओर ले जानेवाले इतिहास की सूचना मिलती है)। और अब चौथा स्टेज है समाजवाद, जो कि इतिहासों के भविष्य का नवीन निर्माण चाहता है अथवा इतिहासों के निष्कर्ष का समुचित नियोजन।

जैसा कि ऊपर कहा है, ऐतिहासिक संघर्ष प्रमुखों का संघर्ष था। वह राजसत्ताओं को हिला जाता था, किन्तु जनसाधारण का जीवन कुहरे के नीचे ढँके हुए जलाशय की भाँति दैनिक गति से बहता जाता था। बीच बीच में जब उसके विश्वासों पर आघात पहुँचता था तब वह (जीवन) अपनी संस्कृति के संरक्षकों का जयजयकार मनाता था। मुगल-काल तक यही क्रम चलता रहा।

वीर-काव्य की परम्परा में उस काल में जहाँ भूषण की भीषण वाणी सुनाई देती है, वहाँ शृङ्गारिक कवियों की कोमल-कान्त पदावली भी; जिससे यह सूचित होता है कि जनसाधारण का जीवन और साहित्य बाह्य हलचलों में भी अविचल था। वह धर्मकातर तो था किन्तु उसके दैनिक सामाजिक जीवन में कोई उद्वेग न था। उस युग का हिन्दू-समाज जीवन और साहित्य में एक अद्भुत काल्पनिक सम्मोहन में बेसुध था। मुस्लिम समाज भी अपने जीवन और साहित्य में ऐसे ही सम्मोहन से बँधा हुआ था। फलतः 'सहस्र-रजनी-चरित्र' नहीं तो क़िस्सा अलिफलैला भी बेजाँ नहीं लगा। तूफ़ान और बवण्डर (ग़दर और बग़ावत)

आये और चले गये किन्तु साहित्य की वह सम्मोहिनी रुचि नहीं गई, अर्थात् जीवन में वास्तविकता का बोध नहीं हुआ। आश्चर्य है कि देश के भीतर बड़ी से बड़ी उथल-पुथल होने पर भी जीवन के क्रम में परिवर्त्तन नहीं हुआ। वीर और शृङ्गार रस को ही लिये हुए साहित्य चला आया। उस वीर रस द्वारा हम जनता को तो नहीं पढ़ पाते, हाँ राजनीतिक संघर्ष-विमर्षों का आभास अवश्य पा जाते है, जब कि आज के राष्ट्रीय काव्यों में राजनीतिक संघर्षों का आभास भी पाते है और जनता को पढ़ भी पाते हैं। किन्तु उस युग की जनता को मध्ययुग के शृङ्गार-काव्य और भक्ति काव्य या और आगे बढ़कर अद्भुत कथा-कहानियों में ही हम पढ़ पाते है। और वह जनता कैसी ज्ञात होती है?—भाव-प्रवण एवं कल्पना-प्रिय। उसके साहित्य से ऐसा जान पड़ता है कि उसके दैनिक जीवन में कोई अभाव या दु:ख था ही नहीं, सिवा वियोग के।

जब मध्ययुग के इतिहास के साथ साथ वीर-काव्य के आधार भी समाप्त हो गये तब उसी जनता की वही अद्भुत भाव-प्रवण रुचि आधुनिक काल तक एकच्छत्र चली आई और अपने साहित्य में हम उसकी अन्तिम झाँकी पाते हैं स्व० देवकीनन्दन खत्री और स्व० किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में।

[२]

मध्ययुग की जो जनता अपने शासकों को अपने अभाव-अभियोगों का आवेदन-पत्र देती रही है उस जनता के साहित्य में

उसके अभाव-अभियोग क्यों नहीं प्रकट हुए ? इसके दो कारण हैं। पहली बात तो यह कि जनता और उसके साहित्यकारों ने साहित्य को बहुत संकुचित अर्थ में ग्रहण किया था। दूसरी बात यह कि जिस लोक-लाज के कारण हम अपना घरेलू सुख-दुःख अपने पड़ोसों से भी छिपाते हैं, वह भला लिखने-पढ़ने की चीज़ कैसे हो सकता था। वह जनता अभिजात-वर्गीय जो ठहरी। एक मिथ्या स्वाभिमान हमें अपनी वास्तविक सामाजिक स्थिति के समझने में अज्ञान बनाये हुए था। हम यह नहीं जानते थे कि सबकी स्थिति एक-सी है और सबका एक ही सार्वजनिक कारण है। उस समय जो चीज सबमें एक-सी दिखाई पड़ी उसी प्रेम और भक्ति को हमने साहित्य द्वारा सार्वजनिक रूप में उपस्थित किया। और युद्ध तो सार्वजनिक है ही, अतएव वीररस ही सबसे बड़ा सार्वजनिक विषय बनकर हमारे साहित्य में आता रहा।

जैसा कि ऊपर कहा है, हम अपनी वास्तविक सामाजिक स्थिति के समझने में अज्ञान थे। हम अपने दैनिक अभाव-अभियोगों का कारण भाग्य को (दैव को) समझते थे। राजा को सर्व-शक्तिमान् समझकर उसी को अपनी फरियाद सुना अपना कर्त्तव्य पूरा कर लेते थे। हिन्दू-समाज और मुसलिम-समाज दोनों सांस्कृतिक विभेद रखते हुए भी अपने अन्धविश्वासों में एक से ही थे। फलतः उनके भीतर समाज का वैज्ञानिक दृष्टि-कोण नहीं जगा। जब मुसलमानों को परास्त कर इस देश

में अँगरेज़ जम गये और उनका शासन सुदृढ़ हो गया, तब उनके व्यावहारिक सम्पर्क से हमारे अन्धविश्वासों को वास्तविकता का आघात लगता गया। फलतः हमारे स्वप्निल जीवन ने वस्तुजगत् के प्रकाश में आत्मनिरीक्षण भी प्रारम्भ किया। इसमें सन्देह नहीं कि अँगरेज़ों के आगमन ने हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। हम यह नहीं कहते कि अँगरेज़ अपने सामाजिक जीवन में पूर्ण सफल थे, किन्तु उनकी भौतिक सुव्यवस्था ने हमें अपनी सामाजिक अव्यवस्था की ओर जागरूक अवश्य कर दिया। अति व्यावहारिक अँगरेज़ों को हमारे अति आइडियलिज़्म को उचित सीमा में ग्रहण करने की आवश्यकता थी तो हमें भी उनकी अति व्यावहारिकता को उचित सीमा में। हमारे भीतर से जिनका ध्यान इस ओर गया उन्हें हमारे अन्धविश्वासों में व्यर्थ की सामाजिक क्षतियाँ दिखीं। इस दिशा में हमारे युगद्रष्टा स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय इत्यादि हुए। उनके नवीन सामाजिक उद्बोध के फल-स्वरूप नवीन सामाजिक साहित्य बना। अपने यहाँ 'सेवा-सदन' में प्रेमचन्द तथा बंगाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस नवीन सामाजिक चेतना के अग्रदूत हुए। ये अपने अपने साहित्य में मध्यकालीन रोमान्स के उपरान्त के जीवन के साहित्यकार हुए। फिर भी, सामाजिक चेतना का यह प्रारम्भिक काल था।

साहित्य जब जनसाधारण में फैलना चाहता है तब संगीत द्वारा धार्मिक होकर। अतएव इस नवीन सामाजिक चेतना से उद्गीर्ण धार्मिक भजनों में भी हमारे एक युग का इतिहास है। पादरियों और आर्यसमाजियों के गीत अँगरेजों और भारतीयों के आरम्भिक सामाजिक सम्पर्क के द्योतक हैं। आर्यसमाजियों ने अँगरेजों के भीतर से सामाजिक जागृति तो ले ली किन्तु अपने को पादरियों में नहीं मिला दिया। हाँ, पादरियों की तरह वे भी एक सांस्कृतिक प्रचारक होकर हिन्दू समाज की चौकसी में तत्पर हुए। इस नवीन सामाजिक चेतना में हमारा साहित्य तो बदला ही, साथ ही वह काव्यमय ही न रहकर गद्यपूर्ण भी हो गया। फलतः इतिहास भी चारण-काव्य में ही सीमित न रहकर सामाजिक और राष्ट्रीय साहित्य बनकर प्रकट होने लगा। सदा की भाँति काव्य में भी हमारा इतिहास बोलता रहा सारांश होकर।

इस जागृति में हमारे भीतर सामाजिक विवेक जगा अर्थात् अपनी निर्बल रूढ़ियों का हमें बोध हुआ। किन्तु दूसरी ओर हमारी ग़ुलामी की परम्परा चालू थी। राजनैतिक दासता हमें मध्यकाल की अपेक्षा भी अधिक जटिल नाग-पाश में बाँधती जा रही थी। कविवर रवीन्द्रनाथ के शब्दों में—"आर्यों और मुसलमानों ने तो कुछ द्रविड़ और हिन्दू-राजवंशों का राज्याधिकार हटाकर भारतवर्ष में अपना राज्य स्थापित कर दिया होगा, लेकिन फिर भी इतना अवश्य था कि वे लोग इसी देश में और यहीं की

जनता में बस गये थे और उन लोगों ने जितने बड़े बड़े काम किये थे वे सब इसी देश के निवासियों की पैतृक सम्पत्तियों और कृतियों में सम्मिलित हो गये थे। किन्तु अब तो यहाँ एक ऐसा नवीन और (भारत के लिए) व्यक्तित्व-हीन (अँगरेज़ी) साम्राज्य स्थापित हो गया था जिसमें शासक लोग हमारे ऊपर तो थे, परन्तु हमारे मध्य में नहीं। वे हमारे देश के मालिक तो बन गये थे, परन्तु वे कभी हमारे देश के नहीं हो सकते थे। इधर भारत का धन जितनी निर्दयता और जितनी अधिक मात्रा में अपहृत किया गया है और जितने भेद-भाव और लड़ाई-झगड़े आज-कल आपस में हो रहे हैं उतने आज तक पहले कभी नहीं हुए थे।"

---

[३]

मध्यकालीन सामाजिक निर्बलताओं को दूर करने के लिए स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय द्वारा जो चेतना जगी थी, भारत की प्रथम आधुनिक जागृति उसी ओर एकाग्र हो गई थी। उस ओर विशेष आन्दोलन होते देखकर शासकों का ध्यान भी उस ओर गया। वहाँ उन्होंने हमारी सदियों की सामाजिक निर्बलता देखी। हमारी उसी दुर्बलता को और भी उकसा देने का काम शासकों ने किया, ताकि सामाजिक दुर्बलताओं से उत्पन्न गृहयुद्ध में लिप्त जनता का ध्यान वास्तविक राष्ट्रीय प्रश्नों की ओर न जाने पाये। महारानी विक्टोरिया की यह घोषणा कि धार्मिक मामलों में भारतवासी स्वतन्त्र हैं, उसमें सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी; यह घोर राजनीतिज्ञता का सूचक है। स्पष्ट है कि जनता धर्म और

मजहब के नाम पर आपस में लड़ती रहे तथा एक दूसरे के प्रति अविश्वासी होकर अपनी सरकार के प्रति विश्वस्त रहे। जिस नीति के द्वारा राजशक्ति ने भारत को अपना क्रीतदास बनाया उसी नीति के द्वारा उसने अपना शासन भी चलाया। और कौन जाने यह दासत्व इसी प्रकार कब तक चलता रहेगा, जब कि हमारी मांस-पेशियों में अभी तक सदियों की जहालत भरी हुई है।

इधर सामाजिक क्षेत्र में जो लोग फारवर्ड हो चुके थे वे राजनीति की ओर बढ़े। ये वे लोग थे जो अँगरेजी सभ्यता और अँगरेजी भाषा में रँगे-चुने थे। सामाजिक चेतना के नाम पर उन्होंने अँगरेजों के दोष ग्रहण कर लिये थे और सभी बातों को अँगरेजी निगाह से देखने के आदी हो गये थे। सामाजिक प्रश्नों को दकियानूसी समझकर राजनीति को ही इन्होंने अँगरेजी खान-पान की भाँति फैशन के रूप में अपनाया। अँगरेज लोग इस देश में एक नये प्रकार का सामाजिक और राजनीतिक आवरण लेकर आये थे। यह आवरण चाहे छद्मावरण ही रहा हो, किन्तु वह हमारे निजी छद्मावरणों को समझने का साधन भी बना। सामाजिक छद्मावरणों को दूर कर सामाजिक विवेक जगाने का प्रारम्भिक प्रयत्न करनेवालों का शुभनाम ऊपर आ चुका है। किन्तु राजनीति में आनेवालों ने राजनीतिक छद्मावरण का उद्घाटन नहीं किया, करते कैसे, वे तो स्वयं आँग्ल-सभ्यता का आडम्बर ओढ़े हुए थे। इन प्रारम्भिक राजनीतिक नेताओं ने, जिन्हे और जिनके अनुगा-

मियों को आज हम ठीक ठीक लिबरल (या कन्जर्वेटिव ?) नाम से जानने लगे हैं, कोई सामाजिक प्रगति नहीं की थी, वे तो एकदम मध्यकालीन मनोवृत्तियों के भीतर से आँग्ल सभ्यता में कूद पड़े थे। साधना द्वारा उन्होंने अपना कोई व्यक्तित्व तो बनाया नहीं था, फलतः भारत के लिए शासकों ने अपना जो व्यक्तित्व बना रखा था, उसी व्यक्तित्व का गाउन पहनकर अपने ही देशवासियों के मुक़ाबिले वे एकदम नवीन हो गये। यदि यह गाउन, यह छद्मावरण उन पर से हटा लिया जाय तो हम देखकर अवाक् हो जायँगे कि वे तो मध्यकाल के वही लोग हैं जिनकी विकृतियों के विरुद्ध आधुनिक युग के कर्म्मठ प्रतिनिधि नवीन सामाजिक और राजनीतिक जागृति उत्पन्न करते आ रहे हैं। सम्पूर्ण सामाजिक और राजनीतिक छद्मावरणों को दूर हटाकर युग-पुरुष गांधी जब राष्ट्रीय नवजागरण का वैतालिक बनकर कर्त्तव्यारूढ़ हुआ तब विदेशी राजनीति का गाउन पहने हुए वे ही मध्ययुगीय महानुभाव अपने पैंतरे बदलकर साम्प्रदायिक रूप में प्रकट हो गये। ये पैंतरेबाज़ राजनीतिज्ञ हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं। इनके पैम्फ़्लेटों और वक्तव्यों में हम आज की भाषा में पुरानी संकीर्ण एवं दूषित मनोवृत्तियों का वीभत्स इतिहास देख सकते हैं।

[४]

तो जहाँ साहित्य में वीर रस और राजनीति में युद्ध ही हमारे सार्वजनिक विषय थे, वहाँ १९वीं शताब्दी से समाज और राष्ट्र

हमारी साहित्यिक और राजनीतिक चर्चा का विषय बन गया। उस प्रारम्भिक जागृति का दर्शन हमें अपने यहाँ भारतेन्दु के साहित्य में मिलता है।

उस समय एक ओर समाज अपने सुधारों में स्वावलम्बी हो रहा था, दूसरी ओर शासन उसे अपनी दासता से ऊपर नहीं उठने देना चाहता था। सामाजिक विवेक कहीं राजनीतिक विवेक भी न प्राप्त कर ले, और जिस गति से सामाजिक विवेक जग रहा था उसे देखते राजनीतिक विवेक के जगते देर नहीं थी, शासक हमारी इस राष्ट्रीय परिस्थिति को खूब समझते थे और समझते क्यों नहीं जब कि उन्हें राजनीति का पूर्ण अनुभव था। उन्होंने बड़ी दूरदर्शिता से लिबरलों को भारत का राजनीतिक नेता मान लिया। उन्होंने सोचा, यही हमारे शासन के हाथ-पाँव हो सकते हैं। अतः जनता जब बहुत बढ़ना चाहे तब उसी के इन अगुओं द्वारा उसे गुमराह कर देने का उन्होंने ठीक साधन पाया। इन्हीं लिबरलों ने 'कांग्रेस' को जन्म दिया। तब की कांग्रेस को हम राजनीतिक 'क्लब' कह सकते हैं, राष्ट्रीय महासभा नहीं। वह लक्ष्यहीन अँगरेजीदाँ हिन्दुस्तानी मैलानियों का मजमा था। शासन के हिमायती (लिबरल) शासकों की राजनीति द्वारा परिचालित एक गैर-सरकारी संस्था स्थापित कर जनता के नेता बन गये थे। जो बातें सरकार चाहती या कहती थी वही बातें ये भी कहते थे, इस ढंग से मानों वे सरकार से आगे जा

रहे हैं। किन्तु उन लिबरलों के भीतर ऐसे हयादार भी थे जो राष्ट्र के प्रति इस विश्वासघात अथवा भारत की राजनीतिक बलि को भीतर ही भीतर महसूस करते थे, किन्तु जबान से कह नहीं सकते थे, क्योंकि ज़बान से कहने के लिए जिस आत्मबलिदान की आवश्यकता थी उसकी उन्होंने अपने देश में कल्पना भी नहीं की थी। दूसरे शब्दों मे उनमें स्वयं आत्मबल का अभाव था। उन हयादार लिबरलों में गोखले का नाम आज भी राजनीतिक जगत् में आदर से लिया जाता है। किन्तु जैसे कट्टर सनातन-धर्मियों के बीच में कोई सुधारवादी सामाजिक नेता पहुँच जाय उसी प्रकार उस लिबरल-कांग्रेस के भीतर तिलक पहुँच गये थे। तिलक ने ही कमजोर नींव पर खड़ी हुई लिबरल-मनोवृत्ति पर पदाघात कर दिया। देश को तैयार करने के लिए उन्होंने स्वयं ही आत्मबलिदान का प्रारम्भ किया और पूर्ण आत्मबल से कहा—'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।' उस नरम (लिबरल) कांग्रेस के भीतर यह हुङ्कार ही काफी गरम था, फलतः तिलक गरम पार्टी (या देश के निश्छल नवयुवकों) के नेता हुए। इस प्रकार सन् १९१७ के महायुद्ध तक की कांग्रेस में जहाँ लिबरलों द्वारा राजनीतिक क्रीड़न चल रहा था, वहाँ राष्ट्रीय पीड़न का स्वर भी सजग हो गया था। शिक्षित नवयुवकों में जागृति आ गई थी। किन्तु यह राष्ट्रीय स्वर जनता तक नहीं पहुँचा था। कारण, जनता के सामने इस जागृति को आगे बढ़ाने

के लिए कोई कार्यक्रम नहीं बन सका था। हाँ, कांग्रेस के भीतर नेताओं में राजनीतिक संघर्ष चल रहा था तो जनता में सामाजिक संघर्ष। स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय जो सामाजिक जागृति दे गये थे, वह जनता के भीतर पहुँच गई थी। एक ओर कांग्रेस अपने राजनीतिक विचारों को स्थिर करने में लगी हुई थी, दूसरी ओर जनता सामाजिक विचारों को हृदयङ्गम करने में। फलत: सन् १९१७ के महायुद्ध तक सामाजिक आन्दोलन जोर पर थे। न जाने कितने धार्मिक वाद-विवाद हुए, न जाने कितनी सामाजिक संस्थाएँ बनीं। आर्यसमाज और ब्राह्म-समाज के बौद्धिक दृष्टिकोणों ने पुराने समाज को हिला-डुला दिया। उसी का परिणाम है कि आज राजनीतिक प्रश्नों के आगे धार्मिक कट्टरताएँ उपहासास्पद लगने लगी है, यद्यपि ये संस्थाएँ भी आज राजनीतिक विकास के अनुसार देश-कालानुरूप न होकर कट्टर मिशनरी मात्र रह गई हैं। एक दिन मध्ययुग की जनता को इन्होंने आगे बढ़ाया था किन्तु आज की जनता के लिए वे भी पीछे की चीज़ हो गई हैं।

जैसा कि ऊपर कहा है, तिलक ने कांग्रेस में राष्ट्रीय हुंकार किया। उस हुंकार ने पुरानी कांग्रेस को उसी प्रकार चौंका दिया, जिस प्रकार सामाजिक नेताओं ने पुराने समाज को। तिलक स्वयं व्यक्तिगत रूप से बड़े धार्मिक विद्वान् थे। इसके लिए वे कम विख्यात नहीं। यह एक प्रश्न है कि राजनीति के साथ ही वे

सामाजिक क्षेत्र में भी प्रमुख क्यों नहीं हो गये? बात यह कि तिलक ने ब्रिटिश राजनीति को ख़ूब समझ लिया था। लिबरलों को देखकर ही उन्होंने भाँप लिया था कि यदि हम राजनीतिक क्षेत्र को यों ही छोड़ देते हैं तो सामाजिकता और साम्प्रदायिकता के नाम पर इन्हीं लिबरलों द्वारा राजनीति गृहयुद्ध में परिणत हो जायगी। उस समय देश में राजनीतिक विवेक तो था ही नहीं, यद्यपि सामाजिक विवेक जग चला था। राजनीतिक विवेक के जग जाने पर सामाजिक विवेक गुमराह नहीं हो पाता, अतएव तिलक उस समय राजनीतिक विवेक के ही प्रमुख पण्डित हुए। यदि उस समय राजनीतिक विवेक जगाने का प्रयत्न न होता तो आज राष्ट्रीय प्रश्नों में जो साम्प्रदायिक मसले आ उलझे हैं वे आज के बजाय कल ही हमें उलझन में डाल गये होते, और तब, देश आज जिस राष्ट्रीय सतह तक पहुँचा है वहाँ तक पहुँचने में उसे न जाने कितना पीछे चला जाना पड़ता, तब शायद हम मध्ययुग के क्रूसेड-काल में होते। आज हम जानते हैं कि कांग्रेस के प्रारम्भिक दिनों से राष्ट्रीय-हित के बजाय आत्महित (महत्त्वाकांक्षा) को ही अपना सर्वस्व बनाकर जो राजनीतिक लीडर जनता के प्रतिनिधि बने हुए थे उनके भीतर कितना पोल था। जब एक सच्चा राष्ट्रीय व्यक्ति (तिलक) उठ खड़ा हुआ, तब वे उसके तेज को सह नहीं सके। भीतर ही भीतर वे अपनी वास्तविकता पर झेंपे अवश्य होंगे, किन्तु तिलक के तेज को तिरोहित करने के लिए वे अपने आप को भी राष्ट्रीय

आने में उपस्थित करने लगे, होमरूल के हिमायती बनकर। और देश जब पूर्णतः जग गया (जिसके इतने जगने की उन्होंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी) तब वे अपना राष्ट्रीय बानक हटाकर पुनः अपने वास्तविक रूप में आ गये और आज उनकी प्रच्छन्न महत्त्वाकांक्षाओं ने साम्प्रदायिकता का कपट कलेवर धारण कर लिया है। कांग्रेस के प्रारम्भ में वे जहाँ थे आज भी वहीं हैं, अन्तर यह है कि तब उनका कपट-रूप पूतना की तरह अन्दर छिपा हुआ था, अब बाहर प्रकट हो गया है। यहाँ हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि जो लोग राष्ट्रीय क्षेत्र में फेल हो चुके हैं, वे ही लोग साम्प्रदायिक क्षेत्र में चले गये हैं। देर या अबेर, साम्प्रदायिक उलझाव तो सामने आने को ही था, किन्तु देर से आने के कारण राजनीतिक विवेक के पूर्णतः जग जाने पर हम उसकी असलियत को ख़ूब समझने लगे हैं, जब कि उस समय हम अपने लक्ष्य को भूलकर राह में ही बुरी तरह गुमराह हो जाते।

उस समय हमारा राष्ट्रीय विरोध सीधे सरकार से था, किन्तु इस समय जब कि सरकार ने अपने राजनीतिक शिष्यों को (हमारे ही भाइयों को) राष्ट्रीय मोर्चे पर लगा दिया है, तब स्वभावतः हमें अपनी राजनीतिक प्रगति को सम्प्रति रोकना पड़ा है; क्योंकि हम आपस में ही नहीं लड़ना चाहते। हम आपस में आदमीयत के नाम पर एक दूसरे को समझना चाहते हैं, एक बार

हृदय को जगाना चाहते हैं*। इसी के लिये महात्मा गान्धी को मिस्टर जिन्ना की खुशामद भी करनी पड़ी।

[५]

इस लड़ी को जोड़ने के लिए हम पिछले प्रसंग की शृङ्खला को फिर देखें। सन् १७ के महायुद्ध के बाद पंजाब-हत्याकाण्ड से देशव्यापी राष्ट्रीय जागृति आई। देश अभी समग्र रूप से जगा ही था कि सन् २० में तिलक का देहान्त हो गया। इसके बाद जनता ने राष्ट्र के कर्णधार के रूप में महात्मा गांधी को पाया। पंजाब-हत्याकाण्ड में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही मारे गये थे। युद्ध के पश्चात् भारत की सेवाओं के पुरस्कार के बजाय यह भीषण व्यवहार देश की जागृति में वह काम कर गया जो एक बड़ी क्रान्ति से ही सम्भव था। भारत एकदम बदल गया, उसकी राष्ट्रीय बुभुक्षा तीव्र हो गई। वह बुभुक्षा राष्ट्रीय आवश्यकताओं को समझने और ग्रहण करने के लिए तैयार हो गई। किन्तु तिलक के अभाव में देश नेतृत्व-शून्य था। ठीक मौके पर सन् २० में महात्मा गांधी असहयोग का सात्त्विक आहार लेकर आये। इसके लिए उन्होंने जनता के सामने रचनात्मक कार्यक्रम रखा। यह कार्यक्रम ऐसा था कि इसके द्वारा जनता न केवल राजनीतिक बल्कि सामाजिक शक्ति भी ग्रहण करती थी। अब

* नवम्बर १९३९ में वायसराय से नेताओं के मिलने के बाद कांग्रेस ने यही प्रयत्न प्रारम्भ किया।

तक राजनीति एकाङ्गिनी चल रही थी, अब उसके साथ सामाजिक जागृति भी सम्बद्ध हो गई। संकीर्ण साम्प्रदायिक तथा रूढ़िग्रस्त सामाजिक दृष्टिबिन्दु हिन्द महासागर में बुदबुदों की तरह विलीन हो गये। महात्मा ने जनता के जीवन में प्रवेश किया, उस जनता के जिसके विकास में ही भविष्य का भारत है। जगी हुई जनता व्यावहारिक कार्यक्रम पाकर मूर्त्तिमान् राष्ट्र बन गई। एक एक बच्चा भारतवर्ष हो गया।

इस समय कवियों ने राष्ट्रीय कविताएँ तो रचीं ही, साधारण जनता ने भी अपने भावोद्‌गार अपने तर्ज़ के गीतों और पैम्फलेटों में प्रकट किया। सन् २० और सन् ३० के राष्ट्रीय लोकगीतों को यदि हम एकत्र देख सकें* तो उनके द्वारा न केवल सत्याग्रह की राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का परिचय मिलेगा, बल्कि यह भी ज्ञात होगा कि देश किस प्रकार अपने आपको पहचान गया था। वे राष्ट्रीय लोकगीत जनता द्वारा रचित इतिहास का काम दे सकते हैं। हमें वे दिन याद आते हैं जब पंक्ति-बद्ध जलूसों में जनता एक छोर से दूसरे छोर तक राष्ट्रीय गीत गाते हुए चलती थी, उस समय ऐसा

---

* इन्हें साहित्यिक और राष्ट्रीय स्मृति के लिए शीघ्र एकत्र करने की आवश्यकता है, अन्यथा फिर खोजने पर भी नहीं मिलेंगे। कांग्रेस यदि अपनी इस वाणी-सम्पत्ति के संग्रह की अपील करे तो वह न केवल राष्ट्र को बल्कि राष्ट्रीय साहित्य को भी एक बहुत बड़ी देन दे जायगी।

जान पड़ता था कि समुद्र के एक छोर से नवचेतना तरङ्गित होकर दूसरे छोर तक गूँजती चली जा रही है। उस समय आसेतु-हिमाचल एकलक्ष्य, एकस्वर, एकप्राण हो गया था। किन्तु हमारे इस आन्दोलन में ऐसे लोग भी शामिल हो गये थे जो समूह के लक्ष्य की अपेक्षा अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं के लोभ को प्रधान बनाकर आ मिले थे। पाशव दुर्बलताओं के ये प्रतिनिधि सदैव रहे हैं और सदैव रहेंगे। दूध में पानी की तरह इनके मिल जाने पर भी युग का सारग्राही हंस इन्हें छोड़कर आगे बढ़ जाता है।

सन् २० के उस असहयोग-आन्दोलन के समय, क्रान्ति के नाम पर कुछ गुमराह भाइयों ने चौरीचौरा-हत्याकांड कर डाला। वे असहयोगी थे और अहिंसात्मक सत्याग्रह मे शामिल थे, फिर भी उन्होंने अपने कृत्य से सत्याग्रह की पवित्रता पर धब्बा लगा दिया, जिससे दुःखी होकर महात्मा ने द्रुतगति से चलते हुए असहयोग-आन्दोलन को एकाएक रोक दिया। इससे सूचित होता है कि महात्मा स्वराज्य चाहता है, अराजकता नहीं। वह राजत्व का सुन्दर सुखद निर्माण चाहता है। उसके निर्माण का साधन भी उतना ही सौम्य है जितना कि उसका लक्ष्य—स्वराज्य (रामराज्य)।

आन्दोलन के स्थगित हो जाने पर देश में स्तब्धता छा गई। इसके बाद महात्मा गांधी देश की मनोवृत्ति को अहिंसात्मक बनाने की साधना में लग गये और विशेष रूप से सामाजिक कार्यक्रम को ही अग्रसर करने लगे। वैसे भी सत्याग्रह को छोड़कर उनके

सभी राष्ट्रीय कार्य सामाजिक थे ही। पराधीन देश के लिए सर्वथा सामाजिक कार्य तो उस गृहस्थी जैसा है जो अपनी सुव्यवस्था में लगे रहने पर भी बाहर से अरक्षित हो। अतः सत्याग्रह ही गृहस्थों की आत्मरक्षा के लिए एक गृहस्थोचित (भद्र) आन्दोलन था। किन्तु गृहस्थों को जैसे कभी कभी अपने मनसूबों को अपने मन में ही समेट लेना पड़ता है उसी प्रकार समय समय पर सत्याग्रह को भी स्थगित कर देना पड़ा है।

सन् ३० के असहयोग-आन्दोलन के बाद, आर्डिनेन्सों के कारण सत्याग्रह के पुनः स्थगित होने पर, महात्मा का सन् २० के बाद का सामाजिक कार्यक्रम गाँव-गाँव तक फैल गया। तब सरकार को भी अभिनय-स्वरूप ग्रामोद्धार का उत्साह दिखलाना पड़ा जिसके कारण महात्मा को कहना पड़ा कि सरकार यदि मुझे इस दिशा में सचमुच सहयोग दे तो मैं चमत्कार कर दिखलाऊँ। परन्तु सरकार को तो अपने अभिनय से कांग्रेस (या महात्मा गाधी) की इस दिशा में बढ़ती हुई लोकप्रियता का अवरोध करना था, जैसे राजनीतिक क्षेत्र में अज्ञात समय के लिए उसने सत्याग्रह को अवरुद्ध कर दिया था। सरकार समाज और राजनीति दोनों पर कुठाराघात करने के लिए उतारू हो गई थी, एक प्रकार से वह हमारी अब तक की सम्पूर्ण जागृति को अन्धकार बनकर ग्रस लेना चाहती थी।

सरकार के इस रवैये से उसका रुख स्पष्ट हो गया था। यदि देश का सामना सीधे सरकार से होता तो कोई बात नहीं थी,

शासक और शासित अपने प्रश्नों का आपस में निपटारा कर लेते। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, सरकार ने हमारे मुकाबिले में हमारे ही भाइयों को मोर्चे पर लाकर खड़ा कर दिया, शासितों के भीतर से ही अपने सिखाये-पढ़ाये लाड़िलों को सार्वजनिक प्रतिद्वन्द्वी बना दिया। इसका सूत्र यह है कि सन् २० के असहयोग-आन्दोलन में खिलाफत का मसला लेकर मुसलमान भाई भी हमारे साथ आ मिले थे। राष्ट्रीय प्रश्नों के साथ खिलाफत के प्रश्न का क्या तुक था, यह तो समय ने ही उसे 'बेतुका' साबित कर बतला दिया। किन्तु उस समय इसी संकीर्ण प्रश्न को लेकर मुसलमान भी असहयोगी और सत्याग्रही बन गये थे। चौरीचौरा कांड के बाद महात्मा ने चलती हुई ट्रेन की भाँति सत्याग्रह को एकाएक रोककर जब अपना राष्ट्रीय उद्योग सामाजिक कार्यक्रम की ओर उन्मुख कर दिया तब जिन्हें राष्ट्रीय हिताहित से कोई सरोकार नहीं था, जो केवल अपने हलवे-माँड़े के लिए ही असहयोग-आन्दोलन में शामिल हो गये थे, वे तुरत-फुरत कांग्रेस से छूमन्तर हो गये। यदि राष्ट्रीय आन्दोलन चलता रहता तब भी वे बीच में ही साथ छोड़ देते, उनके स्वार्थों की संकीर्णता अथवा उनकी लालसाओं की चञ्चलता को देखते हुए यह निश्चित था। ऐसे लोग स्पष्ट रूप से साम्प्रदायिक क्षेत्र में चले गये, बाहर से अलग रहकर भीतर से पुराने लिबरलों में मिल गये। सन् २० के असहयोग-आन्दोलन के स्थगित हो जाने पर भारत के नगर-

नगर में इतने जोर-शोर से साम्प्रदायिक दंगे हुए कि उतने जोर-शोर से असहयोग-आन्दोलन भी नहीं चला था। असहयोग-आन्दोलन तो शताब्दियों की बीती हुई बात लगने लगा था। यहाँ यह स्पष्ट कहना होगा कि इन साम्प्रदायिक दङ्गों के कारण वे ही लोग थे जो असहयोग-आन्दोलन के स्थगित होने पर कांग्रेस के प्रभाव से बाहर चले गये थे। इन दङ्गों में एक ओर आर्यसमाज ने भाग लिया, दूसरी ओर खिलाफत आन्दोलन के अगुओं ने। इन दङ्गों का आरम्भ हिन्दू या मुसलमान किसकी ओर से हुआ ?—यह प्रश्न बहुत कुछ इसलिए व्यर्थ हो जाता है कि हिन्दू और मुसलमान दोनो ही पराधीनता के अभिशाप से राहु-ग्रस्त हैं, दोनों का बुद्धि-हरण हो गया है। भाग्यवादियों की नियति की भाँति ही इन अभागे साम्प्रदायिकों की हरकतों का सूत्र-सञ्चालन किसी अन्य शक्ति के हाथो में है। ये तो कठपुतले मात्र हैं। इन दङ्गो से न हिन्दुओ को कोई लाभ था और न मुसलमानों को। यह तो जमींदार के हाथ में पड़ी हुई जमीन के लिए गुमाश्तो के उकसाने पर दो खेतिहरों की सी लड़ाई थी, जिसमें दोनों ही हानि उठाते हैं, फिर भी जमीन एक तीसरे की बनी रहती है, जब कि परस्पर के स्नेह-सहयोग से जमीन पर उन्हीं का भाई-चारा हो सकता है।

सन् २० के आन्दोलन के बाद के उन्हीं साम्प्रदायिक दङ्गों को लक्ष्य कर अपने एक भाषण में स्वामी सत्यदेव ने कहा था कि महात्मा गान्धी ने उस समय सत्याग्रह को रोककर अन्यतम राष्ट्रीय

शासक और शासित अपने प्रश्नों को आपस में निपटारा कर लेते। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, सरकार ने हमारे मुकाबिले में हमारे ही भाइयों को मोर्चे पर लाकर खड़ा कर दिया, शासितों के भीतर से ही अपने सिखाये-पढ़ाये लाड़िलों को सार्वजनिक प्रतिद्वन्द्वी बना दिया। इसका सूत्र यह है कि सन् २० के असहयोग-आन्दोलन में खिलाफत का मसला लेकर मुसलमान भाई भी हमारे साथ आ मिले थे। राष्ट्रीय प्रश्नों के साथ खिलाफत के प्रश्न का क्या तुक था, यह तो समय ने ही उसे 'बेतुका' साबित कर बतला दिया। किन्तु उस समय इसी संकीर्ण प्रश्न को लेकर मुसलमान भी असहयोगी और सत्याग्रही बन गये थे। चौरीचौरा कांड के बाद महात्मा ने चलती हुई ट्रेन की भाँति सत्याग्रह को एकाएक रोककर जब अपना राष्ट्रीय उद्योग सामाजिक कार्यक्रम की ओर उन्मुख कर दिया तब जिन्हें राष्ट्रीय हिताहित से कोई सरोकार नहीं था, जो केवल अपने हलवे-माँड़े के लिए ही असहयोग-आन्दोलन में शामिल हो गये थे, वे तुरत-फुरत कांग्रेस से छूमन्तर हो गये। यदि राष्ट्रीय आन्दोलन चलता रहता तब भी वे बीच में ही साथ छोड़ देते, उनके स्वार्थों की संकीर्णता अथवा उनकी लालसाओं की चञ्चलता को देखते हुए यह निश्चित था। ऐसे लोग स्पष्ट रूप से साम्प्रदायिक क्षेत्र में चले गये, बाहर से अलग रहकर भीतर से पुराने लिबरलों में मिल गये। सन् २० के असहयोग-आन्दोलन के स्थगित हो जाने पर भारत के नगर-

नगर में इतने ज़ोर-शोर से साम्प्रदायिक दंगे हुए कि उतने ज़ोर-शोर से असहयोग-आन्दोलन भी नहीं चला था। असहयोग-आन्दोलन तो शताब्दियों की बीती हुई बात लगने लगा था। यहाँ यह स्पष्ट कहना होगा कि इन साम्प्रदायिक दङ्गों के कारण वे ही लोग थे जो असहयोग-आन्दोलन के स्थगित होने पर कांग्रेस के प्रभाव से बाहर चले गये थे। इन दङ्गो में एक ओर आर्यसमाज ने भाग लिया, दूसरी ओर खिलाफत आन्दोलन के अगुओं ने। इन दङ्गों का आरम्भ हिन्दू या मुसलमान किसकी ओर से हुआ?—यह प्रश्न बहुत कुछ इसलिए व्यर्थ हो जाता है कि हिन्दू और मुसलमान दोनो ही पराधीनता के अभिशाप से राहु-ग्रस्त है, दोनों का बुद्धि-हरण हो गया है। भाग्यवादियों की नियति की भाँति ही इन अभागे साम्प्रदायिकों की हरकतों का सूत्र-सञ्चालन किसी अन्य शक्ति के हाथों में है। ये तो कठपुतले मात्र है। इन दङ्गों से न हिन्दुओं को कोई लाभ था और न मुसलमानों को। यह तो ज़मींदार के हाथ में पड़ी हुई ज़मीन के लिए गुमाश्तों के उकसाने पर दो खेतिहरों की सी लड़ाई थी, जिसमें दोनो ही हानि उठाते है, फिर भी ज़मीन एक तीसरे की बनी रहती है, जब कि परस्पर के स्नेह-सहयोग से ज़मीन पर उन्हीं का भाई-चारा हो सकता है।

सन् २० के आन्दोलन के बाद के उन्हीं साम्प्रदायिक दङ्गों को लक्ष्य कर अपने एक भाषण में स्वामी सत्यदेव ने कहा था कि महात्मा गान्धी ने उस समय सत्याग्रह को रोककर अन्यतम राष्ट्रीय

भूल की थी। सत्याग्रह यदि चालू रहता तो उसमें हिन्दू-मुसलमानों का सम्मिलित बलिदान परस्पर की एकता को सुदृढ़ कर देता। किन्तु यहाँ यह स्मरण दिला देना ठीक होगा कि सन् १७ के महायुद्ध के बाद पञ्जाब-हत्याकाण्ड में हिन्दू-मुसलमानों का रक्त एक ही प्रवाह में बहा था। उस क्रूर काण्ड में दोनों का सम्मिलित बलिदान क्या राष्ट्रीय एकता के लिए कम था? क्या दोनों ने यह स्पष्ट नहीं देख लिया था कि एक तीसरी शक्ति के द्वारा हम भूने गये हैं, उस शक्ति के द्वारा जो न हिन्दू की परवाह करती है और न मुसलमान की। इतने साफ सबक के बाद भी साम्प्रदायिक दंगे क्यों हुए? क्यों हिन्दू-मुसलमानों ने परस्पर एक दूसरे को अपना शत्रु समझा? यह सब पराधीनता का अभिशाप है, बिना उससे मुक्त हुए हृदय के विमल लोचन नहीं खुल सकते।

हाँ तो, सन् २० का सत्याग्रह स्थगित कर देने पर भी महात्मा ने अपने सामाजिक कार्यों द्वारा राष्ट्रीय जागृति बनाये रखी। सत्याग्रह स्थगित कर एक प्रकार से महात्मा ने राष्ट्रीय निरीक्षण किया, कौन कितने पानी में है, इसका अन्दाज लगाया और आन्दोलन के स्थगित-काल में राष्ट्रीय जागृति को यथाशक्ति पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न किया। फलतः सन् ३० में फिर सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू हुआ, सन् २० की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होकर। इस बार भी मुसलमान इसमें शामिल हुए, किन्तु वे मुसलमान बाहर ही

रहे जो पहले आन्दोलन में खिलाफत का मसला लेकर शामिल हुए थे। और मुस्लिम-लीग तो ऐसे राष्ट्रीय आन्दोलन में कभी शामिल हुई ही नहीं थी।

सन् २० से ३० के दस वर्षों में ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत् बहुत कुछ बदल चुका था। साम्प्रदायिक प्रश्न तो दूर, राष्ट्रीय प्रश्न भी एक बड़े पैमाने पर रखकर देखा जाने लगा था। संसार की आधुनिक समस्याएँ और उनका अन्तर्देशी सम्बन्ध नवयुवकों के विचार का दृष्टि-बिन्दु बन गया था। ऐसे नवयुवकों से साम्प्रदायिकता की आशा तो की ही नहीं जा सकती थी, जब कि वे कांग्रेस से भी आगे बढ़ने के लिए उतावले थे। परन्तु देश में कांग्रेस के सिवा और कोई प्रगतिशील तथा प्रभावशाली संस्था नहीं थी, अतएव नये दृष्टिबिन्दुओं के नवयुवक भी कांग्रेस में ही शामिल हो गये। इन्हीं में वे नवयुवक मुसलमान भी थे, जो सन् २० में मुकुल रहकर सन् ३० में तरुण हुए। इनके अतिरिक्त, इस बार के आन्दोलन में वे मुसलमान भी साथ रहे, जो सन् २० के आन्दोलन में सम्मिलित तो थे, किन्तु उसके स्थगित-काल में सार्वजनिक क्षेत्र से अदृश्य रहे। न तो साम्प्रदायिक दङ्गों में उनका नाम सुनाई पड़ा और न महात्मा के खादी-प्रचार के दौरों में। शायद सामाजिक कार्यों में उन्हें कोई राष्ट्रीयता नहीं दिखलाई पड़ी हो, क्योंकि खादी को छोड़कर बाक़ी सभी सामाजिक कार्य-क्रम हिन्दुओं की भीतरी बुराइयों को दूर करने के लिए था। यथा,

लन्दन की हाटों में तुमको
अपनी डाँड़ी* का ध्यान रहे।

× ×

जा विदा तुझे चीत्कारों में
स्वागत बलि के उपहारों में।

महात्मा ने वहाँ अपनी टेक राजसी स्वागत के आडम्बरों में भी बनाये रक्खी।

[६]

आखिर महात्मा लन्दन से निराश लौटा। शासकों का जनता के मन पर तो कोई अधिकार नहीं, किन्तु जो शासन के पायक हैं उनके द्वारा सरकार अपने वैधानिक चक्रव्यूह में जनता के प्रतिनिधियों को भूलभुलैया देने में कुशल है। इसी चक्रव्यूह से दूर रहकर राष्ट्रीय ध्येय को प्राप्त करने के लिए कांग्रेस ने जनता के ही स्वावलम्बन को जगाया है। गोलमेज़ कान्फ्रेंस में हमारे शासक जाग्रत् राष्ट्र को भूल गये और अपने सामने रखा—शतरञ्ज की गोटियों को। शासकों ने वहाँ भी वही चाल चली जो यहाँ भारत में चलते आये हैं अर्थात् उन्होंने साम्प्रदायिक वैषम्य तथा अल्पसंख्यकों के राष्ट्रीय विभेद को इम्पॉर्टेंट बना दिया।

---

* डाँड़ी = तराज़ू, भारत की माँग का तराज़ू; डाँड़ी-यात्रा जिसका लक्ष्य स्वाधीनता।

ध्यान कम गया। गोलमेज़ कान्फ्रेंस में सरकार ने हिन्दू मुसलमानों में जो फूट डाल दी थी, वही फूट हरिजनों का मसला लेकर हिन्दुओं में भी। एक प्रकार से राष्ट्र की आकांक्षाओं को उसने बेड़ी-दर-बेड़ी पहना दी। था तो यह सामाजिक मसला, किन्तु इनमें से किसी भी एक बेड़ी को तोड़ना राष्ट्रीय स्वाधीनता की ओर ही बढ़ना था। राष्ट्रीय क्षेत्र में हिन्दू मुसलमानों के वैषम्य को दूर करने का प्रयत्न तो अरसे से चला ही आ रहा था, अब हरिजनों के प्रश्न को लेकर महात्मा ने एक अन्दरूनी बेड़ी को भी झटका दे दिया। यह बेड़ी अभी तक टूट नहीं सकी है, ठीक उसी प्रकार जैसे हिन्दू-मुसलमानों की विषमता की कड़ी। यदि टूट ही जाती तो आज इतना रोना ही क्यों रह जाता, स्वाधीनता में कसर ही क्या रह जाती। जिनके स्वार्थ विषमताओं में ही पलते हैं उन्हें अपना 'पेंच' बनाकर सरकार हमारी बेड़ियों को ढीली नहीं होने देती। उन्हें गुरुमन्त्र देकर वह हमारी बेड़ियों को और भी कसती जाती है और स्वयं तटस्थ रहकर हमें आपस में ही निपटारा कर लेने की चुनौती देती है। ख़ैर, पराधीनता का यह अभिशाप तो हमें झेलना ही है, जब तक झेलें।

[७]

सन् ३० के आन्दोलन के बन्द हो जाने पर जब देश के सामने पुनः कोई कार्यक्रम नहीं रह गया, तब सोचा गया कि विधान की दुहाई देनेवालों को आँखें खोलने के लिए एक बार वैधानिक

ढङ्ग से भी राष्ट्रीय प्रयत्न कर लिया जाय। गोलमेज़ कान्फ्रेंस ने प्रान्तों को स्वायत्त शासन देकर पुराने विधान-प्रेमियों की दृष्टि में मानों काफ़ी उदारता प्रदान कर दी थी। इस वैधानिक चक्रव्यूह के भेदन के लिए भी कांग्रेस महात्मा की सहमति से तैयार हो गई, यद्यपि हरिजनों और हिन्दू-मुसलमानों के पृथक् निर्वाचन के रूप में सरकार ने अपनी माया को स्पष्ट कर दिया था। किन्तु कांग्रेस का लक्ष्य विधान को कार्यान्वित करना नहीं बल्कि वैधानिक चक्रव्यूह को तोड़ना था। अब तक हम बाहर लड़ते थे, इस बार गढ़ के भीतर प्रवेश कर उसकी नींव को हिला देने की बात सोची गई। जो राष्ट्रीय कार्यक्रम जनता के स्वावलम्बन से चलाया जा रहा था उसे वैधानिक साधनों से भी चलाने का उपाय सोचा गया। कांग्रेस कौंसिलों के चुनाव में खड़ी हुई और आठ प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हो गई। अब तक सरकारी हानि-लाभ को सामने रखकर प्रान्तीय शासन चलता था, अब राष्ट्रीय हानि-लाभ का ध्यान रखकर कांग्रेसी सरकारों ने अपने थोड़े से वित्त में बहुत कुछ करने का हौसला किया। यों कहें कि पहिले का शासन खुदग़र्ज़ रियलिस्ट था तो कांग्रेसी शासन लोक-हितैषी आइडियलिस्ट। जिन मदों से (यथा, शराबखोरी इत्यादि) सरकार को काफी आमदनी हो सकती थी उन्हें भी बंद कर कांग्रेसी सरकारों ने शिक्षा, ग्राम-सुधार और उद्योग-धंधों की ओर राष्ट्रीय क़दम बढ़ाया।

ध्यान कम गया। गोलमेज कान्फ्रेंस में सरकार ने हिन्दू मुसलमानों में जो फूट डाल दी थी, वही फूट हरिजनों का मसला लेकर हिन्दुओं में भी। एक प्रकार से राष्ट्र की आकांक्षाओं को उसने बेड़ी-दर-बेड़ी पहना दी। था तो यह सामाजिक मसला, किन्तु इनमें से किसी भी एक बेड़ी को तोड़ना राष्ट्रीय स्वाधीनता की ओर ही बढ़ना था। राष्ट्रीय क्षेत्र में हिन्दू मुसलमानों के वैषम्य को दूर करने का प्रयत्न तो अरसे से चला ही आ रहा था, अब हरिजनों के प्रश्न को लेकर महात्मा ने एक अन्दरूनी बेड़ी को भी झटका दे दिया। यह बेड़ी अभी तक टूट नहीं सकी है, ठीक उसी प्रकार जैसे हिन्दू-मुसलमानों की विषमता की कड़ी। यदि टूट ही जाती तो आज इतना रोना ही क्यों रह जाता, स्वाधीनता में कसर ही क्या रह जाती। जिनके स्वार्थ विषमताओं में ही पलते है उन्हें अपना 'पंच' बनाकर सरकार हमारी बेड़ियों को ढीली नहीं होने देती। उन्हें गुरुमन्त्र देकर वह हमारी बेड़ियों को और भी कसती जाती है और स्वयं तटस्थ रहकर हमें आपस में ही निपटारा कर लेने की चुनौती देती है। खैर, पराधीनता का यह अभिशाप तो हमे झेलना ही है, जब तक झेलें।

[७]

सन् ३० के आन्दोलन के बन्द हो जाने पर जब देश के सामने पुनः कोई कार्यक्रम नहीं रह गया, तब सोचा गया कि विधान की दुहाई देनेवालों की आँखें खोलने के लिए एक बार वैधानिक

ढङ्ग से भी राष्ट्रीय प्रयत्न कर लिया जाय। गोलमेज़ कान्फ्रेंस ने प्रान्तों को स्वायत्त शासन देकर पुराने विधान-प्रेमियों की दृष्टि में मानो काफ़ी उदारता प्रदान कर दी थी। इस वैधानिक चक्रव्यूह के भेदन के लिए भी कांग्रेस महात्मा की सहमति से तैयार हो गई, यद्यपि हरिजनों और हिन्दू-मुसलमानों के पृथक् निर्वाचन के रूप में सरकार ने अपनी माया को स्पष्ट कर दिया था। किन्तु कांग्रेस का लक्ष्य विधान को कार्यान्वित करना नहीं बल्कि वैधानिक चक्रव्यूह को तोड़ना था। अब तक हम बाहर लड़ते थे, इस बार गढ़ के भीतर प्रवेश कर उसकी नींव को हिला देने की बात सोची गई। जो राष्ट्रीय कार्यक्रम जनता के स्वावलम्बन से चलाया जा रहा था उसे वैधानिक साधनों से भी चलाने का उपाय सोचा गया। कांग्रेस कौंसिलों के चुनाव में खड़ी हुई और आठ प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हो गई। अब तक सरकारी हानि-लाभ को सामने रखकर प्रान्तीय शासन चलता था, अब राष्ट्रीय हानि-लाभ का ध्यान रखकर कांग्रेसी सरकारों ने अपने थोड़े से वित्त में बहुत कुछ करने का हौसला किया। यों कहें कि पहिले का शासन खुदग़र्ज़ रियलिस्ट था तो कांग्रेसी शासन लोक-हितैषी आइडियलिस्ट। जिन मदों से (यथा, शराबखोरी इत्यादि) सरकार को काफी आमदनी हो सकती थी उन्हें भी बंद कर कांग्रेसी सरकारों ने शिक्षा, ग्राम-सुधार और उद्योग-धंधों की ओर राष्ट्रीय क़दम बढ़ाया।

उनके कार्यों की प्रशंसा बृटिश अधिकारियों ने भी की, किन्तु अपने ही भाइयों ने ख़ूब भर्त्सना की। हमारे ये वे भाई थे जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में हमारा साथ दिया था। किन्तु अपनी ही सरकार स्थापित होने पर उन्होंने वह रवैया अख़्तियार किया जिसकी सम्भावना लिबरलों द्वारा ही की जा सकती थी अथवा नौकरशाही के किराये के पिट्ठुओं से। अवश्य ही बृटिश सरकार की ओर से न बोलकर वे राष्ट्र की ओर से बोलने का दम भरते थे, किन्तु उनकी मनोवृत्ति लिबरलों की तरह ही आक्रमणात्मक थी। अपने सुन्दर शब्दों में यह विरोधी दल 'प्रगतिशील' कहलाता आया है और यह वह दल है जिसके पास कोई कार्यक्रम नहीं किन्तु क्रान्ति है। मुझे पूरे शब्द याद नहीं, किन्तु यह याद है कि कांग्रेसी सरकारों के समय में बिहार में अन्धाधुन्ध किसान-आन्दोलन के समाचार पढ़कर एक अँगरेज़ ने एक बृटिश अधिकारी को लिखा था कि अमुक व्यक्ति (बिहार के एक प्रमुख किसान-आन्दोलक) को प्रोत्साहन दो। उसके द्वारा कांग्रेसी सरकारों की बदनामी में सहायता मिलेगी। वह एक प्रकार से हम लोगों का सहायक है।

यदि यह बात ठीक है तो क्या वे आन्दोलक राष्ट्र के शुभेच्छु थे? उन्होंने जिस भद्दे ढङ्ग से कांग्रेस और कांग्रेसी सरकारों का विरोध शुरू किया, उसे देखते यह ज्ञात होता है कि वे जनहित के उतने उतावले नहीं थे जितने कि लीडरी लूट लेने के लिए।

अस्तु।

[८]

सन् १९३९ के अक्टूबर में फिर यूरोपीय युद्ध छिड़ गया। ऐसे ही समय उक्त दल के हिमायतियों ने जोर दिया कि इस बार फिर आन्दोलन शुरु कर देना चाहिए, स्वतन्त्रता लेने का ठीक यही समय है। कांग्रेस ने भी समय की गम्भीरता को महसूस किया, साथ ही उसने जल्दबाजी के बजाय स्थिति का ठीक ठीक निदान कर लेना उचित समझा। इस बार के युद्ध में ब्रिटेन पोलैण्ड की स्वतन्त्रता के मसले को लेकर कूदा। स्वयं साम्राज्यवादी होते हुए भी उसने यह घोषणा की कि वह खतरे में पड़े हुए राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहा है। कांग्रेस ने कहा कि सरकार अपनी नीति स्पष्ट करे, यदि वह स्वतन्त्रता के लिए ही लड़ रही है तो भारत को पराधीन रखकर वह उससे सहायता की आशा कैसे कर सकती है? कांग्रेस की जिज्ञासा पर तत्कालीन भारत-मन्त्री लार्ड जेटलैण्ड ने अपना जो वक्तव्य दिया उससे कांग्रेस को असन्तोष हुआ, उसे लगा कि यह वक्तव्य सदियों पुरानी साम्राज्यवादी भाषा में दिया गया है। मनोवृत्ति में कोई परिवर्तन न देखकर कांग्रेस ने कांग्रेसी सरकारों से इस्तीफा दिला दिया। यह सरकार के साथ असहयोग का पुनः प्रारम्भ हुआ। इसके बाद वायसराय लिनलिथगो ने सलाह-मशविरा के लिए महात्मा गांधी और राजेन्द्रबाबू (तत्कालीन राष्ट्रपति) के अतिरिक्त देश के अन्य दलों के नेताओं को भी निमन्त्रित किया, मानो राष्ट्र इतने लोगों में विभक्त हो। राष्ट्रीय दृष्टि से विभक्त

न होते हुए भी नौकरशाही की दृष्टि में विभक्त तो था ही। इस अवसर पर अम्बेडकर (हरिजन) भी बोले, जिन्ना (मुसलिम) भी बोले, बिलकुल उसी प्रकार जैसे गोलमेज़ कान्फ्रेंस में थे साम्प्रदायिक बुलबुल चहके थे। वही पुराना स्वर, पुराना राग, मानों लार्ड जेटलैण्ड के वक्तव्य की ही प्रतिध्वनियाँ। वायसराय के साथ बातचीत करने पर महात्मा गांधी के सामने फिर वही पुराना नासूर (साम्प्रदायिकता) प्रकट हुआ जिससे निराश होकर वे गोलमेज़-कान्फ्रेंस (लन्दन) से वापस लौटे थे। ८ नवम्बर को देश के सामने उन्होंने स्थिति को यों स्पष्ट किया—

"मैं आशा करता था, और अब भी आशा करता हूँ कि वर्तमान यूरोपियन युद्ध का औचित्य सिद्ध करने तथा शीघ्र उसका अन्त करने के लिए भारत जैसे महान् और प्राचीन देश को अपने जुए से स्वतन्त्र करना आवश्यक मानकर ब्रिटेन युद्ध के इस अभिशाप को वरदान बना देगा।

"वायसराय की सचाई पर पूर्ण विश्वास होने के कारण मैं अपने सहयोगियों से अनुरोध करूँगा कि धैर्य न खोवें। सत्याग्रह तब तक नहीं हो सकता जब तक—

(१) वायसराय समझौते का प्रयत्न कर रहे हैं,

(२) मुस्लिम लीग ने रास्ता रोक रखा है और

(३) कांग्रेसजनों में अनुशासन और अनैक्य है।"

ठीक इसी अवसर पर हिटलर ने भी एक मनोरञ्जक घोषणा की—"यदि भारत को स्वतन्त्र कर दे तो मैं ब्रिटेन के चरणों में!" यह पोलैंड की स्वतन्त्रता के नाम पर जर्मनी से छिड़े हुए युद्ध की ओर हिटलर का गहरा व्यङ्ग था।

ऊपर स्थिति के जिन तीन पहलुओं की ओर महात्माजी ने निर्देश किया है उनमें से दूसरा पहलू अर्थात् साम्प्रदायिक मसला इतना नाज़ुक रहा है कि जब कि सत्याग्रह-आन्दोलन में सरकार के दमन से राष्ट्र को आत्मिक बल मिलता आया है, साम्प्रदायिक दङ्गों से उससे अधिक राष्ट्रीय क्षति होती रही है। तीसरा पहलू, अर्थात् कांग्रेस जनों में अनुशासन और अनैक्य, हमारे विशृंखल सामाजिक जीवन के वेतुकेपन को सूचित करता है। अपने घर के भीतर की अस्वच्छता के लिए हम कोई मुरौवत नहीं करते। कांग्रेस ने भी अनुशासन-भङ्ग करनेवालों को बड़ी बेमुरौवती से अपने भीतर से अलग कर दिया। ये अलग हुए या इन्हीं के ढंग के अन्य लोगों ने कांग्रेस के विरुद्ध पार्टियाँ बनाईं और अपनी ही दूषित मनोवृत्तियों के कारण कांग्रेस (महात्मा गांधी) से अधिक प्रभावशाली नहीं हो सके। इन्हीं लोगों ने इस युद्ध-काल में पुनः सत्याग्रह शुरू करने के लिए कांग्रेस को कुरेदना शुरू किया। यदि इन्हीं की बातों से पुनः सत्याग्रह शुरू कर दिया जाता तो पहली बात किन्तु बड़ी कड़वी बात यह कि ये अपनी उच्छृङ्खलता से सत्याग्रह के स्वयं बाधक होते, जिस प्रकार कांग्रेसी अनुशासन

के उल्लङ्घक साबित हो चुके थे। दूसरी बात, जिसकी ओर महात्मा ने बड़ी ही चिन्तापूर्ण भाषा में ध्यान दिलाया, वह यह है कि इस समय सत्याग्रह शुरू करने पर साम्प्रदायिक दङ्गों के रूप में गृह-युद्ध प्रज्वलित हो उठेगा और तब राष्ट्रीय शक्तियाँ आपस में ही विध्वस्त होंगी। सचमुच यदि ऐसी ही बात होती तब तो नौकर-शाही की ही मनचाही हो जाती। वह भारत के प्रश्नों की ओर से छुटकारा पाकर एकमात्र यूरोपीय युद्ध की ओर ही एकाग्र हो जाती। उधर वह अपने भाग्य का निपटारा करती, इधर हम अपने दुर्भाग्य की होली खेलते रहते!

किन्तु इस प्रसंग का एक दूसरा पहलू भी है। सन् २० या ३० के राष्ट्रीय आन्दोलनों के चलते समय साम्प्रदायिक दंगे नहीं हुए। सन् ३० के आन्दोलन के स्थगित होने पर जो साम्प्रदायिक दंगे हुए वे तो सन् २० के बाद के दंगों से भी भीषण थे। साम्प्रदायिक दंगों ने तो जब जब आन्दोलन बन्द हुआ तभी तब जोर दिखाया। इसमें क्या रहस्य है? असल बात तो यह है कि सत्याग्रह और साम्प्रदायिक दंगे दोनों साथ साथ चल ही नहीं सकते। साम्प्रदायिक दंगे तो सत्याग्रह के ख़ामोश होने पर ग़ैरसरकारी उत्तर मात्र है। और जब सत्याग्रह चलता रहता है तो उसका उत्तर स्वयं सरकार दमन से दे लेती है। बाद में साम्प्रदायिक दंगे उसी दमन के दामन बन जाते है। सत्याग्रह के चालू रहने पर दमन और दामन दोनों साथ-साथ उसके अवरोध के लिए

सामने आवे तो इससे सरकारी नीति बेपर्द हो जायगी। इससे साम्प्रदायिक समस्या के प्रति सरकारी नीति का इतना साफ खुलासा हो जायगा कि जनता की आँखें अपने आप खुल जायँगी। सरकार जानती है कि सत्याग्रह का अवरोध साम्प्रदायिक दंगों से नहीं किया जा सकता। यदि उस समय साम्प्रदायिक दंगे हुए तो सुसंस्कृत सत्याग्रहियों की अपेक्षा असंस्कृत साम्प्रदायिक वर्ग अनियन्त्रित और अराजक हो जायगा, फिर तो सरकार को अपने ही दामन को उधेड़ना पड़ेगा।

एक दूसरी दिशा में इसका एक कटु अनुभव सर सिकन्दर की सरकार को अभी हाल में खाकसारों का दमन करने में हो चुका है। यद्यपि खाकसार-आन्दोलन साम्प्रदायिक न होकर राजनीतिक था, फिर भी वह स्थिति की उस भीषणता को सूचित करता है जो साम्प्रदायिक दंगों के अराजक रूप में प्रकट हो सकती है। राजनीतिक पृथक्करण के रूप में हिन्दुओं और मुसलमानों का प्रश्न तथा सामाजिक पृथक्करण के रूप में हिन्दुओं के भीतर हरिजनों का और मुसलमानों के भीतर शिया-सुन्नी या तबर्रों का प्रश्न क्या बर्बर अराजकता की सीमा पर नहीं पहुँच सकता? यह कहा जा सकता है कि सत्याग्रह की तब की राजनीतिक परिस्थिति और युद्ध-काल की साम्प्रदायिक परिस्थिति में बहुत अन्तर है। तब जो दङ्गा सम्भव नहीं था, वह अब सम्भव हो सकता है। किन्तु देश-वासियों

को यह भी बतला दिया गया है कि इस बार यदि पुनः सत्याग्रह हुआ तो वह पिछले आन्दोलनों से भिन्न प्रकार का होगा और महात्मा के ही पूर्व वक्तव्य के शब्दों में—"मुस्लिम-लीग से काम चलाने लायक समझौता हुए बिना लीग का भी विरोध करना पड़ेगा।"

जो हो, सत्याग्रह के आचार्य महात्माजी हैं, देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार वे ही राष्ट्रीय आन्दोलन की ठीक गति-विधि का ज्ञान रखते हैं। उन पर विश्वास कर हम ठगाये नहीं हैं, भविष्य में भी हमें उनका भरोसा है। वे एक स्थितप्रज्ञ गम्भीर द्रष्टा हैं। कांग्रेस ने इस युद्ध-काल में भी रामगढ़ में देश की बागडोर उन्हीं के हाथों में सौंप दी है। इसके आगे भविष्य की बातें आनेवाले इतिहास में देखी जायँगी। और उस इतिहास की जाँच, महात्मा के ८ नवम्बर सन् १९३९ के वक्तव्य के इस अंश से की जायगी—

"ब्रिटेन ने अब तक तथोक्त बहुसंख्यकों के विरुद्ध अल्पसंख्यकों को खड़ा करके अपने हाथ में अधिकार रखा है—किसी भी साम्राज्यवादी व्यवस्था में यह अनिवार्य है—और इस प्रकार इन दोनों में समझौता होना लगभग असंभव कर दिया गया है। अल्पसंख्यकों के संरक्षण का उपाय ढूँढ़ने का भार इन दोनों पक्षों पर ही छोड़ दिया जाना चाहिए। जब तक ब्रिटेन इस भार को वहन करना अपना कर्तव्य मानेगा तब तक उसे भारत को अधीन

राज्य बनाये रखने की आवश्यकता भी प्रतीत होती रहेगी और भारत के उद्धार के लिए उतावले देशभक्त, यदि उनका पथ-प्रदर्शन मैं कर सका तो, अहिंसामय रीति से और यदि मैं असफल हुआ और इस प्रयत्न में मर मिटा तो, हिंसामय प्रकार से ब्रिटेन से लड़ते रहेंगे।"

[९]

इस राष्ट्रीय चित्ररेखा में विरोधी रंग ये हैं—

(१) साम्प्रदायिक, (२) लिबरल, (३) क्रान्तिकारी, (४) देशी रियासत।*

असल में ये सब विभिन्न आकृतियों में एक ही प्रकृति के रूपान्तर हैं। ये सभी राष्ट्र-विरोधी हैं। इनके विरोध का मूलाधार

---

* महात्मा गान्धी के अनुसार स्वार्थों के स्तम्भों का वर्गीकरण इस प्रकार है—(१) यूरोपियनों का स्वार्थ, (२) सेना, (३) देशी नरेश और (४) साम्प्रदायिक फूट। इनमें भी मुख्य प्रथम है। अन्तिम तीन उसकी पुष्टि के लिए बनाये गये हैं। बृटिश शासक कहते हैं कि "पहिले यूरोपियनों के स्वार्थ की रक्षा का वचन दो, अपनी सेना तैयार कर लो, राजाओं से समझौता कर लो, और सम्प्रदायवादियों अर्थात् अल्पसंख्यकों को राज़ी कर लो।"—यह उलटा न्याय है। जो काम उन्हें करना चाहिए वह हमसे करने को कहते हैं। जो काम तब तक हो नहीं सकता जब तक प्रभुशक्ति उनके हाथ में रहेगी, उसे कर लेने के बाद हमें प्रभुशक्ति या स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार दे रहे हैं!

आर्थिक स्वार्थ है। व्यक्तिगत या वर्ग-विशेष के स्वार्थों का सवाल लेकर ये कांग्रेस के प्रतिकूल हैं। यह कहना अप्रिय होगा कि जनहित के बजाय सिद्धान्त के नाम पर परोक्ष रूप से ये अपनी निजी महत्त्वाकांक्षाओं के प्रतिद्वन्द्वी हैं। सम्प्रदायवादियों और देशी रियासतों की मनोवृत्तियाँ तो बिलकुल स्पष्ट हैं, किन्तु लिबरलों और क्रान्तिकारियों की मनोवृत्ति गुलाबी पत्तों की ओट में काँटे की तरह छिपी हुई है। एक (लिबरल) मौज से आराम-कुर्सी पर टाँगें फैलाकर यदि लोक-हितैषी सिद्धान्तों की रईसी करता है तो दूसरा (क्रान्तिकारी) उसी का साझेदार होने के लिये, कीट-पतंगों की तरह कुचले गये दीन-विपन्नों के नाम पर लाउड थिंकिंग करता है। दोनों अपनी-अपनी पाशविक आवश्यकताओं के लिए सजग हैं। मानवीय विवेक दोनों का खोया हुआ है। ठीक इसके प्रतिकूल कांग्रेस सुधीर होकर जनता के कष्टों को दूर करने के लिए वास्तविक रचनात्मक कार्यों को अग्रसर करना चाहती है। प्रतिभाशाली कवि और तुक्कड़ में जितना अन्तर है, उतना ही कांग्रेस (महात्मा) और उसके विरोधियों में!

आर्थिक लक्ष्य कांग्रेस का भी है, किन्तु जब कि विरोधी दल (राजनैतिक, वैयक्तिक या साम्प्रदायिक रूप में) केवल अर्थलिप्सु हैं, तब कांग्रेस केवल राजनैतिक ही नहीं—नैतिक संस्था भी है। उसने जीवन के आदर्शों को सामने रखकर ही राजनीतिक समस्याओं को अपने हाथ में लिया है। राजनीति स्वयं अपने में कोई पूर्ण

चीज नहीं है, वह तो जीवन के आदर्शों और विश्वासों के सञ्चालन का एक राजविधान मात्र है। यदि आदर्श ठीक नहीं है तो राजनीति जीवन का गलत प्रतिनिधित्व कर सकती है और आज संसार में यही हो रहा है। कांग्रेस ने इसी राजनैतिक विडम्बना को दूर करने के लिए नैतिक दृष्टिकोण को अपनाया है। जीवन के जंगलीपन को दूर कर जिस आदर्श के द्वारा वह पाशविक समाज को मनुष्यों का समाज बनाना चाहती है, उसी आदर्श को उसने अपने राजनैतिक स्वर में सुनाया है। उस स्वर के सफल होने में कुछ सामयिक व्यवधान भी हैं, यथा, पराधीनता, साम्प्रदायिकता, वैयक्तिक स्वेच्छाचारिता। इन्हें निर्मूल करने के लिए उसने जो राष्ट्रीय कार्यक्रम बनाया वे राजनीतिक-से लगते हैं, इसलिए कि ये स्वराबियाँ आज की राजनीति में आ मिली हैं। कांग्रेस आदर्श को अपने सामाजिक कार्यों में मूर्त्तरूप दे रही है और उसको गतिशील करने के लिए राजनीति को नवजीवन दे रही है, ताकि उचित वस्तु उचित साधन से ही परिचालित हो। यह नहीं कि पोलैंड की स्वाधीनता के नाम पर पुरानी साम्राज्यशाही राजनीतिक मनोवृत्ति का संरक्षण हो। बुद्ध ने जैसे राजसत्ताओं को जीवन के आदर्शों में आध्यात्मिक बना दिया, उसी प्रकार गान्धी ने कांग्रेस द्वारा आज की राष्ट्रीय राजनीति को। कांग्रेस जब कि जीवन (संस्कृति) को लेकर चलती है तब अन्य दल जीवन के केवल 'निर्वाह' (राजनीति) को। उनका जीवन-निर्वाह

उस रथ की तरह है जिसमें कोई सारथी (आदर्श) नहीं है, केवल स्वार्थी हैं।

यह एक मज़े की बात है कि कांग्रेस को एक ओर हिन्दू भी कोसते हैं, दूसरी ओर मुसलमान भी, तीसरी ओर क्रान्तिकारी भी, चौथी ओर उसी के भीतर अनुशासन-भंग करनेवाले लोग भी, और तो और, लिबरल भी। इस प्रकार कांग्रेस सभी ओर से विरोधी वातावरणों में रहकर भी सुदृढ़ और सम्मान्य है। इसका कारण केवल एक व्यक्ति की तपस्या है और वह तपस्वी है महात्मा गान्धी। कांग्रेस का निर्माण जब तक महात्मा के आदर्शों पर है तब तक हम देश के विरोधी दलों को उसी (कांग्रेस) के चारों ओर रखकर विचार कर सकते हैं, उसी को केन्द्र बनाकर हम विभिन्न दलों के मनोभावों को माप सकते हैं।

सम्प्रति साम्प्रदायिक प्रश्न ज़ोर पर है। मिस्टर जिन्ना की समझ में कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था है। हिन्दू कहते है, कांग्रेस मुसलमानों का पक्ष लेती है। इस झगड़े में धार्मिक या सांस्कृतिक टच तो है ही नहीं, यदि ऐसा होता तो हमारे मन में मन्दिर की पूजा जैसी पवित्रता होती, मसजिद की अज़ान जैसी तल्लीनता। यह झगड़ा-फसाद तो कांग्रेस के उस राजनीतिक रूप को क्षत-विक्षत करने के लिए है जो उसके आदर्श का साधन मात्र है। कांग्रेस के महान् लक्ष्य को मद्देनजर न रखकर केवल उसके साधन (राष्ट्रीय राजनीति) को खंडित करने का प्रयत्न करना अपने को असामाजिक

प्राणी सिद्ध करना है, जिस समाज में हम रहते हैं उसके पुनर्जीवन के प्रति शुभेच्छु न होकर केवल निजी स्वार्थ का नेतृत्व करना है। यह साम्प्रदायिक प्रश्न धार्मिक (सांस्कृतिक) तो है ही नहीं, साथ ही आर्थिक भी नहीं है। यह साफ शब्दों में नंगापन है। आर्थिक प्रश्न तो समग्र राष्ट्र के हिताहित में मिला हुआ है, क्योंकि हम सब एक ही शासन के अन्दर हैं। और उसी शासन के प्रतिकूल कांग्रेस का सङ्गठन है। यदि उस सङ्गठन पर हम आघात करते हैं तो इसके माने यह कि हम अपने संकुचित स्वार्थों को संरक्षण देनेवाले शासन के वफादार हैं, न कि विशाल राष्ट्र के। सार्वजनिक क्षेत्र में, जहाँ कि लोक-लाज का कुछ भय है, जब हमारा यह हाल है तब व्यक्तिगत जीवन में तो हम भेड़ियों और लकड़बग्घों से कम भयानक न होंगे।

[१०]

कांग्रेसी सरकारों के इस्तीफा दे देने के बाद मुसलिम लीग के नेता मि० जिन्ना ने मुसलमानों से २२ दिसम्बर सन् ३९ को 'मुक्ति-दिवस' मनाने की अपील की। अर्थात्, कांग्रेसी-सरकारें उनके लिए एक कुग्रह थीं, जिनके इस्तीफा देने से उन्हें मुक्ति मिल गई। जब कि स्वाधीनता के नाम पर कांग्रेसी सरकारों ने इस्तफा दिया तब यह अपील स्पष्ट सूचित करती है कि स्वाधीनता के प्रयत्नों का न होना ही मि० जिन्ना के लिए 'मुक्ति' है! क्या मि० जिन्ना ने कभी ब्रिटिश शासन के अत्याचारों के विरोध में भी कभी कोई दिवस

मनाने की अपील की है, या वहाँ से न्यामतें ही न्यामतें मिली हैं। सच तो यह कि उनके लिए गुलामी ही सबसे बड़ी न्यामत है।

यह 'मुक्ति-दिवस' मनाने का हौसला मि० जिन्ना को क्योंकर हुआ ? महात्मा गांधी और राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने मि० जिन्ना को मुस्लिम प्रतिनिधि मानकर उनसे साम्प्रदायिक बातचीत करने ने उन्हें जो असाधारण महत्त्व दे दिया उसी का परिणाम है कि मि० जिन्ना के नेतृत्व के हौसले बहुत ऊँचे उठ गये। और ठीक कांग्रेस के पैमाने पर उन्होंने भी एक अपूर्व प्रोग्राम सोच निकाला—'मुक्ति-दिवस!' इस 'मुक्ति-दिवस' में कितनी गर्हित मनोवृत्ति छिपी हुई है कि जिससे क्षुब्ध होकर मौलाना आजाद को कहना पड़ा कि आनेवाले युग की पीढ़ियाँ बड़ी घृणा से इस घटना को याद करेंगी। यही नहीं, मुस्लिम लीग और मुसलिम लीग के बाहर के मुसलमानों को भी मि० जिन्ना का प्रतिवाद करना पड़ा। सन् २० के आन्दोलन के बाद के साम्प्रदायिक विग्रहों के अवसर पर जहाँ प्रायः सभी मुसलमान राष्ट्रीय हिताहित की ओर से खामोश थे वहाँ सन् ३० के आन्दोलन के बाद के इस साम्प्रदायिक प्रसंग पर अच्छे अच्छे मुसलमान भाइयों ने साम्प्रदायिक रूप में इस राष्ट्रीय प्रवंचना का विरोध किया। इसी से यह सूचित होता है कि देश कितना जग चुका है और एक दिन वह भी आयेगा कि साम्प्रदायिकता की ओट में राष्ट्र के वास्तविक प्रश्नों की ओर से आँखें मूँद लेनेवालों पर इतिहास घृणा से थूक देगा।

जैसा कि महात्माजी ने कहा है साम्प्रदायिक प्रश्नों का सन्तोषजनक निपटारा न होने पर कांग्रेस मुस्लिम लीग का विरोध करके भी सत्याग्रह आरम्भ करेगी, इस रवैये को देखते हुए भविष्य में शायद ऐसा ही करना पड़ेगा। मुस्लिम लीग के साथ तो हिन्दू-महासभा ही आमने-सामने बातचीत कर सकती है। कांग्रेस का आसन इन दोनों से ऊपर है, वह इनके बीच निर्णायक बन सकती है, डिबेटर नहीं।

जब इतने बड़े बृटिश शासन की राजनीति कांग्रेस की गति रोक नहीं सकी, तब उसी के शिष्यों की यह कूटनीति कहाँ तक कारगर हो सकती है! कांग्रेस यदि अपने लक्ष्य में सचाई पर है और उसके साथ पीड़ित राष्ट्र का मनोबल है तो वह सभी विपरीत शक्तियों का अतिक्रम करते हुए आगे बढ़ेगी। सम्प्रति हमारा लक्ष्य है स्वाधीनता। घरेलू मतभेदों को हम स्वतंत्र भारत में ही सुलझायेंगे, क्योंकि पराधीन रखनेवाली शक्तियाँ जब तक यहाँ बनी हुई हैं वे हमें स्वतंत्र होने के लिए इन्हें क्यों सुलझने देंगी। और जब पराधीन रखनेवाली शक्तियाँ रह नहीं जायँगी तब हम एक साथ रहने के लिए स्वयं आपस में उलझने के बजाय सुलझने लगेंगे। उस समय हम देखेंगे कि आज के घरेलू मतभेद केवल समय के विद्रूप मात्र थे। कांग्रेस का अगला क़दम (स्वाधीनता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन का भावी कार्यक्रम) ही इस समय सब से बड़ी प्रतिभा की सृष्टि होगी। देखना है कि वह किस

प्रकार इन बाधाओं की उपेक्षा कर राष्ट्र को एकाग्र कर देनेवाला कदम आगे रखती है।

[११]

जिस प्रकार अभी कांग्रेस और साम्प्रदायिकता का मुक़ाबिला है, उसी प्रकार एक और कठिन प्रसंग गान्धीवाद और समाजवाद का है। समाजवाद साम्प्रदायिकता जैसा संकीर्ण न होकर भी गान्धीवाद के लिए सम्प्रति उसी की भाँति आक्रमणात्मक है। साम्प्रदायिक और समाजवादी सिद्धान्ततः सार्वजनिक साइनबोर्ड रखते हुए भी उच्छृङ्खल मनोवृत्तियों के प्रेरक हो रहे हैं। तरुणों का उष्ण रक्त जितना गरम होता है उतना विवेकयुक्त नहीं, फलतः उनका जोश-खरोश उच्छृङ्खलता को पहले अपनाता है, गंभीर उत्तरदायित्व को बाद में। राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल जो लोग राजनीतिक गुरु-डम का नेतृत्व करते हैं वे इन्हीं तरुणों को बरगला कर। इन्हीं की गरमाहट से वे तेज़ तर्रार बनते हैं। जिस प्रकार कठमुल्ले और पंडे-पुरोहित जनता के अज्ञान से लाभ उठाते हैं उसी प्रकार ये नवयुवकों की भावप्रवण अबोधता से। किन्तु जिस दिन तरुण सचेत हो जाते हैं, उनके नये खून में जिस दिन विवेक का गाढ़ापन आ जाता है, उस दिन आत्मलिप्सु नेताओं का नेतृत्व स्वयं समाप्त हो जाता है और वे बूढ़े बैल की तरह दुनिया की नज़रों से दूर अकेले में ही पगुराते रहते हैं। तरुण नवीनता के उपासक होते हैं, एक शब्द में वे रोमैन्टिक रक्त से बने होते हैं। पुरानी दुनिया में

जब वे कोई नई उथल-पुथल देखते हैं तब उनके रक्त में भी हलचल मच जाती है, फलतः आवेश में या उत्साहाधिक्य में वे पहले उसमें आँख मूँदकर कूद पड़ते हैं। और जब वे उस उथल-पुथल की गहराई में पहुँचते हैं तब तथ्य के तल पर पहुँचकर अपने युग की ठीक जमीन पर भी खड़े हो जाते हैं। इस प्रकार हम तरुणों की प्रगति को देखें—

तरुणों ने एक दिन लिबरलों का साथ दिया था, भारत की राजनीतिक प्रगति तब लिबरलों तक ही सीमित थी। इसके बाद हिन्द महासागर में एक बाड़व-विस्फोट हुआ, गरमदल के नेता के रूप में तिलक सामने आये। नवयुवकों ने तिलक का साथ दिया। तिलक ने राष्ट्र की वास्तविक आकांक्षा स्वराज्य के रूप में रक्खी। किन्तु तिलक असमय ही चले गये, देश की लगन को जगाकर चले गये। लगन वे जगा गये किन्तु रचनात्मक कार्यक्रम नहीं दे पाये। फलतः जागृति को ही प्रचण्ड बनाये रखने के लिए गरमदल के नवयुवक उस क्रांतिकारी पार्टी में चले गये जो बङ्ग-भङ्ग आन्दोलन के समय से देश में एक लक्ष्यहीन राजनीतिक उत्क्रान्ति बनाये हुए थी। यह ऐसा ही हुआ जैसे गृहस्थी के अभाव में यौवन का गुमराह हो जाना। उधर क्रान्तिकारी पार्टी अपनी विभीषिका में लगी रही, इधर महात्मा ने तिलक की स्वराज्याकांक्षा को सामने रखकर राष्ट्रीय रचनात्मक कार्यक्रम का श्रीगणेश कर दिया। देश की जागृति इस कार्यक्रम में खादी के ताने-बाने की

भाँति सङ्गठित हो गई। जिन नवयुवकों ने उथल-पुथल के बीच राष्ट्रीय सतह को समझा वे महात्मा के साथ आ गये। किन्तु जो उथल-पुथल में ही पड़े रह गये अर्थात् जो जोश में अधिक और होश में कम थे, वे या तो साम्प्रदायिकों के साथ जा मिले अथवा क्रान्तिकारियों के साथ। किन्तु कोरे जोश-खरोश के ठण्ढा होने का भी एक समय आता है जब कि वस्तुस्थिति को पहचानकर व्यक्ति को जीवन के प्रति उत्तरदायित्व-पूर्ण हो जाना पड़ता है। फलतः साम्प्रदायिकों और क्रान्तिकारियों को किसी स्थायी निर्माण की ओर बढ़ते न देखकर नवयुवकों को कांग्रेस में ही शामिल हो जाना पड़ा। फिर भी जो कांग्रेस में नहीं आये वे देश से ज्यादा अपने को चाहते थे। ऐसे लोगों के अज्ञान से लाभ उठाकर उनके नेता भी अपनी पाँचों उँगली घी में बनाये रहने के लिए चौकस रहे। इन्हीं मुट्ठी भर खुदगर्जों को लेकर सरकार राजनीतिक उलझाव पैदा करती आ रही है। किन्तु यह बालू की भीत कब तक टिकेगी? विश्वव्यापी लहर क्या इसे एक दिन एक क्षण में ही ढाह नहीं देगी!

हाँ, साम्प्रदायिक क्षेत्र के कार्यकर्त्ता कांग्रेस में नहीं के बराबर आये। आते कैसे? उन्हें राष्ट्र (कांग्रेस) से तो मतलब था नहीं।

— —

[१२]

सन् २८ तक कांग्रेस ब्रिटिश सरकार से ही लड़ रही थी, स्वाधीनता के लिए। इस बीच क्रांतिकारी पार्टी अपनी विभीषिका से सरकार को आतंकित करती रही, दूसरी ओर कांग्रेस से पृथक् मजदूरों के नेता पूँजीपतियों से हड़तालों द्वारा मोर्चा ले रहे थे। क्रांतिकारियों और मजदूर नेताओं के प्रयत्न अपनी अपनी पार्टियों से पूर्ण होकर भी अपूर्ण थे, वे दलबन्दी के दलदल में थे। उनमें आत्मविज्ञापन की जबरदस्त प्रतिद्वन्द्विता थी। ये पार्टियाँ उन बुदबुदों की तरह थीं (और तब तक है जब तक देश स्वाधीन नहीं हो जाता) जो किसी महासिन्धु में समय-समय पर एकाध चट्टान (विक्षोभ) के गिर जाने से उफना उठते है।

लक्ष्य की एकाग्रता के अभाव में अथवा व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के उफान में उनमें गम्भीर सङ्गठन न होने के कारण वे पार्टियाँ केवल प्रदर्शन मात्र रह जाती हैं। पार्टियों की आवाज एक दूसरे से आगे बढ़ जाने के लिए आपस में ही टकराती रहती है। जनता का कष्ट आज उनके लिए एक नई चीज़ है, इसलिए वे उसे सुनाते है, कल किसी भी अच्छी-बुरी नई चीज़ का बोलबाला होने पर उसकी ओर भी दौड़ सकते हैं, शर्त यह कि उसमें उनकी लीडरी क़ायम रहे।

कांग्रेस (महात्मा) में और चाहे जितनी कमी हो, और सबसे बड़ी कमी तो उसमें जवानी के खून की है. किन्तु उसमें आन्तरिक अनुभूति एवं संवेदना का अभाव नहीं है। उसकी दृष्टि पुरानी हो सकती है किन्तु जहाँ तक वह देखती है उसमें आन्तरिक ज्योति है, वह ज्योति देश के दुःख-दैन्य के प्रति विदग्ध है। वह हमदर्दी से बोलती है, बोलने के लिए नहीं बोलती। इसी विदग्ध ज्योति का अन्य पार्टियों में अभाव है। दूसरे शब्दों में जन-हित के नाम पर उनमें व्यक्तिगत लिप्साओं का विद्वेष है, मानव-स्पन्दन-शून्य।

स्थिति यह कि पार्टियों में एक ओर नेता बोल रहे थे, दूसरी ओर कांग्रेस में जनता (देश की नींव) बोल रही थी। कांग्रेस की जनता पुराने संस्कारों में पली हुई है और वह जनता अपनी फरियाद लेकर सदा से शासकों के पास जाती रही है, न कि शासकों

के संरक्षित माण्डलिकों की ओर। कांग्रेस ने इसी जनता को शासकों की निरंकुशता का असहयोगी बना दिया। इस सीधी-सादी अहिंसात्मक लड़ाई में जनता शीघ्र निपुण हो गई। किन्तु मांडलिकों (पूँजीपतियों) के साथ युद्ध छेड़ना उस जनता के लिए जरा चक्करदार रास्ता है। इस रास्ते पर जाकर वह अपना सीधा लक्ष्य तो छोड़ ही बैठती, साथ ही अपने ही घर के एक चक्रव्यूह में फँस जाती। और सदियों की जिन साम्राज्यवादी शक्तियों का सहयोग पाकर ये चक्रव्यूह बने हैं, वे शक्तियाँ ज्यों की त्यों सलामत रहतीं और इन चक्रव्यूहों की रक्षा के लिए अपने सम्पूर्ण कौशल खर्च कर देतीं। होता यह कि जनता तो कुचल जाती और साम्राज्यवादी सरकार तथा उसके चक्रव्यूह (पूँजीवादी) ज्यों के त्यों अपने ढर्रे पर चलते रहते। अतएव, जनता को स्वाधीनता के सीधे लक्ष्य की ओर ले जाना पूँजीवाद की उस मूलशक्ति को ही पहले निर्मूल कर देना है जिसकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ जनता के जीवन का रक्त-शोषण कर रही है। असहयोगी कांग्रेस ने उसी मूलशक्ति का लक्ष्यवेध किया। स्वाधीनता के बाद माण्डलिकों (पूँजीवादी चक्रव्यूहों) के प्रति कांग्रेस का क्या रुख होगा, यह समय-समय पर महात्मा गांधी के वक्तव्यों से स्पष्ट है कि वे अपने ढङ्ग से (गान्धीवादी समाज-रचना द्वारा) उनकी रक्षा करेंगे। किन्तु हमारा विश्वास है कि स्वाधीनता के सन्निकट पहुँचते-पहुँचते कांग्रेस (महात्मा) का वार्द्धक्य अपना

कर्त्तव्य पूरा कर समाप्त हो जायगा। उसी समय कांग्रेस के जवानों के खून की आवश्यकता होगी। नवीन यौवन में ही इतनी शक्ति होगी कि स्वाधीन देश के भीतर साम्राज्यवाद के जो साम्प्रदायिक और साम्पत्तिक चक्रव्यूह शेष रह जायँगे उनका मुकाबिला करे। वह मुकाबिला किस प्रकार होगा, इसी सवाल के साथ गांधीवाद और समाजवाद का विवाद है। स्वाधीन देश की नई पीढ़ी तो यही चाहेगी कि देश में समाजवादी रचना हो, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, युवक पीढ़ी के प्रयत्नों में आन्तरिक ज्योति आने की जरूरत है और यह गांधीवाद द्वारा ही सम्भव है। स्वाधीन भारत का स्वरूप तो समाजवादी होगा, किन्तु उसका निर्माण रूस की तरह कारमकोर राजनीतिक आधारों पर न होकर नैतिक संवेदनशीलता द्वारा होगा। इसके बिना समाजवाद एक अनुशासित पशुता का समाज बना सकेगा किन्तु वह पशुता भी कभी न कभी निरंकुश हो जायगी, जैसे कि आज वह अपने साम्राज्यवादी रूप में है। शासित पशुता के बजाय हमें जरूरत है सुगठित मनुष्यता की, और इसकी रचना समाजवाद के शरीर में गान्धीवाद की आत्मा प्रतिष्ठित करने से ही हो सकेगी।

तो गांधीवाद सम्प्रति स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर बढ़ा चला जा रहा है, साथ ही समाजवाद भी अभी से गांधीवाद के साथ कश-मकश कर रहा है। यद्यपि यह देशकाल की स्थिति को देखते हुए बेमौजूँ जान पड़ता है, तथापि इस कशमकश के बाद भी यदि

गान्धीवाद विजयी होगा तो समाजवाद का वह युवक शरीर गांधीवाद अभी से पा लेगा जिसको हम भावी स्वप्न देखते हैं। तब गांधीवाद स्वाधीनता प्राप्त करते ही जराजीर्ण नहीं हो जायगा बल्कि अपना कायाकल्प कर नवीन भारत का नवीन यौवन बन जायगा।

[१२]

सन् २८ की कलकत्ता-कांग्रेस से उसी भविष्य की ओर बढ़ने का एक क़दम देश ने उठाया। विभिन्न बिखरी हुई गरम पार्टियों के नेता भी उसमें शामिल हुए। यद्यपि उस कांग्रेस में कोई समाजवादी दृष्टिकोण नहीं पास किया गया, बल्कि सरकार को एक साल की अवधि देकर अपने लक्ष्य (स्वाधीनता) की सीमा घोषित करने का निश्चय किया गया। यह कोई नई बात तो नहीं हुई किन्तु यह स्पष्ट था कि कांग्रेस में तरुण शक्तियाँ राष्ट्रीय प्रगति को कुछ जोश देना चाहती थीं। इसलिए कलकत्ता-कांग्रेस का स्थगित प्रस्ताव लाहौर-कांग्रेस में पास करना ही पड़ा। उस समय तरुण शक्तियों के सारभूत नेता जवाहरलाल और सुभाष बोस थे, मानो देश को नई पीढ़ी के ये ही परिष्कृत प्रतिनिधि थे।

सन् ३० की लाहौर-कांग्रेस में राष्ट्र ने अपने लक्ष्य (पूर्ण स्वाधीनता) की स्पष्ट घोषणा की। जवाहरलाल इस कांग्रेस के सभापति थे। इस प्रकार नवयुवक-शक्ति उस समय कांग्रेस के द्वारा अपनी जो अधिक से अधिक आवाज़ बुलन्द कर सकती थी

कर्त्तव्य पूरा कर समाप्त हो जायगा। उसी समय कांग्रेस के जवानी के खून की आवश्यकता होगी। नवीन यौवन में ही इतनी शक्ति होगी कि स्वाधीन देश के भीतर साम्राज्यवाद के जो साम्प्रदायिक और साम्पत्तिक चक्रव्यूह शेष रह जायँगे उनका मुकाबिला करे। वह मुकाबिला किस प्रकार होगा, इसी सवाल के साथ गांधीवाद और समाजवाद का विवाद है। स्वाधीन देश की नई पीढ़ी तो यही चाहेगी कि देश में समाजवादी रचना हो, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, युवक पीढ़ी के प्रयत्नों में आन्तरिक ज्योति आने की जरूरत है और यह गांधीवाद द्वारा ही सम्भव है। स्वाधीन भारत का स्वरूप तो समाजवादी होगा, किन्तु उसका निर्माण रूस की तरह कोरमकोर राजनीतिक आधारों पर न होकर नैतिक संवेदनशीलता द्वारा होगा। इसके बिना समाजवाद एक अनुशासित पशुता का समाज बना सकेगा किन्तु वह पशुता भी कभी न कभी निरंकुश हो जायगी, जैसे कि आज वह अपने साम्राज्यवादी रूप में है। शासित पशुता के बजाय हमें जरूरत है सुगठित मनुष्यता की, और इसकी रचना समाजवाद के शरीर में गान्धीवाद की आत्मा प्रतिष्ठित करने से ही हो सकेगी।

तो गांधीवाद सम्प्रति स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर बढ़ा चला जा रहा है, साथ ही समाजवाद भी अभी से गांधीवाद के साथ कश-मकश कर रहा है। यद्यपि यह देशकाल की स्थिति को देखते हुए बेमौजूँ जान पड़ता है, तथापि इस कशमकश के बाद भी यदि

गान्धीवाद विजयी होगा तो समाजवाद का वह युवक शरीर गान्धीवाद अभी से पा लेगा जिसका हम भावी स्वप्न देखते हैं। तब गांधीवाद स्वाधीनता प्राप्त करते ही अनुपयोगी नहीं हो जायगा बल्कि अपना कायाकल्प कर नवीन भारत का नवीन यौवन बन जायगा।

[१२]

सन् २८ की कलकत्ता-कांग्रेस से उसी भविष्य की ओर बढ़ने का एक क़दम देश ने उठाया। विभिन्न बिखरी हुई गरम पार्टियों के नेता भी उसमें शामिल हुए। यद्यपि उस कांग्रेस में कोई समाजवादी दृष्टिकोण नहीं पास किया गया, बल्कि सरकार को एक साल की अवधि देकर अपने लक्ष्य (स्वाधीनता) की सीमा घोषित करने का निश्चय किया गया। यह कोई नई बात तो नहीं हुई किन्तु यह स्पष्ट था कि कांग्रेस में तरुण शक्तियाँ राष्ट्रीय प्रगति को कुछ जोश देना चाहती थीं। इसलिए कलकत्ता-कांग्रेस का स्थगित प्रस्ताव लाहौर-कांग्रेस में पास करना ही पड़ा। उस समय तरुण शक्तियों के सारभूत नेता जवाहरलाल और सुभाष बोस थे, मानों देश को नई पीढ़ी के ये ही परिष्कृत प्रतिनिधि थे।

सन् ३० की लाहौर-कांग्रेस में राष्ट्र ने अपने लक्ष्य (पूर्ण स्वाधीनता) की स्पष्ट घोषणा की। जवाहरलाल इस कांग्रेस के सभापति थे। इस प्रकार नवयुवक-शक्ति उस समय कांग्रेस के द्वारा अपनी जो अधिक से अधिक आवाज़ बुलन्द कर सकती थी

वह यही स्वाधीनता के लक्ष्य की घोषणा थी। और जवाहरलाल अपने सम्पूर्ण द्वन्द्वात्मक विचारों के बावजूद कांग्रेस के ही अधिकारी अंग हो गये। उनके मानसिक द्वन्द्व उनकी 'मेरी कहानी' में है। तरुण भारत की आकांक्षाओं के ईमानदार प्रतिनिधि होते हुए भी वे उसके सक्रिय प्रयत्नों के सहायक न होकर सहानुभूतिपूर्ण अथवा संवेदनशील नेता रहे। एक संस्था (कांग्रेस) के नियम-बद्ध अंग बन जाने के कारण उनका जोश-खरोश एक गंभीर बुजुर्गी में परिणत हो चला। फलतः वे राष्ट्र की तरुण-पीढ़ियों को उसी प्रकार सहानुभूति देते रहे जिस प्रकार महात्मा गांधी जवाहरलालजी की भावनाओं को। कांग्रेस के मुख्य लक्ष्य को अग्रसर करते हुए जवाहरलाल के मन में देशव्यापी अन्य नवयुवक-प्रयत्नों (यथा, समाजवादी प्रयत्नों) के लिए एक स्वाभाविक छटपटाहट है, क्योंकि वे समाजवादी विचारों को लेकर ही कांग्रेस के सभापति हुए और इस प्रकार कांग्रेस में उनकी स्थिति उस अतिथि की सी हुई जिसके कुछ निजी विश्वास और प्रयत्न हैं किन्तु जिस गृह में उसने प्रवेश किया है उसके प्रति भी उसे शिष्टाचार रखना पड़ता है। और स्वभावतः कांग्रेस को भी अपनी इस तरुण-पीढ़ी के प्रज्वलित प्रतिनिधि का ख़याल है। यह अतिथि मौके-बेमौक़े अपने विश्वासों का जो व्यक्तित्व भस्माच्छादित अंगारे-सा झलका देता है, कांग्रेस उसके लिए उसे निराश नहीं करती किन्तु अपनी सामयिक नीति की सार्थकता भी उससे स्वीकार करा लेती

है। इस प्रकार कांग्रेस (गांधीवाद) के साथ जवाहरलाल तरुण-भारत (समाजवाद) की ओर से एक सजग प्रश्न के रूप में सम्बद्ध हैं। सचमुच तरुण-भारत कांग्रेस के प्रति ही प्रश्नोन्मुख हो सकता है. जैसे कांग्रेस स्वाधीनता के लिए बृटिश सरकार के प्रति। क्योंकि, तरुण-भारत की जो आकांक्षाएँ हैं वे पराधीनता में पूरी नहीं हो सकतीं। कांग्रेस स्वाधीनता की प्राप्ति में सफल हो और उस सुदिन के आने तक तरुण-भारत जवाहरलाल के रूप में कांग्रेस से प्रश्नवत् सम्बद्ध रहे। भारत के स्वाधीन होने पर कांग्रेस का पहला काम इसी प्रश्न को हल करना होगा। उस समय कांग्रेस को व्यक्तिगत उग्र पार्टियों से परे इस प्रश्न को गम्भीर रूप में लेना होगा, जैसे साम्प्रदायिकता से परे आर्थिक राष्ट्रीय प्रश्न को। तब तक तरुण-भारत की ओर से जवाहरलाल एक प्रश्न-चिह्न के रूप में कांग्रेस को भविष्य के लिए प्रस्तुत करते रहेंगे। जैसे लन्दन की हाटों में महात्मा अपनी 'डाँड़ी' को नहीं भूल गया वैसे ही कांग्रेस के भीतर हमारा जवाहर तरुण-भारत को न भूल जाय, राजनीतिक क्षेत्र में अपनी मानसिक आत्महत्या न कर ले. यही हमारी शुभ कामना है।

[१४]

हाँ तो, लाहौर-कांग्रेस में स्वाधीनता के लक्ष्य की घोषणा तो हो गई, किन्तु उन नवयुवकों को जो कलकत्ता-कांग्रेस में जवाहर और सुभाष के रूप में सम्मिलित हुए थे, इतने से ही सन्तोष

नहीं हुआ। फलतः लाहौर-कांग्रेस में एक नई पार्टी का भी जन्म हुआ, नवयुवक कांग्रेस के उद्देश्यों से आगे के प्रयत्नों के लिए भी उद्बुद्ध हुए। यह ख़ुशी की बात है कि देश में जो लक्ष्यहीन क्रान्ति गुप्त पार्टियों के रूप में चल रही थी और जो अपनी विभीषिका में विफल हो चुकी थी, उसने इस नई पार्टी में अपने को लक्ष्यवान् किया। कदली-पत्र की तरह कांग्रेस के भीतर से अब तक अनेक पार्टियाँ निकल चुकी हैं, किन्तु उनमें मुख्य है समाजवादी पार्टी। इस पार्टी के भी कई दल हैं, किन्तु एक दल कांग्रेस से सम्बद्ध है। यह एक प्रश्न है कि विभिन्न पार्टियों के रहते समाजवाद का नेता हम किसे कहें ?

आज तो समाजवाद के अनेक नेता हैं और सभी को कांग्रेस से कुछ न कुछ शिकायत है। उनमें से कुछ का तो काम ही यह है कि कांग्रेस जो कुछ कहे या करे उसके ख़िलाफ़ बोलते रहना, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार लिबरलों का काम गान्धी-युग की कांग्रेस को कोसते रहना है। अतएव, प्रकारान्तर से ये कांग्रेस के लक्ष्य में उसी प्रकार बाधक हैं जिस प्रकार लिबरल। लिबरल और साम्प्रदायिक, ये दोनों एक ही संकुचित स्वार्थ या व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के विभिन्न नाम हैं। लिबरल लोग ही साम्प्रदायिक क्षेत्र में चले गये हैं, मानों वहाँ उन्होंने अपनी हरकतों की नई ब्राञ्च खोली हो। तो, अपने विरोधों द्वारा लिबरल जिस प्रकार ब्रिटिश सरकार की शक्ति मज़बूत करते हैं उसी प्रकार समाजवादी

पार्टियाँ भी, क्योंकि उनमें राष्ट्र के प्रति या अन्तर्राष्ट्रीय विश्व के प्रति उतना उत्तरदायित्व नहीं है जितना राजनीतिक विचारों में नवीनता का दावेदार होने का हौसला। दुर्भाग्य से संसार साम्राज्यवाद से पीड़ित है। सौभाग्य से इस पीड़न का एक उपचार समाजवाद के रूप में सामने आ गया है। यदि समाजवाद का आविर्भाव न हुआ होता तो इन समाजवादी नेताओं की राजनीतिक नवीनता कहाँ होती, कौन कहे। इनके विरोधी रुख़ों को देखकर कभी कभी यह ख्याल होता है कि एक दिन सामाजिक जागृति में जैसे अँगरेज़ीदाँ होना फैशन बन गया था, वैसे ही आज की राजनीतिक जागृति में समाजवादी होना भी तो कहीं एक फैशन नहीं बन गया है ? यहाँ हम हद से हद यही कहना चाहते है कि राजनीति में लिबरल जब कि एक क्लासिकल फैशनेबुल है, नामधारी समाजवादी रोमैन्टिक फैशनेबुल। इनके बीच में कुछ हेलेनिस्ट साहित्यिक और नागरिक भी हैं जो कला के नाम पर वैभवजन्य भावुकता की उपासना करते हैं और कभी कभी जब राजनीति में भी बोलने की कृपा करते हैं तो उनकी मूल मनोवृत्ति लिबरल रहती है (क्योंकि उनमें आत्मत्याग का माद्दा नहीं)। वे राजनीतिक पैंतरे के अनुसार अपने दाँव-पेंच बदलते रहते हैं। जीवन के संघर्ष का यह युग ही इतना विक्रान्त है कि समाज की सभी दिशाओं के लोग अपने अपने स्वार्थों की सचेष्टता से राजनीतिक बन गये हैं। राजनीति में अधिक बाढ़ आ जाने पर

उसका गँदला रूप साम्प्रदायिकता या छोटी-मोटी पार्टियों के रूप में ही प्रकट होता है। आश्चर्य तो तब होता है जब प्रगतिशील कहे जानेवालों में भी संस्कृति के नाम पर साम्प्रदायिक संस्थाओं के सहायक निकल आते हैं और कांग्रेस (गान्धी) को समाजवादी और साम्प्रदायिक दोनों ही बाजुओं से आघात पहुँचाते है!

[१५]

हाँ तो, क्रान्तिकारी पार्टी के नवयुवक (उस पार्टी के विफल हो जाने पर) कांग्रेस में आ शामिल हुए। यहाँ उनका दल कांग्रेस से भिन्न उद्देश्य को लेकर कांग्रेस से अभिन्न हुआ। अब तक वे कांग्रेस से विच्छिन्न थे, किन्तु उन्होंने पाया कि कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जहाँ वे अपनी विफल शक्तियों को सफल बना सकते हैं। दूसरे शब्दों में, उन्होंने राष्ट्र को कांग्रेस (महात्मा) के भीतर पाया। जब कि कांग्रेस अपने लक्ष्य के लिए जनता को आन्दोलित करती आई, उन्होंने कांग्रेस को ही आन्दोलित करने का निश्चय किया। लक्ष्य (समाजवाद) वे अपना रखना चाहते थे और कांग्रेस को उस लक्ष्य का साधन बनाना। इनका लक्ष्य एक दम राजनीतिक है जब कि कांग्रेस एक नैतिक संस्था भी है। कांग्रेस अपने देश की श्रमिक संस्कृति (परिश्रमी जीवन और उसका नैतिक लक्ष्य) को अग्रसर करना चाहती है, समाजवादी पार्टी यान्त्रिक सभ्यता (मशीनी जीवन और उसका लक्ष्य) का ही नवीन नियोजन करना चाहती है, समाजवाद के रूप में। यहाँ

कांग्रेस और समाजवादी पार्टी में श्रम और उसके लक्ष्य में मूलतः अन्तर है, तदनुरूप दोनों के साधनों के आकार प्रकार और उनके सामाजिक लक्ष्य में भी।

सम्प्रति प्रगतिशीलता के नाम पर जो उच्छृङ्खलता चल रही है उसके विपरीत हम समाजवाद को एक तात्त्विक प्रश्न के रूप में गान्धीवाद के साथ रख सकते हैं। दोनों के साधनों में यह एक स्पष्ट अन्तर है कि समाजवाद पूँजीवाद को मिटाकर अपनी लक्ष्य-सिद्धि करना चाहता है, गांधीवाद सीधे पूँजीवाद के साथ कोई द्वन्द्व नहीं रखता, वह तो पूँजीवाद की जहाँ जड़ है उस जनता को ही उसके घरेलू रचनात्मक कामों में लगाकर नागरिक शोषण का अन्त कर देना चाहता है। गांधीवाद जिस जनता को कार्यक्रम देता है, उस जनता को अपना कार्यक्रम देने के लिए समाजवाद के पास कुछ नहीं है। मिलों और फैक्टरियों के द्वारा जनता जिस समाजवादी कार्यक्रम को अपनायेगी उसके द्वारा वह अपने जीवन का निश्चिन्त उपभोग नहीं कर सकेगी, वह व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता में पड़कर अपने लक्ष्य में अर्थ-प्रधान हो जायगी। उसकी यही प्रतिद्वन्द्विता उसे समाजवादी से साम्राज्यवादी भी बना सकती है। इसी लिए गांधीवाद पहले से ही गृहस्थों के जीवन के अनुरूप समाज-रचना कर रहा है। गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं में स्वावलम्बी हो, राजनीति पर अवलम्बित न रहे, यही उसका विशेष प्रयत्न है। गृहस्थ को धन तो चाहिए ही, किन्तु धन ही उसका

लक्ष्य नहीं है, उसके जीवन में वह चिन्तन भी है जो उसके समाज को मनुष्य का समाज बनाता है। गांधीवाद गृहस्थ को वही धन और चिन्तन देता है। इसके विपरीत समाजवाद धन को अर्थात् जीवन के साधन को ही प्रधानता देता है, जिसके कारण उसका साध्य (वर्गहीन सामाजिक सुख) भी धन से ही संचालित होता है, मानव-मन से नहीं। फलतः समाजवाद पशु (शारीरिक) आकांक्षाओं का ही एक नवनिर्मित रूप है।

समाज की गार्हस्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति गांधीवाद कहाँ तक कर सकता है और कहाँ तक समाजवाद, यह एक विवादात्मक प्रश्न है, जिसका निर्णय दोनों के सामाजिक प्रयोगों को देखकर ही किया जा सकता है। गांधीवाद को अभी अपने प्रयोगों के लिए अवसर प्राप्त है, समाजवाद के लिए नहीं। कारण देश पराधीन है, सरकार पूँजीवादी है, उसके द्वारा परिचालित राजनीतिक ढाँचे में समाजवादी कार्यक्रम को सामने लाने का क्षेत्र नहीं है। बिना शासन-तन्त्र के सहयोग के समाज-वाद का कार्यक्रम चल नहीं सकता, क्योंकि उसके लिए जिस बड़े पैमाने पर पूँजी तथा पूँजी के नवीन उपयोग के लिए राजनीतिक सुविधा की आवश्यकता है वह देश की पराधीनता में प्राप्त नहीं है। गान्धीवाद का कार्यक्रम ऐसा है कि वह शासन-तंत्र के सह-योग के बिना भी चलता है, क्योंकि जिस जनता में वह काम कर रहा है, जीवन के साधनों का उपार्जन उसी के विस्मृत स्वावलम्बन

(घरेलू उद्योग-धंधों) से करा रहा है। अतः समाजवादियों या अन्य उग्रपंथियों को गांधीवाद से प्रतिस्पर्द्धा करने में अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनके पथ का बाधक गांधीवाद (स्वावलम्बी और सांस्कृतिक राष्ट्र) नहीं, साम्राज्य-वाद है। साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने में उन्हें गांधीवाद से सहयोग करना चाहिए। जब तक देश स्वाधीन नहीं हो जाता, तब तक समाजवाद को कांग्रेस के साथ सहयोग तो करना ही चाहिए। साथ ही देश की पराधीनता में जब तक समाजवाद कोई निजी कार्यक्रम कार्यान्वित नहीं कर पाता तब तक उसके सामने यह एक उपयोगी कार्य है कि देश में साम्प्रदायिकता अथवा अन्य किसी कारण से उत्पन्न संकीर्ण मनोवृत्तियों को दूर करने में लग जाय, आर्थिक ढाँचे में राजनीतिक प्रश्नों को ठीक ठीक समझने के लिए नई पीढ़ी में नवीन दृष्टिकोण जाग्रत करे। समाजवाद नवयुवकों को विस्तृत राजनीतिक पैमाने पर उठाकर साम्प्रदायिकता को निर्मूल कर सकता है, नवयुवकों में नवीन विवेक जग जाने पर साम्प्रदायिक लोग रूढ़ियों की तरह स्वयं ही मृत हो जायँगे। समाजवाद है तो राजनीतिक प्रयत्न, किन्तु राजनीतिक रूप में वह एक प्रकार की सामाजिक क्रान्ति है। सामाजिक संकीर्णता के नाम पर राजनीतिक अवरोधों के उन्मूलन में समाजवाद जबरदस्त सहायक हो सकता है।

---

[१६]

हाँ, यह भी एक प्रश्न है कि समाज को उसके क्लासिकल आकार-प्रकार में ही नवजीवन देना है या उसे नवीन रचना द्वारा बिलकुल परिवर्त्तित कर देना है। यह प्रश्न कुछ सांस्कृतिक-सा हो जाता है, केवल राजनैतिक नहीं। ईश्वर, धर्म और भाग्य की विश्वासी जनता को एकदम क्रान्तिकारी मनोवृत्ति का बना देना असंभव नहीं, किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्रान्तिपूर्ण जीवन ही हमें अभीष्ट है, या उसमें कुछ 'कान्ति' भी होगी। कमनीयता के लिए या सामाजिक स्निग्धता के लिए हमें क्रान्ति के भीतर संस्कृति का आत्मद्रवित रस सञ्चारित रखना होगा। संस्कृति के नाम पर समाज में जो पूँजीवादी विकृति है, उसे समाजवाद अपनी क्रान्ति से अवश्य निर्मूल कर दे, किन्तु संस्कृति का आध्यात्मिक रूप गांधीवाद के रूप में बनाये

रखने में ही समाजवाद का कल्याण है। जीवन को हम कोरी नैतिक शुष्कता में नहीं, बल्कि एक गार्हस्थिक मनोहरता में देखना चाहते हैं, जिसमें अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष सब कुछ है। जीवन की इन निधियों में पूँजीवाद के कारण जो असन्तुलन या वैषम्य आ गया है उसे दूर करना समाजवादी क्रान्ति का ही काम है, किन्तु नवीन निर्माण का नैतिक बल (आन्तरिक स्थायित्व) गांधीवाद से ही मिलेगा। हमारा आदर्श गांधीवाद रहेगा, समाजवाद उस आदर्श का राजनैतिक प्रतिपालक बन सकता है।

राजनीति में जब तक शिकारियों का-सा दाव-पेंच या दौरात्म्य है, तब तक वह समाजवाद में तो क्या, संसार के किसी भी बड़े से बड़े शासन-तंत्र में लोक-भक्षिणी है। कठोर वास्तविकता के आधार पर खड़ी राजनीति अभ्यन्तर में किसी कोमल आदर्श को सँजोकर ही जीवित रह सकती है अन्यथा उसके द्वारा एक के बाद एक नई नई क्रान्तियाँ उठती रहेंगी और संसार ज्यों का त्यों पुराने इतिहास को दुहराता रहेगा। समाजवाद भी एक बड़ी क्रान्ति ही है, वह क्रान्ति मानवता के स्वर को लेकर उठी है, अच्छी बात है; किन्तु राजनीतिक बर्बरता उसे बरबाद न कर दे, इसलिए गांधीवाद को हृदयंगम करना होगा। समाजवाद समुद्र की ऊपरी सतह का ज्वार (प्रगति) न हो, बल्कि आन्तरिक सतह की स्वाभाविक गति भी हो, इसी लिए उसे अपने अभ्यन्तर में गांधीवाद को लक्ष्यमान् रखना होगा। गांधी ने राजनीति में से दौरात्म्य को

निकालकर उसे भी माहात्म्य प्रदान कर दिया है, इसी लिए वह महात्मा है।

हमारे देश में धर्म (संस्कृति) साम्प्रदायिकता के रूप में बदनाम है। जो उससे ऊब चुके हैं, वे गांधीवाद को भी गहराई से समझने के लिए तैयार नहीं हैं। किन्तु साम्प्रदायिकता जिस देवी संस्कृति का विकृत रूप है, उसका सुकृत रूप गांधीवाद ही है। यहाँ हमें यह समझ लेना चाहिए कि गांधीवाद धार्मिक क्षेत्र में न तो हिन्दूमहासभा और मुस्लिम लीग की तरह साम्प्रदायिक है, न राजनीति में लिबरलों की तरह आत्मलिप्सु और न क्रान्ति-कारियों की तरह उत्तेजनाशील। वह एक नैष्ठिक पुरुष की भाँति धीरोदात्त है। यदि अतीत के श्रेष्ठतम सांस्कृतिक पुरुष, चाहे वे हिन्दू मुसलमान या ईसाई कोई भी हों, आज के राजनीतिक जगत् में अवतीर्ण होते तो वे गांधी के साथ होते। यों तो, स्वर्गीय इलाहाबादी अकबर के शब्दों में 'बुद्धू मियाँ भी हजरते गांधी के साथ हैं', जैसे, समाजवाद में भी बहुत से पँचकल्यानी शामिल हैं। हमें उनसे कुछ नहीं लेना-देना है। हाँ, हमें इनके ऊपर अनुशासन रखने की आवश्यकता है।

*　　　　*　　　　*

हमारी अब तक की सम्पूर्ण प्रगति के निष्कर्ष-स्वरूप हमारे सामने साफ साफ तीन बातें हैं—(१) संस्कृति, (२) स्वाधीनता, (३) आर्थिक समता।

इन्हीं को लेकर आज हमारी राजनीति में तरह-तरह का अर्थ-अनर्थ हो रहा है, अतः इन्हें ठीक ठीक रूप में पहचानने का हमें प्रयत्न करना है।

पहिले संस्कृति की बात लें, यही जीवन की सबसे बड़ी बात है। मनुष्य के सम्पूर्ण पार्थिव प्रयत्नों के बाद जो सत्य शेष रह जाता है, वही संस्कृति है। सभ्यता पार्थिव है, संस्कृति अपार्थिव। सभ्यता बदलती रहती है, किन्तु संस्कृति शाश्वत रहती है। मनुष्य का पार्थिव जीवन उसका सीमित अस्तित्व है, किन्तु संस्कृति उसे सृष्टि की उस निरन्तरता का चिन्तन देती है जिससे मनुष्य को उसके प्रयत्नों में एक अनन्त उत्तरदायित्व का बोध होता है। जैसे व्यक्ति अपनी परिधि में पूर्ण होकर भी समाज का एक अपूर्ण अंग है और समाज अपने में पूर्ण होकर भी विश्व की एक अपूर्ण सीमा मात्र, उसी प्रकार एक सम्पूर्ण विश्वजीवन असीम जीवन का एक अपूर्ण क्रम मात्र है। असीम जीवन के प्रति मनुष्य की जागरूकता ही उसकी संस्कृति है।

त्रिगुण सृष्टि में मनुष्य की श्रेष्ठता उसके सात्त्विक गुण के कारण है। तामसिक और राजसिक गुण तो पशुओं में भी हैं, उनके संसार में भी राजा है, प्रजा है, नर हैं, मादा हैं, किन्तु उनका जीवन हमें कितना अशोभन लगता है। मनुष्य ने जब पशु-कोटि से ऊपर का समाज बनाया तो सत्त्वगुण (जीवन का सार) लेकर ही अपनी संस्कृति की रचना की। संस्कृति के स्पर्श

से कभी पशु-पक्षी भी मनुष्य के पारिवारिक बन गये थे। यदि आज हमारा संसार विक्रान्त है तो समझना चाहिए कि हमारे भीतर से संस्कृति (सत्त्वगुण) का लोप हो गया है। बड़े से बड़े राजनीतिक प्रयत्न जीवन को तनिक भी सन्तोष नहीं दे सकते, जब तक समाज में मानवता नहीं आती और यह मानवता संस्कृति की ही सन्तान है। राजनीति हमारे पार्थिव जगत् को व्यवस्थित कर सकती है, किन्तु उस पार्थिव जगत् में मनुष्यों को जन्म संस्कृति ही देगी। राजनीति पाशविकता के शासन के लिए है, संस्कृति मनुष्यता के प्रतिष्ठापन के लिए। राजनीति और संस्कृति ये दोनों मिल-कर ही इस त्रिगुण सृष्टि का सन्तुलन बनाये रह सकती है। आज की समस्याओं में राजनीति ने समाजवाद दिया है और संस्कृति ने गान्धीवाद। समाजवाद वर्त्तमान का निचोड़ है, गान्धीवाद अतीत का सार। अतीत और वर्तमान इन दोनों के संयोग में ही भव्य भविष्य है।

हम यन्त्र-निर्मित वस्तुओं की तरह वर्तमान की ही उपज नहीं है, हमारा अस्तित्व पुरातन है। वर्तमान संसार आदिम युग से बहुत आगे जरूर जा चुका है, किन्तु उसमें मनुष्य ने आत्मचेतना को मिटा-कर जड़ता को प्रधानता दे दी है, अपने अस्तित्व को उसने यन्त्रों में रेहन कर दिया है। वह स्वयं नहीं चल रहा है, यन्त्र चल रहे हैं; मानो जीवन्मृत हो मनुष्य अपने ही आविष्कृत ताबूतों में कब्र की ओर जा रहा है। किसी वर्बर-युग मे मनुष्य मनुष्य का

शिकार करता था, आज मनुष्य अपनी बुद्धि से स्वयं अपना ही शिकार कर रहा है ! इस बुद्धि-कौशल का नाम है विज्ञान। ज्ञान का अतिक्रमण कर यह विज्ञान आया है। जिस यान्त्रिकता, जिस जड़ सभ्यता को अपनाकर हम पुरातन की अपेक्षा, आज के प्रामाणिक मनुष्य बनते जा रहे हैं, उसकी उन्नति क्या यहीं तक रुकी रहेगी ? उन्नति के क्रम में जिस प्रकार विज्ञान ने ज्ञान का अतिक्रमण किया है, उसी प्रकार विज्ञान का भी अतिक्रमण क्या नहीं होगा ? विज्ञान के आगे है विनाश। पुराने लोग जिसे प्रलय-काल कहते हैं, उनके इस अन्धविश्वास में क्या विज्ञान के भविष्य का ही संकेत नहीं है ?

आज हम उस सीमा पर पहुँच गये हैं, जहाँ वैज्ञानिक सभ्यता को रुककर कुछ सोचना है।

आदिम युग में यदि हम घोर अन्धकार में थे तो इस वैज्ञानिक युग में घोर चकाचौंध में पड़ गये हैं। समुचित प्रकाश कहीं बीच के पथ में छूट गया है। हमें उसी को खोजना है।

आदिम युग की अज्ञान-जन्य और आधुनिक युग की विज्ञान-जन्य विकृतियों को तिलाञ्जलि देकर हमें किसी प्रज्ञान-युग को पाना है। अज्ञान से निकलकर मनुष्य ने जिस अन्तर्ज्ञान को प्राप्त किया था, आज विज्ञान को रुककर उसी अन्तर्ज्ञान को हृदयंगम करना है।

आदिम युग की अव्यवस्था के बाद मनुष्य ने एक ऐसा मनो-विकास भी पाया था जिसने उसके सम्पूर्ण पार्थिव प्रयत्नों में

एक सुविवेक ला दिया था, वह मनोविकास ही संस्कृति है। आज विज्ञान को भी अपने प्रयत्नों में उस मनोविकास को भूल नहीं जाना है।

पार्थिव प्रयत्न तो हमें आज की समस्याओं में से लेना है और मनोविकास अतीत की संस्कृति से। पार्थिव प्रयत्न अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य है, संस्कृति 'अन्तर'-राष्ट्रीय धर्म। आज धर्म कर्त्तव्य-हीन है और कर्त्तव्य धर्म-हीन। कर्त्तव्य और धर्म के एकत्व में ही मानवता का मंगल व्यक्तित्व है।

राजनीति में संस्कृति का समावेश हो जाने से मानवता का व्यक्तित्व स्थापित हो सकता है। गांधीवाद इसी दिशा में अग्रसर है। गांधीवाद और समाजवाद में मुख्य अन्तर यह है कि गांधीवाद में राजनीति संस्कृति से अनुशासित है और समाजवाद में विज्ञान से। संस्कृति से विच्छिन्न होकर समाजवाद स्वयं तो लौह-यथार्थ है ही, विज्ञान भी वज्र यथार्थ की भाँति उसके साथ है। एक तो यों ही मतवालापन, तिसपर यह सर्प-दंश!

इस प्रकार समाजवाद ने मानो साम्राज्यवाद की ही एक बड़ी विभीषिका (विज्ञान) के साथ सन्धि की है, जैसे रूस ने जर्मनी से। यह संधि सामयिक हो सकती है, स्थायी नहीं। उचित तो यह जान पड़ता है कि राजनीति संस्कृति से संयमित हो और विज्ञान राजनीति से अनुशासित। इस प्रकार संस्कृति के ही मूलस्पन्दन से हमारे सम्पूर्ण पार्थिव प्रयत्न लोक-कल्याण की ओर अग्रसर होंगे,

यथा चेतना के अन्तः स्पर्श से समस्त मानव-शरीर। राजनीतिक और वैज्ञानिक यथार्थताएँ आज के कंगाल कंकालों की सुदृढ़ अस्थियाँ तो बनें किन्तु वे प्रेतों की न हों, मनुष्यों की हों। और तब गान्धीवाद और समाजवाद में कोई अन्तर नहीं रह जायगा, दोनों एक दूसरे में घुल-मिल जायँगे।

भौगोलिक रूपान्तर से संस्कृति के नाम-रूप में भी अन्तर है, संस्कृति ने मजहबों का रूप-रंग ले लिया है। किन्तु मूलतः मानव-संस्कृति सर्वत्र एक है। मजहब व्यक्तिगत विश्वास है, जैसे अशन-वसन में अपनी-अपनी पसन्द। सार्वजनिक रूप मजहबों का सार-रूप (सांस्कृतिक तत्त्व) होगा। राजनीति पर उसी सार-रूप का उत्तरदायित्व रहेगा, न कि मजहबों का। अतएव, राजनीति में संकीर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्तियों के कारण ही जिन्हें संस्कृति से उदासीनता है, उन्हें साम्प्रदायिकता का ही विरोध करना चाहिए, संस्कृति का नहीं।

गांधीवाद अपने विश्वासों की इकाई में उसी विश्व-संस्कृति के लिए लक्ष्यमान् है। जिस प्रकार कोई वैज्ञानिक पृथ्वी के एक खण्ड में कोई भूतत्त्व प्रकाशित कर अखण्ड विश्व को एक आविष्कार सुझाता है, उसी प्रकार गांधीवाद ने राष्ट्रीयता और संस्कृति की भारतीय इकाई में अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व-संस्कृति का एक मानसिक तत्त्व दिया है। स्वयं अपने दैहिक अस्तित्व में गांधी जिस प्रकार विश्व-चिन्तन की ही इकाई है, उसी प्रकार उसकी राष्ट्रीयता और संस्कृति भी। गांधी

की राष्ट्रीयता एक देश के माध्यम से विश्वमानव की आकांक्षाओं और विश्वासों का प्रतीक है। गांधी की एकदेशीय राष्ट्रीयता और संस्कृति तभी तक है, जब तक कि अन्य अनेक राष्ट्र अपनी राजनीतिक कुटिलताओं में मानवता के विकास के लिए अनुर्व्वर हैं। उचित समय आने पर गांधीवाद विश्व-व्याप्त हो जायगा। विश्व की इकाई भारत गांधी का उद्गम है। उद्गम तो सीमित होता ही है, किन्तु असीम उसी का प्रसार बनता है।

गांधीवाद की विचारधारा कुटियों से लेकर महलों तक एक समान बहती है, जैसे कभी बुद्ध की विचार-धारा प्रवाहित हुई थी। इस धारा को महलों को मिटाने की जरूरत ही नहीं पड़ी, इसके पावन संसर्ग से महल स्वयं ही कुटी बन गये।

[१७]

फिर भी गांधीवाद के सामने यह एक प्रश्न है कि शताब्दियों तक बौद्ध साम्राज्य रहने पर भी जीवन में यह वैषम्य क्यों आ गया कि आज समाज स्पष्टतः दो भागों में विभक्त हो गया है— पूँजीपति और गरीब या शोषक और शोषित? एक युग में मनुष्य की मनुष्यता (दया, धर्म, करुणा, ममता, सहानुभूति, समवेदना इत्यादि) जाग्रत् करके भी बौद्ध साम्राज्य में क्या खामी रह गई थी कि मनुष्य फिर वैषम्य की ओर चला गया? बौद्धमत ने समाज की आन्तरिक शुद्धि तो कर दी थी, किन्तु बाह्य वर्गीकरण रङ्क और राव के रूप में ज्यों का त्यों बना हुआ था। उसने

मनुष्य को निवृत्तिप्रधान बनाया, किन्तु प्रवृत्ति-मूलक मनुष्य के लिए किसी भौतिक नियमन को जन्म नहीं दिया। इसी कारण, जब तक बौद्ध साम्राज्य था, तब तक समाज श्रद्धापूर्वक मानवता की ओर अग्रसर हुआ, किन्तु उससे भिन्न साम्राज्यों के आते ही समाज का स्वरूप बदल गया। बौद्ध साम्राज्य के बाद मनुष्य की भौतिक प्रवृत्तियों को प्रतिद्वन्द्विता मिली, फलतः बाह्य वर्गीकरण ने ही जोर पकड़ा। बौद्ध साम्राज्य में यदि राव रङ्कता को अपनाते थे तो परवर्ती साम्राज्य में रङ्क भी राव हो जाने के लिए ही प्रयत्नशील थे। यह दूसरी बात है कि सभी उमराव नहीं हो सके (सभी उमराव हो जाते तो इस वर्गीकरण की सार्थकता क्या थी!); जो नहीं हो सके उनकी नस-नस में भी एक दरबारी राजनीति प्रवेश कर गई। और आज का संसार क्या है? पशुबल से सञ्चालित साम्राज्यों का भूगोल और इतिहास। ऐसे समय में फिर आन्तरिक शुद्धि को लेकर गान्धीवाद प्रकट हुआ है। गांधीवाद के रूप में मानो बुद्धिज्म ही अपने बाद के संसार को देखने के लिए आया है। अपने बाद के संसार के नये प्रश्नों को उसे समझना है, अगर यह अवसर गांधीवाद ने खो दिया तो संसार फिर उसी रफ़्तार से चलेगा जिस रफ़्तार से बौद्ध साम्राज्य के बाद चला आया है।

बुद्धिज्म की भाँति गांधीवाद भी निवृत्तिप्रधान है। वह भी आन्तरिक शुद्धि पर जोर देता है। जब हिटलर ने ब्रिटेन पर चढ़ाई

की, तब उसकी उस पार्थिव लिप्सा को लक्ष्य कर महात्मा गांधी ने लिखा था—"तलवार के बल से जो विजय मिलती है, वह तलवार के ही बल से निकल भी जाती है।" यह सत्य है, और इतिहास से हम यही देखते भी आ रहे हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि इतिहास का यह क्रम क्यों है और उसका अन्त कहाँ है? तलवार के बल पर शासन करनेवालों के लिए क्या कोई ऐसी राजनीति नहीं पेश की जा सकती जो कि समाज की रक्षा करे, न कि समाज में पशु-बल का प्रसार? इसके लिए समाज में ही शक्ति और सामर्थ्य लाना होगी। समाज जब तक निर्बल और निःसहाय है तभी तक उसकी रक्षा के नाम पर इतने युद्ध-विग्रह होते रहते हैं। समाज जो कुछ देता है, राजनीति उसी को सँजोकर श्रीसम्पन्न होती है। राजनीति तो समाज का केन्द्रीकरण मात्र है। राजनीति की नैतिक अकिञ्चनता, सामाजिक अकिञ्चनता की सूचक है। हमें वह व्यवस्था ही तोड़ देनी होगी जिसके कारण शासक और शासित किंवा विजयी और विजित का प्रादुर्भाव होता है। यह पाशविक राजनीति एक विकृत अर्थशास्त्र पर चल रही है। अर्थशास्त्र को नवीन रूप देकर राजनीति को नवीन आकार देना है। समाजवाद इसी के लिए प्रयत्नशील है। आज निवृत्ति (गान्धीवाद) के सम्मुख प्रवृत्ति अपना एक नया डिज़ाइन (समाजवाद) लेकर उपस्थित हुई है; गान्धीवाद को इसे परखना है। जहाँ तक मनुष्य के लौकिक जीवन-निर्वाह का प्रश्न है, उसे धर्म या किसी के दया-दाक्षिण्य

पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। धन को धर्म के हाथ धरोहर नहीं रखा जा सकता। महात्मा गान्धी समाज में पूँजीपतियों के अस्तित्व को मानते हैं और उन्हें सामाजिक धन के एक धार्मिक ट्रस्टी के रूप में देखना चाहते हैं। धन उनके हाथ में रहेगा और वे उसका उपयोग धार्मिक भाव से करेंगे, अनासक्त रहकर। किन्तु इस व्यवस्था में उस स्थिति का ध्यान कहाँ है, जब मनुष्य अनासक्त न रहकर लोलुप हो जाता है? जैसे कि आज है। अतएव धन को धर्म के हाथ न बाँधकर नवीन अर्थशास्त्र के सिपुर्द करना अधिक उचित जान पड़ता है।

लौकिक जीवन-निर्वाह में मनुष्य किसी की धार्मिक संरक्षकता पर क्यों आश्रित रहे?

समाजवाद पार्थिव रोग का पार्थिव निदान है, गान्धीवाद स्वस्थ पार्थिवता (सामाजिकता) की अपार्थिव चेतना। अतः उचित तो यह जान पड़ता है कि समाजवाद सामाजिक स्वास्थ्य के लिए सर्वसुलभ साधन दे और गान्धीवाद उस साधन को साध्य की ओर उन्मुख रखे। गान्धीवाद को एक नवीन राजनीति का प्राण बनना है, बुद्ध को नवीन शरीर धारण करना है। एक दिन जिस प्रकार साम्राज्यवाद ने बुद्धिज्म को पाया था उसी प्रकार समाजवाद गान्धीवाद को पा जाय, बस, इसी में विश्व का नवजीवन है।

[१८]

गान्धीवाद और समाजवाद का अन्तर टाल्स्टाय और उनके बाद के बोलशेविकों तथा अन्य उग्र क्रान्तिकारियों का अन्तर है। दोनों पूँजीवाद की विकृतियों के विरोधी हैं, किन्तु एक में नैतिकता (आन्तरिकता) है, दूसरे में राजनैतिकता (बाह्य उत्तेजना)। गांधी-वाद समाजवाद की तरह केवल प्रगतिशील नहीं, बल्कि जीवन के पथ में एक लंगर (सांस्कृतिक टिकाव) भी है, जो गम्भीरता-पूर्वक आगे की मञ्जिल को सोचने-समझने का अवसर लेता है। समाजवाद प्रगतिशील है, गतिधीर नहीं; वह तात्कालिक सफलता को देखता है, सफलता के स्थायित्व को नहीं। भविष्य की प्रतिक्रियाओं का उसे ध्यान नहीं। टाल्स्टाय के बाद रूस में क्रान्ति हुई। सोवियट सरकार भी स्थापित हुई। किन्तु संघर्ष अभी मिटा नहीं। संघर्ष के अन्तर्राष्ट्रीय बीज शेष हैं। निरे राजनीतिक आधारों पर यह संघर्ष निःशेष होने को नहीं। राज-नीतिक आधार पर संघर्ष लुप्त होकर गुप्त हो सकता है, किन्तु समय पर प्रतिक्रिया-स्वरूप फिर प्रकट हो सकता है, जैसे सन् १९१४ का महायुद्ध अब पुनः सन् ४० में प्रकट हुआ है। इसका क्या इलाज? आवश्यकता है नैतिक आधार की, आन्तरिक शुद्धि की। यही है गांधीवाद।

आज तो निर्लज्ज राजनीति के रूप में लोलुपता विश्वमञ्च पर सुनीति को, साधना को जलील कर रही है। इस बर्बरता से विवश

होकर यदि साधना (गांधीवाद) कहीं अदृश्य होगी तो लोलुपता के अन्तर्गह्वर में ही, जहाँ बाहर से दिखाई न पड़ने पर भी वह भीतर ही भीतर उसके भौतिक ढाँचे का कायाकल्प करेगी।

गांधीवाद को हम मिटा नहीं सकते। हाँ, उसे कुछ फारवर्ड बना सकते हैं। टाल्स्टाय गांधी से अधिक फारवर्ड हैं जब कि वे खुलकर पूँजीपतियों का विरोध करते हैं। अन्य सब बातों में वे गांधी के समान हैं। मानव-शोषक वैज्ञानिकों और धर्माचार्यों का चर्खे और हरिजनोद्धार द्वारा यदि गांधी ने विरोध किया है तो अपने देश के अनुरूप टाल्स्टाय ने भी। यों कहें कि टाल्स्टाय एक आस्तिक समाजवादी हैं। आस्तिक हैं इसलिए उनके समाज में मनुष्य का महत्त्व है, न कि यन्त्रों का। उनका श्रम भी मनुष्यों का श्रम है। नास्तिक समाजवादी जब कि जीवन की जड़ आवश्यकताओं में ही सीमित हो जाता है, आस्तिक समाजवादी जड़ आवश्यकताओं से जीवन के उपादान लेकर जीवन के साध्य (चैतन्य) की ओर अग्रसर होता है।

हाँ, कलाकार के रूप में टाल्स्टाय ने मानव-प्रवृत्तियों को स्वीकार किया है। गांधी की भाँति वे निवृत्ति-प्रधान नहीं, बल्कि हृदय-हीन विलासिता की ओर ले जानेवाली पूँजीवादी विकृतियों के विरोधी हैं। साथ ही नास्तिक समाजवादियों की जड़ आवश्यकताओं में ही लिप्त हो जाने के भी विरोधी हैं। जीवन में जहाँ वे समान श्रम और आवश्यकताओं (प्रवृत्तियों) के हामी हैं, वहाँ

वे एक संयमित समाजवादी है, और जहाँ आन्तरिक जागरूकता के उद्बोधक है वहाँ आस्तिक हैं। इस प्रकार टाल्स्टाय समाजवाद और गांधीवाद के बीच एक मर्यादित माध्यम या सन्धि-सूत्र हो सकते हैं।

टाल्स्टाय अब तक की पूँजीवादी व्यवस्था को कृत्रिम मिल्कियत कहते हैं। वे इस कृत्रिम मिल्कियत के घोर विरोधी हैं। अपनी कसौटी पर उन्होंने अब तक के साहित्य, समाज, राजनीति और विज्ञान को परखकर उनमें खोखलापन पाया है।

टाल्स्टाय कृत्रिम मिल्कियत को प्राकृतिक श्रम से दूर करना चाहते हैं और प्राकृतिक श्रम को ईश्वरोन्मुख करना चाहते हैं। गान्धीजी भी श्रम-धर्म का प्रचार करते है, किन्तु उनकी दृष्टि में कृत्रिम मिल्कियत (पूँजीवादी व्यवस्था) कुछ अंशों में बनी रहेगी, जिसे वे कृष्णार्पित (जनता-जनार्दन को समर्पित) ट्रस्ट के रूप में देखना चाहते हैं। एक प्रकार से वे कृत्रिम मिल्कियत का सदुपयोग दया-दाक्षिण्य द्वारा चाहते हैं, उसे धर्मदाय बनाकर। यही तो अब तक होता आया है, इसी का विकृत परिणाम आज का व्यक्तिगत स्वत्वाधिकार या कृत्रिम मिल्कियत है। मनुष्य छिपा हुआ पशु हो तो है, वह किसी भी दिन अनियन्त्रित होकर मानुषिक स्वत्वों को पाशविक स्वत्व बना सकता है, जैसे कि आज बना रखा है। अतएव पाशव-मनुष्य को एक सामाजिक नियम-बद्धता में बाँध देने से ही वह मानवीय व्यवस्था का आज्ञाकारी

रह सकता है। और यह मानवीय व्यवस्था ही टाल्स्टाय का प्राकृतिक श्रम है। श्रम तो पशु भी करते हैं किन्तु मानव-श्रम प्रकृति की ही भाँति लोक-कल्याणकारी एवं ईश्वरोन्मुख होगा। वह श्रम यान्त्रिक होकर पाशविक नहीं, बल्कि दैहिक होकर हार्दिक होगा। इस हार्दिक श्रम द्वारा मनुष्य आत्मनिर्भर होगा, परस्पर का शोषण बन्द होकर सामाजिक सहयोग बढ़ेगा। फिर ये हड़ताल वगैरह, जो कृत्रिम मिल्कियत के परिणाम है, नहीं दिखाई पड़ेंगे।

टाल्स्टाय जीवन के मौलिक (आध्यात्मिक) रूप के समाजवादी हैं। कम्यूनिस्ट जीवन के वैज्ञानिक रूप के समाजवादी। कम्यूनिस्टों द्वारा जीवन नहीं बदलता, बल्कि जीवन की विकृत विषमताओं का ही समान-विभाजन होता है। इन्हीं विकृत विषमताओं का गान्धीजी प्रज्ञान से, कम्यूनिस्ट विज्ञान से नव-संस्कार करना चाहते हैं। किन्तु टाल्स्टाय प्राकृतिक जीवन द्वारा इन विषमताओं के अस्तित्व को ही निर्मूल कर देना चाहते हैं। गांधीजी ने तो कुछ पूँजीवाद के साथ और कुछ विज्ञान के साथ एक रियायती दृष्टिकोण बना रखा है, किन्तु टाल्स्टाय ने पूँजीवाद और विज्ञान के लिए जरा भी मुरौवत नहीं रखी है। यदि क्रान्ति का अर्थ आमूल-परिवर्त्तन अथवा नवजीवन का प्रवर्त्तन है तो टाल्स्टाय कम्यूनिस्टों से भी अधिक क्रान्तिकारी और भविष्य-द्रष्टा हैं। जो लक्ष्य गांधीवाद का है वही टाल्स्टाय का भी; किन्तु गांधीवाद को

मानो पिछले दलदल से निकालने के लिए उन्होंने स्पष्ट रूप से पूँजीवाद और विज्ञान का विरोध कर दिया है। इस विरोध में उनका समाजवादी रूप सामने आता है, किन्तु उनका दृष्टिकोण कम्यूनिस्टों से सर्वथा भिन्न और गांधी से सर्वथा अभिन्न है। इस प्रकार टाल्स्टाय गांधीजी के ही एक पूर्ववर्ती समाजवादी संशोधक है। एक ओर वे विषमता (विज्ञान) पर ही अवलम्बित साम्यवादियों का विरोध कर जाते है, दूसरी ओर गान्धीवाद को समाजवाद के उचित स्वरूप का निमन्त्रण दे जाते हैं।

इस समाजवाद के लिए टाल्स्टाय क्रान्तिकारियों के किसी भीषण साधन का नहीं, बल्कि उसी शान्त साधन का संकेत दे गये है जिसे गान्धीजी ने ग्रामोद्योग के रूप में अपना लिया है। साथ ही उनका दृष्टिकोण ज़रा पौरुषेय हो जाय, इसके लिए समाजवाद को स्वीकार कर, समाजवाद के नाम पर आनेवाली भीषणता से मानो सजग भी कर गये है।

जहाँ तक पूँजीवाद का प्रश्न है वहाँ गान्धीजी को टाल्स्टाय की भाँति फारवर्ड होने की जरूरत है, (न होंगे तो उनका प्रतिनिधित्व गलत हाथों में चला जायगा); और जहाँ तक पशु-जीवन के मानव-जीवन बनने का प्रश्न है, वहाँ समाजवादियों को गान्धी का नेतृत्व स्वीकार कर लेना है। यही एक मध्यपथ है जिस पर चलकर गान्धीवाद और समाजवाद सचमुच संसार के नये इतिहास की रचना कर सकते हैं।

गांधीवाद का कार्यक्रम जिस प्रकार का है, उसमें पूँजीवाद स्वयं ही समाप्त हो जायगा और टाल्स्टाय का अभीप्सित समाजवाद प्रकट होगा। इसमें स्वयं गान्धीजी को तो कोई सन्देह नहीं हो सकता, किन्तु उनके बाद गान्धीवाद के अनुयायियों को गलतफहमी हो सकती है। इसी लिए उनका प्रतिनिधित्व गलत हाथों में चले जाने की आशङ्का है। अतएव गान्धीवाद में यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जीवन के जिस सात्त्विक लक्ष्य को लेकर वह बढ़ रहा है, उसके लिए देश-काल के अनुसार उसने जो सामयिक नीति स्वीकार की है, वह अन्तिम नहीं है। जिस प्रकार स्वाधीनता-संग्राम के लिए गान्धीजी ने यह स्पष्टीकरण किया था कि "मुस्लिम लीग से काम चलाने लायक समझौता हुए बिना लीग का भी विरोध करना पड़ेगा", उसी प्रकार उन्हें यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि समाजोन्नति में बाधक होने पर पूँजीपतियों का भी विरोध आवश्यक हो जायगा। गान्धीवाद को हम इसी स्पष्टीकरण में कुछ फारवर्ड देखना चाहते हैं। अन्यथा, उनके बाद उनके अनुयायी पूँजीपतियों से 'काम चलाने लायक' समझौता करते रहेंगे और निरे समाजवादी पूँजीपतियों के विरोध में जनता का प्रतिनिधित्व अपने हाथ में ले लेंगे, जो कि हमें वांछित नहीं है। उनका समाजवाद हमें नहीं चाहिए। उनका समाजवाद तो पूँजीवाद से ही आगे जा रहा है, उसी विषाक्त जीवन के समतल पर। वह पूँजीवाद से पूर्व के जीवन को स्पर्श नहीं करता,

जैसे टाल्स्टाय ने स्पर्श किया है। हमें टाल्स्टाय के समाजवाद की ज़रूरत है जिसकी आशा हम गांधीवाद से ही कर सकते हैं, इसी लिए उसे कुछ फारवर्ड देखना चाहते हैं।

[१९]

सत्याग्रह में जो 'आग्रह' का भाव है वही गांधीजी को समझौते के लिए भी प्रेरित करता रहता है, इसके बाद अनिवार्य हो जाने पर ही उनका अहिंसात्मक संघर्ष चलता है। यही बात पूँजीवाद के सम्बन्ध में भी होगी। आवश्यक होने पर गांधीवाद उससे संघर्ष किये बिना नहीं रह सकता। हाँ, अभी पूँजीवाद से संघर्ष का समय नहीं आया है, वह तो कदाचित् वर्तमान महायुद्ध के बाद सारे संसार में एक साथ ही प्रकट होगा। हम जनता को उस दिन के लिए जगाते रह सकते हैं, जैसे सत्याग्रह न छिड़ने पर* भी उसके लिए हम जनता को प्रशिक्षण प्रस्तुत रखना चाहते हैं। स्वाधीनता-संग्राम की विजय के बाद आर्थिक संघर्ष (समाजवादी प्रश्न) अनिवार्य हो जायगा। तब, हमारा सामाजिक प्रश्न हिन्दू-मुस्लिम, अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक तथा स्वदेशी-विदेशी का न होकर विश्व-मानवता का प्रश्न हो जायगा।

---

* अब १७ अक्टूबर (१९४०) को सत्याग्रह भाषण-स्वातन्त्र्य की माँग के रूप में शुरू हो गया है। शुभारम्भ आचार्य विनोबा भावे के भाषण से हुआ।

फिलहाल, हमारे राष्ट्रीय प्रश्नों का रूप एक पराधीन देश की स्वाधीनता का है। सोवियट क्रान्ति के पूर्व का रूस पूँजीवाद से शोषित अवश्य था, किन्तु पराधीन नहीं था, अतएव वह आसानी से बोलशेविक क्रान्ति की ओर चला गया। किन्तु हमारा देश पराधीन है, अतएव उस तरह की क्रान्ति का अर्थ होगा गृह-युद्ध। इससे स्वाधीनता का संग्राम पीछे छूट जायगा और एक के बाद एक साम्प्रदायिक और राजनीतिक गृह-युद्ध चलते रहेंगे। इस प्रकार हम पर दुतरफा वार होगा, एक तो विदेशी शासन के दमन का और दूसरे अपने ही घर के विग्रह का। हमारी स्थिति बहुत कुछ चीन की सी हो जायगी, अतएव, सम्प्रति हमें एक होकर स्वाधीनता की ओर ही बढ़ना है।

हम इस समय सोवियट क्रान्ति की पूर्व स्थिति में अवश्य हैं, किन्तु उस पथ पर चलकर हमें सोवियट क्रान्ति के बाद की स्थिति (अनवरत संघर्ष) भी नहीं लेनी है। इस प्रकार के संघर्ष से तो क्रान्ति-प्रतिक्रान्ति का क्रम कभी टूटेगा ही नहीं। महात्मा का नेतृत्व ही हमें शान्ति की ओर ले जायगा, क्योंकि गांधीवाद का जन्म क्रान्ति के परिणामों को देखकर हुआ है। हम हद से हद उससे जीवन की समस्याओं को जरा नवयुवकों की दृष्टि से भी देखने का तकाजा कर सकते हैं।

अपने सांस्कृतिक टिकाव में गांधीवाद एक अतीतकालीन पथिक हो सकता है, किन्तु लक्ष्य-च्युत नहीं। बीच बीच में उसका

टिकाव साधनों के संयम और उत्तरदायित्व की गंभीरता को हृदयंगम करने के लिए है। इसके प्रतिकूल उग्र समाजवादियों की प्रगतिशीलता में उतावलापन और उच्छृङ्खलता है। कांग्रेस की भाँति ही वे भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ बोलते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि कांग्रेस (महात्मा) जिन दीन-दलितों की ओर से बोलती है वे भी उन्हीं की ओर से बोलते हैं अथवा उनके नाम पर कहीं अन्यत्र से प्रेरित होकर? यह प्रश्न इसलिए भी उठता है कि प्रगतिशीलतावादी होते हुए भी उनमें घोर अनैक्य है, जिससे ज्ञात होता है कि उनके प्रेरणा-केन्द्र राजनीतिक स्वार्थों के परस्पर-विरोधी राष्ट्रों में हैं, भारत में नहीं।

हाँ, प्रगतिशीलतावादियों की उच्छृङ्खलता देखकर यह स्पष्ट होता है कि उनमें पीड़ित जनों का स्पन्दन नहीं, बल्कि अपनी ही व्यक्तिगत लिप्साओं का विद्वेष और खीझ है। इन्हें हम प्रच्छन्न-अवसरवादी कह सकते हैं, जो अपनी आवश्यकता के अनुसार यथासमय प्रतिक्रियावादी भी हो सकते हैं, जैसे कांग्रेस के ही भीतर से अनेक लोग प्रतिक्रियावादी हो गये। राष्ट्र का सूत्रधार (महात्मा) क्या इनके भरोसे चल सकता, या, इनकी चंचल इच्छाओं के अनुरूप अपने को पल-पल परिवर्त्तित कर इन्हीं जैसा अस्थिरचित्त हो सकता है?

यह तो समझ में ही नहीं आता कि कोई सच्चा समाजवादी गांधीवाद का क्योंकर विरोधी हो सकता है। वास्तविक समाजवादी

तो गांधीवाद का विरोधी न होकर उसके प्रति अनुरोधी ही होगा। यदि आज समाजवाद को गांधीवाद स्वीकार नहीं करता तो इसके माने यह कि समाजवादियों में तपस्या नहीं है। तपस्वी तो तपस्या से ही आकृष्ट होता है न। चर्खा तपस्या का एक शान्त गृह-यज्ञ है, जो उसे ही नहीं स्वीकार कर पाता, वह जीवन में कितनी साधना कर सकता है। मानव-स्वावलम्बन, संवेदन और सामाजिक एकता के प्रतीक चर्खे और खद्दर को अस्वीकार करनेवाला वैज्ञानिक भले ही हो, किन्तु वह लोक-साधक नहीं। वह महत्त्वाकांक्षी हो सकता है, शुभाकांक्षी नहीं। वह वैज्ञानिक सिद्धान्तों की ओट में आत्म-प्रवञ्चक है। स्वाधीनता-दिवस की नई प्रतिज्ञा में चर्खा न केवल राजनीतिक (आर्थिक) प्रतीक है, बल्कि इसके भी ऊपर नैतिक प्रतीक है। उसे वही अपना सकेंगे, जिनमें मनोनियोग है, जिनमें अनुशासन के लिए आत्मशासन है। जिनमें मनोनियोग नहीं है उनके लिए चर्खा भी बिना एकाग्रता के जपी गई सुमिरनी की तरह है।

समाजवाद में जिस दिन एक भी तपस्वी निकल आयेगा (और वह तपस्वी निम्नवर्ग के दीन-दलितों के भीतर से ही आयेगा) उस दिन वही गांधीवाद को समाजवाद में आत्मसात् कर युग को नव जन्म दे देगा। भविष्य में या तो गांधीवाद को समाजवाद में मिल जाना होगा या समाजवाद को गांधीवाद में। संसार की समस्याओं के ये दो परमतत्त्व बिलग-बिलग नहीं रह सकते, ब्रह्म और माया की तरह एक हो जायँगे।

[२०]

तो अब हम फिर अपने साहित्य को देखें। उसे हम १९वीं सदी की प्रारम्भिक सामाजिक और राजनीतिक जागृति में छोड़ आये थे। तब से सार्वजनिक जीवन में जो हलचलें और क्रिया-प्रतिक्रियाएँ चल रही हैं, उनका प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ा है।

मध्ययुग का साहित्य रोमांस-प्रधान था। वह सबजेक्टिव अधिक था। आधुनिक साहित्य आबजेक्टिव की ओर बढ़ा। मध्यकाल के बाद सुधारवादी साहित्य का श्रीगणेश आधुनिक काल की आरम्भिक विशेषता है। पहिले सामाजिक बोधोदय हुआ, फिर राष्ट्रीय। यों कहें कि मध्ययुग में जो सार्वजनिकता खोई हुई थी, धर्म और राजनीति की ओट में ढँकी हुई थी, वह

१९वीं सदी में प्रकट हुई। १९वीं सदी स्वय अपना कोई अस्तित्व लेकर नहीं आई थी, उसने तो केवल मध्ययुग की ओर देखने का अवसर भर दे दिया। इतिहास की लम्बी यात्रा में इसने एक पड़ाव का काम किया था। कुछ प्रकृतिस्थ होकर हमने मध्ययुग के जीवन का निरीक्षण किया। मध्ययुग में जिन सामाजिक सुधारों की आवश्यकता थी उन्हें ही हमने आगे की मंज़िल के लिए अपना लिया। यदि मध्ययुग में ही हमारा सार्वजनिक विवेक जग गया होता तो आज ऐतिहासिक शताब्दियों का स्वरूप ही बदल गया होता और आज हम मध्ययुग का निरीक्षण करने के बजाय वर्तमान काल को बिनाकर इसी का निरीक्षण करते होते। और तब साहित्य का स्वरूप भी कुछ और ही होता। वर्तमान काल का सम्पूर्ण राजनीतिक और साहित्यिक दृष्टिकोण आज अपने पूर्णविकास पर होता। जब कि आज अभी वह प्रयोगात्मक है, अब तक वह प्रयोग-सिद्ध हो गया होता। जनता को भेड़ बनाकर शासन करनेवाली राजनीति के कारण हमारे बीच से जीवन का एक लम्बा जमाना यों ही निकल गया। तलवारों की चकाचौंध में ही मनुष्य की आँखें चौंधिया गईं। जीवन सिर्फ एक आँखमिचौनी मात्र रह गया।

मध्ययुग के अनवरत संघर्षों के बाद मनुष्य ने आधुनिक काल (१९वीं सदी) में अपनी आँखे कुछ खोलीं। जिनकी आँखे खुलीं उनके सामने विगत राजतन्त्र नहीं रह गये थे। उनके सामने

तो अब हम फिर अपने साहित्य को देखें। उसे हम १९वीं सदी की प्रारम्भिक सामाजिक और राजनीतिक जागृति में छोड़ आये थे। तब से सार्वजनिक जीवन में जो हलचलें और क्रिया-प्रतिक्रियाएँ चल रही है, उनका प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ा है।

मध्ययुग का साहित्य रोमांस-प्रधान था। वह सबजेक्टिव अधिक था। आधुनिक साहित्य आबजेक्टिव की ओर बढ़ा। मध्यकाल के बाद सुधारवादी साहित्य का श्रीगणेश आधुनिक काल की आरम्भिक विशेषता है। पहिले सामाजिक बोधोदय हुआ, फिर राष्ट्रीय। यों कहें कि मध्ययुग में जो सार्वजनिकता खोई हुई थी, धर्म और राजनीति की ओट में ढंकी हुई थी, वह

१९वीं सदी में प्रकट हुई। १९वीं सदी स्वयं अपना कोई अस्तित्व लेकर नहीं आई थी, उसने तो केवल मध्ययुग की ओर देखने का अवसर भर दे दिया। इतिहास की लम्बी यात्रा में इसने एक पड़ाव का काम किया था। कुछ प्रकृतिस्थ होकर हमने मध्ययुग के जीवन का निरीक्षण किया। मध्ययुग में जिन सामाजिक सुधारों की आवश्यकता थी उन्हें ही हमने आगे की मंज़िल के लिए अपना लिया। यदि मध्ययुग में ही हमारा सार्वजनिक विवेक जग गया होता तो आज ऐतिहासिक शताब्दियों का स्वरूप ही बदल गया होता और आज हम मध्ययुग का निरीक्षण करने के बजाय वर्तमान काल को बिताकर इसी का निरीक्षण करते होते। और तब साहित्य का स्वरूप भी कुछ और ही होता। वर्तमान काल का सम्पूर्ण राजनीतिक और साहित्यिक दृष्टिकोण आज अपने पूर्णविकास पर होता। जब कि आज अभी वह प्रयोगात्मक है, अब तक वह प्रयोग-सिद्ध हो गया होता। जनता को भेड़ बनाकर शासन करनेवाली राजनीति के कारण हमारे बीच से जीवन का एक लम्बा ज़माना यों ही निकल गया। तलवारों की चकाचौंध में ही मनुष्य की आँखें चौंधिया गईं। जीवन सिर्फ एक आँखमिचौनी मात्र रह गया।

मध्ययुग के अनवरत संघर्षों के बाद मनुष्य ने आधुनिक काल (१९वीं सदी) में अपनी आँखें कुछ खोलीं। जिनकी आँखें खुलीं उनके सामने विगत राजतन्त्र नहीं रह गये थे। उनके सामने

'स्वदेश-संगीत' में मिलता है। लिबरलिज़्म में जगा हुआ देश और साहित्य गांधीज़्म में एकोन्मुख हो गया। यदि गांधीजी को भी लिबरल मान लिया जाय तो वे लिबरल-रूप में छिपे हुए १९वीं सदी के कंज़र्वेटिव नहीं, बल्कि लिबरल नाम को सार्थक करनेवाले युग-पुरुष हैं। गान्धीजी को लिबरल मान लेने पर अन्य लिबरलों का अस्तित्व स्वयं समाप्त हो जाता है। अतएव, कांग्रेस (लिबरल) और कांग्रेस के आगे की शक्तियाँ (समाजवाद) ही देश की सार्वजनिक प्रतिनिधि रह जाती है।

[२१]

भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में राजनीति नये शासन में नई वस्तु थी, यद्यपि मध्ययुग की भाँति ही उसका बानक भी साम्राज्यशाही था। वह नई राजनीति अभी पनप रही थी। उसका परिणाम हमारे जीवन में स्पष्ट नहीं हुआ था। नये किसलय के सौन्दर्य से व्यामोहित कवि की भाँति हम उस पर मुग्ध ही होते रहे। उसकी उदारता के प्रति हम विश्वासी थे। हाँ, मध्ययुग की सामाजिक जड़ता हमारे सामने अधिक स्पष्ट थी, अतएव राजनीति के बजाय सामाजिक रचना की ओर ही हमारा ध्यान अधिक गया। भारतेन्दु-युग से हमारा साहित्य विशेषत: इसी दिशा में अग्रसर रहा। सामाजिक क्षेत्र ने हमारे साहित्य को विस्तार दिया। पहिले रीतिकाल का काव्य मात्र था, अब गद्य-साहित्य अपने विविध रूप में प्रस्फुटित होने लगा। मध्ययुग के राजनीतिक शिखर से गिरकर

चोट खाने पर हम जीवन को ज़रा निकट से देखने लगे। यह निकटता उत्तरोत्तर बढ़ती गई—भारतेन्दु-युग में साहित्य ने समाज की सुध ली थी, द्विवेदी-युग ने परिवार की भी सुध ली। सामाजिक और पारिवारिक साहित्य ही इन दो युगों का विशेष दान है।

इस प्रकार हम अपने साहित्य में जीवन के स्तर-दर-स्तर उतरते आये—राजनीति से समाज में समाज से परिवार में। राजनीति के अहंकार से हम जीवन के साक्षात्कार की ओर बढ़ने लगे।

किन्तु एक बात। हमारी प्रवृत्तियों का स्थानान्तर तो हो रहा था, किन्तु जीवन को देखने का दृष्टिकोण नहीं बदला था। मध्ययुग के जिस राजनीतिक अहङ्कार के हम अभ्यस्त थे, वही अहङ्कार समाज और परिवार में भी बना हुआ था। शासित होते-होते हमारा समग्र जीवन अहं का आदी हो गया था, ममत्व का नहीं। सदियों की मानसिक दासता के कारण मस्तिष्क में स्वतन्त्र विचारों के लिए स्थान नहीं रह गया था। रूढ़िप्रियता ही हमारी बुद्धिमत्ता थी और जैसे हम राजनीति में शासित होते आये वैसे ही समाज और परिवार को शासित करने में हमारे रुद्ध अहङ्कार को तृप्ति की साँस मिलती थी। इसी अहङ्कार के विरुद्ध, रूढ़ियों के विरोध में, सुधारवादी साहित्य का जन्म हुआ। हमारी सामाजिक कदर्थना साहित्य में रियलिज्म बनी और उससे विवेक ग्रहण करने का संकेत आइडियलिज्म बना। अँगरेजों के सम्पर्क से, देश-काल का दायरा बढ़ जाने के कारण, हममें जो प्रारम्भिक

आधुनिकता आई, उसी के द्वारा हमें अपने सामाजिक जीवन को एक भिन्न दृष्टि से भी देखने की दृष्टि मिली। यों कहें कि मध्य-युग में जब कि हम अपने जीवन के एक 'पार्टनर' थे तो अब दर्शक भी हो गये। हममें एक आलोचक बुद्धि जगी। स्वयं विदेशी न होते हुए भी, हमें अपने जीवन की ओर देखने के लिए विदेशियों की सी तटस्थता मिली, क्योंकि नये शासन के आगमन से वह हमें स्वयं ही सुलभ हो गई थी। तब तक नये (बृटिश) शासन का स्वरूप आज जितना स्पष्ट नहीं हुआ था, वह तो उत्तरोत्तर स्पष्ट होने की वस्तु थी। किन्तु देशी और विदेशी सामाजिक चित्रपट तो अपनी भिन्नता में एकबारगी ही स्पष्ट था। इस स्पष्टता को देखकर हम अपने में ही गुम-सुम रह जाते किन्तु जब ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म-प्रचार द्वारा हमारी सामाजिक दुर्बलताओं पर वाक्प्रहार प्रारम्भ किया तब उनके मुक़ाबिले शक्ति-संचय करने के लिए हमारा ध्यान सामाजिक सुधार की ओर गया। इसी लिए हमारे आधुनिक काल का साहित्य भी सामाजिक रचनाओं से ही प्रारम्भ हुआ।

[२२]

इस नवीन सामाजिक जागृति के अगुआ थे, आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज। इन दोनों को उस समय के सामाजिक सुधार के क्षेत्र में वामपक्षीय और दक्षिणपक्षीय कह सकते हैं। आर्यसमाज (वामपक्ष) न तो पुराने हिन्दू समाज से सहयोग करता था, और

न ईसाइयों के नये समाज से। उसने एक यौद्धिक सिपाही का रूप धारण किया। उसने हिन्दुत्व के भीतर एक फौजी संस्कृति को जागरूक किया। स्वभावतः उसमें मनोहरता-मधुरता नहीं थी; हिन्दुत्व था, कवित्व नहीं। युद्धक्षेत्र की गृहस्थी जैसी उसकी संस्कृति थी, रूखी-सूखी। उसका मुख्य उद्देश्य था विदेशी सभ्यता के प्रति विजयी होना, उसे शुद्ध कर अपने में मिला लेना। अतएव, विजातीय अथवा विदेशी दृष्टिकोण से हिन्दू-समाज में जो खामियाँ थीं, उन्हें पुराने समाज के साथ छोड़कर उसने एक ऐसे समाज को मोर्चे पर लगा दिया जो पिछली कमजोरियों के कारण दूसरों से जलील न हो सके। असल में आर्यसमाज विजातियो अथवा विदेशियों को आत्मसात् करने के लिए हिन्दुत्व का खुला दरवाज़ा बना। पिछले हिन्दू-समाज की कमज़ोरियों से लाभ उठाकर विजातीय जिन्हें अपनी ओर खींच ले जाते थे, आर्यसमाज उन्हें मय सूद के (विजातियों को भी शुद्ध कर) अपने में खींच लाता था। इस फौजी हिन्दू संस्कृति का साहित्य प्रचारात्मक और खण्डन-मण्डनात्मक है, अपने सामयिक पैम्फलेटों और भजनों में। खेद है कि समाज में स्थान बनाकर भी उसने स्थायी साहित्य में स्थान नहीं बनाया। कारण, एक सामयिक आवेग से आगे वह स्थायी निर्माण की ओर नहीं बढ़ सका।

इधर ब्राह्म समाज ने यौद्धिक मनोवृत्ति न लेकर एक गृहस्थ की सामयिक व्यवहार-कुशलता से काम लिया। उसने आँग्ल सभ्यत

के साथ विग्रह नहीं किया, सन्धि की। उसने झुककर ही अपना अस्तित्व बनाया। किन्तु इस झुकने में उसकी मुद्रा बदल गई, उसमें अँगरेजी अभिव्यक्ति की विचित्रता आ गई। एक शब्द में, उसका रूपान्तर हो गया। हाँ, उसकी आत्मा (मूल संस्कृति) उसमें बनी रही, यद्यपि उसका माध्यम (शरीर) बदल गया। ब्रिटिश इण्डिया की भाँति ही ब्राह्म समाज भी हिन्दू धर्म का अँगरेजी भारतीय करण था। मुस्लिम शासन में जिस प्रकार भारतीयों को एक बना-बनाया समाज मिला और उस समाज के जीवन की अभिव्यक्तियाँ (कला) मिलीं, उसी प्रकार ब्रिटिश शासन में ब्राह्म समाज को आँग्ल समाज और उसके जीवन की अभिव्यक्तियाँ मिलीं। आर्यसमाज यदि हिन्दू-समाज का आधुनिक सैनिक था तो ब्राह्मसमाज आधुनिक नागरिक। आर्यसमाज के सामने कोई पूर्वनिर्मित जीवन और उसकी अभिव्यक्ति नहीं थी,—पिछले समाज को वह छोड़ चुका था, नये समाज के साथ उसका संघर्ष चल रहा था. अतएव उसे वह मॉडल सुलभ ही नहीं हुआ, जिसके आधार पर वह नये जीवन और नये साहित्य का निर्म्माण करता। आर्यसमाज जब कि एक अमूर्त्त धार्मिक आधुनिकता की ओर बढ़ रहा था, ब्राह्मसमाज ने एक मूर्त्त नागरिक आधुनिकता को अंगीकार कर लिया था। फलत: उसे आत्मसृजन का अवसर मिला। आर्यसमाज एक सामाजिक सुधारक था, ब्राह्मसमाज एक सांस्कृतिक उद्भावक। धार्मिक उद्भावना ने देश-काल के अनु-

सार मध्ययुग में भी साहित्य और कला में अपना एक स्थान बनाया था, इस युग में भी बनाया। उसने समय-समय पर साहित्य में एक आध्यात्मिक अनुभूति को जन्म दिया है जिसका दुरुपयोग शृङ्गारिक कवियों ने किया था। भक्ति-काव्य के रहस्यवाद का दुरुपयोग जिस प्रकार शृङ्गारिक कवियों ने किया उसी प्रकार आज के छायावाद का दुरुपयोग उर्दू भावुकता से प्रेरित अपरिपक्व नवयुवक कवियों ने। छायावादी कला के विन्यास में ये कवि मध्ययुग की ही कोई विलासी प्रजा है।

ब्राह्मसमाज ने मध्ययुग के रहस्यवाद को आंग्ल समाज के सहयोग से एक रोमैन्टिक रूप दे दिया। साथ ही मुस्लिमकाल में जैसे एक मुगल कला आई थी, वैसे ही ब्राह्मसमाज के द्वारा हमारे जीवन और साहित्य में एक अँगरेजी कला भी आई। इस कला में भारतीयता वैसी ही है जैसी ठाकुर-शैली की चित्रकला में।

बंगाल में ठाकुर-परिवार के संरक्षण में यह कला बहुत पहिले ही आ गई थी किन्तु हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी-युग के बाद आई। उसे हम 'छायावाद' कहते हैं। बंगाल में बहुत पहिले आ जाने का कारण यह कि ब्राह्मसमाज को नवीन सामाजिक चेतना के लिए बना-बनाया अँगरेजी मॉडल मिल जाने के कारण उसे तुरत अपनी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय देने का अवसर मिला। किन्तु इधर का समाज संघर्षों में ही चल रहा था, नवीन सामाजिक चेतना का मूर्त्त रूप न मिलने के कारण वह परम्परा को ही पकड़े हुए था।

सार मध्ययुग में भी साहित्य और कला में अपना एक स्थान बनाया था, इस युग में भी बनाया। उसने समय-समय पर साहित्य में एक आध्यात्मिक अनुभूति को जन्म दिया है जिसका दुरुपयोग शृङ्गारिक कवियों ने किया था। भक्ति-काव्य के रहस्यवाद का दुरु-पयोग जिस प्रकार शृङ्गारिक कवियों ने किया उसी प्रकार आज के छायावाद का दुरुपयोग उर्दू भावुकता से प्रेरित अपरिपक्व नव-युवक कवियों ने। छायावादी कला के विन्यास में ये कवि मध्ययुग की ही कोई विलासी प्रजा हैं।

ब्राह्मसमाज ने मध्ययुग के रहस्यवाद को आंग्ल समाज के सहयोग से एक रोमैन्टिक रूप दे दिया। साथ ही मुस्लिमकाल में जैसे एक मुगल कला आई थी, वैसे ही ब्राह्मसमाज के द्वारा हमारे जीवन और साहित्य में एक अँगरेज़ी कला भी आई। इस कला में भारतीयता वैसी ही है जैसी ठाकुर-शैली की चित्रकला में।

बंगाल में ठाकुर-परिवार के संरक्षण में यह कला बहुत पहिले ही आ गई थी किन्तु हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी-युग के बाद आई। उसे हम 'छायावाद' कहते हैं। बंगाल में बहुत पहिले आ जाने का कारण यह कि ब्राह्मसमाज को नवीन सामाजिक चेतना के लिए बना-बनाया अँगरेज़ी मॉडल मिल जाने के कारण उसे तुरत अपनी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय देने का अवसर मिला। किन्तु इधर का समाज संघर्षों में ही चल रहा था, नवीन सामाजिक चेतना का मूर्त्त रूप न मिलने के कारण वह परम्परा को ही पकड़े हुए था।

के साथ विग्रह नहीं किया, सन्धि की। उसने झुककर ही अपना अस्तित्व बनाया। किन्तु इस झुकने में उसकी मुद्रा बदल गई, उसमें अँगरेजी अभिव्यक्ति की विचित्रता आ गई। एक शब्द में, उसका रूपान्तर हो गया। हाँ, उसकी आत्मा (मूल संस्कृति) उसमें बनी रही, यद्यपि उसका माध्यम (शरीर) बदल गया। बृटिश इण्डिया की भाँति ही ब्राह्म समाज भी हिन्दू धर्म का अँगरेजी भारतीय करण था। मुस्लिम शासन में जिस प्रकार भारतीयों को एक बना-बनाया समाज मिला और उस समाज के जीवन की अभिव्यक्तियाँ (कला) मिलीं, उसी प्रकार बृटिश शासन में ब्राह्म समाज को आँग्ल समाज और उसके जीवन की अभिव्यक्तियाँ मिलीं। आर्यसमाज यदि हिन्दू-समाज का आधुनिक सैनिक था तो ब्राह्मसमाज आधुनिक नागरिक। आर्यसमाज के सामने कोई पूर्वनिर्मित जीवन और उसकी अभिव्यक्ति नहीं थी,—पिछले समाज को वह छोड़ चुका था, नये समाज के साथ उसका संघर्ष चल रहा था, अतएव उसे वह मॉडल सुलभ ही नहीं हुआ, जिसके आधार पर वह नये जीवन और नये साहित्य का निर्म्माण करता। आर्यसमाज जब कि एक अमूर्त्त धार्मिक आधुनिकता की ओर बढ़ रहा था, ब्राह्मसमाज ने एक मूर्त्त नागरिक आधुनिकता को अंगीकार कर लिया था। फलतः उसे आत्मसृजन का अवसर मिला। आर्यसमाज एक सामाजिक सुधारक था, ब्राह्मसमाज एक सांस्कृतिक उद्भावक। धार्मिक उद्भावना ने देश-काल के अनु-

साथ मध्ययुग में भी साहित्य और कला में अपना एक स्थान बनाया था, इस युग में भी बनाया। उसने समय-समय पर साहित्य में एक आध्यात्मिक अनुभूति को जन्म दिया है जिसका दुरुपयोग शृङ्गारिक कवियों ने किया था। भक्ति-काव्य के रहस्यवाद का दुरुपयोग जिस प्रकार शृङ्गारिक कवियों ने किया उसी प्रकार आज के छायावाद का दुरुपयोग उर्दू भावुकता से प्रेरित अपरिपक्व नवयुवक कवियों ने। छायावादी कला के विन्यास में ये कवि मध्ययुग की ही कोई विलासी प्रजा हैं।

ब्राह्मसमाज ने मध्ययुग के रहस्यवाद को आंग्ल समाज के सहयोग से एक रोमैन्टिक रूप दे दिया। साथ ही मुस्लिमकाल में जैसे एक मुगल कला आई थी, वैसे ही ब्राह्मसमाज के द्वारा हमारे जीवन और साहित्य में एक अँगरेजी कला भी आई। इस कला में भारतीयता वैसी ही है जैसी ठाकुर-शैली की चित्रकला में।

बंगाल में ठाकुर-परिवार के संरक्षण में यह कला बहुत पहिले ही आ गई थी किन्तु हिन्दी-साहित्य में द्विवेदी-युग के बाद आई। उसे हम 'छायावाद' कहते हैं। बंगाल में बहुत पहिले आ जाने का कारण यह कि ब्राह्मसमाज को नवीन सामाजिक चेतना के लिए बना-बनाया अँगरेजी मॉडल मिल जाने के कारण उसे तुरत अपनी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय देने का अवसर मिला। किन्तु इधर का समाज संघर्षों में ही चल रहा था, नवीन सामाजिक चेतना का मूर्त्त रूप न मिलने के कारण वह परम्परा को ही पकड़े हुए था।

इस परम्परागत (सनातनधर्मी) समाज के साथ बंगाल में ब्राह्म समाज का भी संघर्ष जारी था, जैसे यहाँ आर्यसमाज का; किन्तु दूसरी तरफ ब्राह्मसमाज निश्चिन्त था विदेशी सभ्यता के साथ सन्धि करके अपना निर्माण करने में। किन्तु आर्यसमाज दोनों तरफ संघर्ष ही संघर्ष कर रहा था, निर्माण कुछ नहीं दे रहा था। इस संघर्ष से अलग, मध्यकाल का परम्परागत हिन्दूसमाज अपने पुराने स्वरूप में ही चल रहा था, उसे आर्यसमाज और विदेशी सभ्यता दोनों ही नहीं रुच रहे थे। एक उसे अपनी सैनिक शुष्कता के कारण अस्वाभाविक लग रहा था तो दूसरा विदेशियों जैसा अपरिचित होने के कारण सन्देह-जनक।

तो आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज अपने-अपने क्षेत्र में बढ़ रहे थे। इनकी हलचलों के बीच परम्परागत हिन्दू-समाज का जीवन और साहित्य भी चला आ रहा था। १९वीं सदी की कशमकश में इस परम्परागत समाज को भी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए रूढ़ियों में कुछ सुधार करने पड़े। यों कहें, रूढ़िग्रस्त समाज अपने सामयिक उपचार में लगा, फलतः उसकी रूढ़िग्रस्तता में एक स्वस्थ रूढ़िप्रियता का संस्कार उत्पन्न हुआ। आखिर था तो वह पुराना समाज ही, अतएव उसके अस्तित्व की पुरातनता स्वयं ही एक रूढ़ि बनकर उसकी 'जीवन-मूरि' बनी हुई थी।

आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज के प्रभाव से पृथक्, किन्तु १९वीं सदी की कशमकश से जगकर सुधार की ओर बढ़नेवाले उस

परम्परागत समाज के आरम्भिक साहित्यकार हिन्दी में भारतेन्दु और बङ्गाल में बङ्किम हुए। भारतेन्दु ने हिन्दुओं की सामाजिक निर्बलता देखी, बङ्किम ने राजनीतिक दासता। भारतेन्दु ने समाज-सुधार की ओर ध्यान दिया, बङ्किम ने हिन्दुओं के शक्ति-सङ्गठन की ओर। पुरातन हिन्दू संस्कृति की रक्षा के लिए दोनों ने उद्बोधन का स्वर ऊँचा किया।

सुधार और संगठन की ओर लगा हुआ यही समाज द्विवेदी-युग तक चला आया। किन्तु इस समाज में सुधार का ढङ्ग महाजनी था। वह अपने पुराने बजट (जीवन) के अनावश्यक मदों (प्रथाओं) को तोड़कर अपनी साख की रक्षा कर रहा था। उसके सुधार के मुख्य अङ्ग थे—दहेज, विदेश-गमन, छूतछात इत्यादि इसी ढङ्ग के छोटे-मोटे सामाजिक प्रश्न। संस्कृति के नाम पर पाठशाला, धर्मशाला, अखाड़ा, अन्नसत्र और देवालय उसके धर्मरक्षक थे। यह स्पष्ट है कि इस सुधार और संस्कृति का सूत्र-धार सम्पन्नवर्ग है। निम्नवर्ग 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' के अनुसार उसका अनुचर रहा—उसकी इनायतों का मुहताज रहा। इस सम्पन्न वर्ग के द्वारा यदि निम्नवर्ग का कुछ कल्याण हो जाता है तो इसमें उसका अपना भी लाभ बना रहता है। यथा, उसके अन्नसत्र से दो मुट्ठी अन्न पाकर एक गरीब अपनी उदर-ज्वाला को ज़रा पुचकार लेता है तो दूसरी ओर अन्नदाता को धर्म का यश (पुण्य) भी मिलता है। या, दहेज और विदेश-

गमन-सम्बन्धी सुधारों से उसे अपने लिए भी सुविधाएँ मिल जाती हैं—बेचारे ग़रीब के लिए क्या दहेज, क्या विदेश-गमन! हम देखते हैं कि इन सुधारों से उनके जीवन को कोई राहत नहीं मिलती जो वस्तुतः रूढ़िग्रस्त समाज के रवैयों से आक्रान्त हैं। यह समाज-सुधार तो अर्हसेवी वर्ग की ही व्यापारिक सहृदयता है। इसमें मानव-सहानुभूति का स्पर्श नहीं है।

बङ्किम ने हिन्दूशक्ति के संगठन का संकेत तो दिया किन्तु समाज-संस्कार के लिए उन्होंने भी कोई सर्वजनहिताय अनुष्ठान नहीं बताया। निदान बंकिम के बाद बंगाल में ब्राह्मसमाज का प्रभाव बढ़ा, इधर हिन्दी में उक्त परम्परागत समाज का महाजनी साहित्य ही चलता रहा। भारतेन्दु के बाद उनके युग में कोई नवीन प्रभावशाली सामाजिक रचनाकार भी नहीं आया। भारतेन्दु के बाद देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी आये भी तो मध्ययुग के काव्यात्मक रोमान्स का ही औपन्यासिक बानक लेकर। इससे यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु-युग में जो नवीन सामाजिक चेतना जगी, वह ऊपर ही ऊपर थी, वह इतनी गहराई में नहीं थी कि साहित्य की गति मोड़ देती। हाँ, साहित्य के विविध स्फुट प्रसङ्गों की रचना के लिए भारतेन्दु-युग से एक प्रेरणा अवश्य मिल गई थी, जिसके अनेक लेखक और कवि हमारे वर्तमान साहित्य के निर्माताओं में हैं—सर्वश्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', रत्नाकर, 'हरिऔध', श्रीधर पाठक, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट इत्यादि।

[२३]

किन्तु द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग की वह सामाजिक चेतना कुछ गहराई में पहुँचने लगी थी। सार्वजनिक आन्दोलन जनता का मर्मस्पर्श करने लगे थे। इस युग के दो प्रमुख साहित्यिक सामने आये—प्रेमचन्द और मैथिलीशरण। प्रेमचन्द आर्यसमाजी चेतना की सतह पर आये, मैथिलीशरण सुधारोन्मुख परम्परागत समाज की सतह पर। प्रेमचन्द भारतीय समाज को लेकर खड़े हुए, मैथिलीशरण हिन्दू संस्कृति को। किन्तु जब ये महानुभाव हमारे साहित्य में आये तब १९ वीं सदी की भस्माच्छादित राजनीतिक जागृति भी चमचमाने लगी थी। कांग्रेस की नरम-गरम पार्टियाँ आपस में अपनी अपनी शक्ति की आज़माइश कर रही थीं। आगे चलकर इस राजनीतिक जागृति को अन्तःशुद्ध होकर देश के लिए एक संयमित स्फूर्ति बन जाना था। वह समय ज़रा आगे था, तब तक साहित्य अपनी सामाजिक जागृति की गति से ही चल रहा था। इस समय साहित्यिक दृष्टि से बङ्गाल सिरमौर था। कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर (ब्राह्मसमाज) अपनी प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँच चुके थे। ऐसे समय में देश की भावी राजनीति का नेता तो दक्षिण अफ्रीका में था और सुधारोन्मुख सनातन समाज का महान् कलाकार बङ्गाल में उदित हो रहा था। एक का नाम था मोहनदास करमचन्द गाँधी, दूसरे का नाम शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय। रवीन्द्र के बाद भारतीय साहित्य या भारत की धर्मप्राण आत्मा का प्रतिनिधित्व शरच्चन्द्र ने

ही किया। रवीन्द्र की कीर्त्ति-संन्ध्या (वार्द्धक्य) में शरच्चन्द्र का उदय हुआ और जब कि रवीन्द्रनाथ आज के प्रभात में भी उदित है, शरच्चन्द्र एक साहित्यिक ज्योत्स्ना छिटकाकर चले गये हैं। जिस अँगरेजी 'शेड' में रवीन्द्रनाथ अपना प्रकाश लेकर आये मानो उसी का भविष्य देखने के लिए वे आज भी हमारे बीच मे हैं, यदि उसका भविष्य अन्धकारमय हो तो शरद् उस अन्धकार के लिए एक सहज उज्ज्वल प्रकाश दे गये हैं—भारत की गृहदेवियों के द्वगों का।

रवीन्द्र और शरद, दोनों मध्ययुग के अभिजातवर्ग के कलाकार हैं। रवीन्द्र-साहित्य से विदेशियों को हमें समझने का माध्यम मिलेगा; शरद्-साहित्य से अपनी आस्थाओं के लिए सुदृढ़ आधार। रवीन्द्र की कला उस अभिजात वर्ग का राज-संस्करण है, शरद की कला सुलभ संस्करण। रवीन्द्र का समाज अपेक्षाकृत सम्पन्न श्रेणी के व्यक्तियों का समाज है, जिसके हर्ष-विषाद, आशा-आकांक्षा, विजय-पराजय, सब राजसी है। वहाँ पिछले परम्परागत समाज के लोग ही अँगरेजी मॉडल हाउसों में बस गये हैं। पिछले समाज का अहङ्कार यदि कोठीवाल है तो नये समाज का अहङ्कार जेंटिलमैन। शरद् की कला में इन्हें भी चित्रित किया गया है। किन्तु उनकी कला के प्राण वे है जो इन क्लासिकल और रोमैन्टिक अहङ्कारियों के सामाजिक शोषण से निर्बल-निःसहाय हैं और साधन-रहित शिशु के समान अपने घरौंदों

(मनःस्वप्नों) को कोई सुदृढ़ नींव नहीं दे पाते। उन्हीं मनःस्वप्नों का चित्रण और राजसी समाज का अहङ्कार-विद्रवण, शरद की कला का मर्मभेदी लक्ष्य है। शरद की कला समाज के नगण्य प्राणियों की अग्रगण्य कला है।

शरद ने राजसी समाज के अहङ्कार-विद्रवण के लिए उसी के भीतर कुछ विद्रोह खड़ा कर दिया है। उस समाज की तरुण पीढ़ी में मानव-संवेदना उत्पन्न कर शरद ने अहङ्कार पर प्रहार कराया है। तरुण विद्रोहियों को पथ-भ्रष्ट कहकर समाज उन्हें संस्कृति की विरासत से वञ्चित न कर दे, इसलिए शरद ने चरित्र और नीति को नई कसौटी दी है। यहीं पर उन्होंने पुरातन समाज के भीतर आधुनिक चरित्र-चित्रण की कला भी उपस्थित की है। यहीं पर वे सनातन समाज के क्रान्तिकारी कलाकार हैं। सनातन समाज के भीतर जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर है उसे ही शरद ने समाज के वेदना-विवर्ण मुखमण्डल पर दिखलाया है और उसके उद्धार के लिए ही तरुण सैनिकों को अग्रसर किया है। विद्रोही होकर शरद अपनी ठेठ माँ-बहिनों को पुराने समाज में ही छोड़कर कोई अलग समाज नहीं बनाना चाहते थे, जैसे पुराने समाज के भीतर से एक अलग अँगरेज़ी समाज बन गया। आधुनिकता के नाम पर उस अँगरेज़ी समाज के बुद्धि-विलास को शरद नापसन्द करते थे। वे तो अपनी माँ-बहिनों के निकट रह-कर ही मानवता की नवीन समवेदना के स्पर्श से उन्हें भी आधुनिक

पीढ़ी का परिचय देना चाहते थे। किन्तु उनकी आधुनिक पीढ़ी मध्ययुग के आर्थिक प्रभुत्व की उत्तराधिकारिणी होकर ही सामाजिक प्रभुत्व के साथ विद्रोह करने मे समर्थ होती है।

'चरित्र-हीन' में जब गृहत्यागिनी किरणमयी से सतीश घर लौट चलने को कहता है तब किरणमयी पसोपेश में पड़कर कहती है—"किन्तु समाज.."

सतीश बीच ही में बोल उठा—"नहीं, नहीं, जिसके पास रुपया है, जिसके शरीर में बल है, उसके विरुद्ध समाज कुछ नहीं कर सकता। ये दोनों चीजें मुझे अच्छी तरह प्राप्त हैं भाभी!"

इस प्रकार शरद की तरुण पीढ़ी वैभव के अहङ्कार का वैभव से ही पराभव करना चाहती है। यह चिन्तनीय है कि दलित, पीड़ित और शोषित वर्ग को शक्ति-स्वावलम्बन शरद नहीं दे सके। कदाचित् इसके लिए जिस भविष्य की आवश्यकता थी, तब तक उसका आभास देश को नहीं मिला था।

[२४]

ऊपर कहा जा चुका है कि हमारे साहित्य में जब प्रेमचन्द समाज को और मैथिलीशरण संस्कृति को लेकर खड़े हुए, तब तक १९ वीं सदी की भस्माच्छादित राजनीतिक जागृति भी देश में चमचमाने लगी थी। वह जब तक ज्वालामय नहीं हो उठी, तब तक साहित्य, युद्धक्षेत्र से दूर गार्हस्थिक हलचलों की भाँति सामाजिक और सांस्कृतिक उत्कर्षों का ही उद्घोष करता रहा। साहित्य की

उस प्रगति में एकमात्र रवीन्द्रनाथ ही बुजुर्ग थे। उनकी आधुनिकता की ऊँचाई तक पहुँच पाना ही तब तक हमारे साहित्य के लिए दु:साध्य था। यह सन् १९१४-१७ के महायुद्ध के पूर्व का प्रसङ्ग है। उस महायुद्ध ने संसार का ध्यान राजनीति की ओर भी खींच दिया। किन्तु उस समय न तो हमारा राष्ट्रीय सङ्गठन हुआ था और न कोई स्पष्ट राजनीतिक लक्ष्य सामने आ पाया था। हद से हद स्वदेशी के नाम पर आतङ्कवादी दल का जन्म हो चुका था, जो केवल विभीषक था, विवेकवान् नहीं। रवीन्द्र के 'घरे-बाहिरे' और शरद के 'पथेर दावी' में उनका भी चित्रण मिलता है। रवीन्द्र उस दल को अपनी सहानुभूति नहीं दे सके, उनका चित्रण उन्होंने उसी ढङ्ग से किया है जिस ढङ्ग से शरद ने ब्राह्मसमाज का। आतङ्कवादी दल से शरद की सहानुभूति थी। अन्य किसी युग-प्रवर्त्तक राष्ट्रीय कार्यक्रम के अभाव में शरद उस दल के साहस के श्रद्धालु थे। ऐश्वर्य के सम्मुख दीनों-दलितों का जो दु:ख-दैन्य निरवलम्ब है, उसे यह आतङ्कवादी दल कोई शक्ति तो नहीं दे रहा था, हाँ, देश के शासकों को उद्विग्न अवश्य कर रहा था। दीन-दलितों के लिए सहानुभूति रखते हुए भी यह दल सीधे पूँजीवाद से लोहा लेने का कार्यक्रम नहीं पा सका था। शासकों के बदल जाने से ही तो साधारण जनता की स्थिति बदल नहीं सकती थी। इस दल में जो परदु:खकातरता थी, उसी के कारण शरद आतङ्कवादियों के प्रति स्नेहोन्मुख थे। किन्तु 'पथेर-

दाबी' में शरद्बाबू ने उस दल को एक आदर्श का संकेत भी दिया है। निरुद्देश्य क्रान्तिकारी विभीषिका को वे भी व्यर्थ समझते थे। 'पथेर दाबी' में उन्होंने क्रान्तिकारी पार्टी को देश के बुनियादी राजनैतिक प्रश्नों को समझने का आमंत्रण दिया है। 'पथेर दाबी' के सव्यसाची के ये कथन मानों आतङ्कवादियों को सजेशन देते हैं—

"हमारे राजा इस देश में नहीं रहते, विलायत में रहते हैं। लोग कहते हैं कि वे बहुत ही अच्छे आदमी हैं। न मैंने कभी उन्हें आँखों से देखा है और न उन्होंने ही मेरा रंचमात्र नुक़सान किया है। तब उनसे मेरा वैरभाव हो ही कैसे सकता है, अपूर्व बाबू ?"

"राजकर्मचारी राजा के नौकर हैं, तनख्वाह पाते हैं, हुक्म की तामील करते हैं। एक जाता है, दूसरा आता है। यह सहज और मोटी बात है। परन्तु आदमी जब इस सहज को जटिल और मोटी को निरर्थक बारीक करके देखना चाहता है तब उससे बहुत बड़ी ग़लती होती है। इसी लिए वह उन पर आघात करने को ही राजशक्ति की जड़ में आघात करना समझकर आत्मवञ्चना करता है। इतनी बड़ी घातक व्यर्थता और नहीं हो सकती।"

इन कथनों में शरद् अनार्किस्ट नहीं हैं, उनका लक्ष्य इसके भी आगे है। वे शासन-तन्त्र के नहीं, बल्कि शासन-प्रणाली के विरोधी हैं। यहाँ तक परोक्ष रूप से वे गान्धीवाद के साथ हैं। किन्तु क्रान्तिकारी पार्टी के प्रति सहानुभूति-पूर्ण होकर वे तरुणों को जिस

शक्ति को अपनी आत्मीयता देते हैं, उसका कार्य्यक्षेत्र कुछ और विस्तृत देखना चाहते हैं। वे उसे एक बुनियादी क्रान्ति की ओर अग्रसर देखना चाहते हैं। एक ब्राह्मणोचित लक्ष्य के लिए वे क्रान्तिकारी पार्टी को क्षत्रियोचित शौर्य्य के रूप में देखना चाहते हैं, मानो गान्धीवाद को सैनिक संरक्षण देना चाहते हों। शरद का यही क्रान्तिकारी रूप आज के गान्धीवाद और समाजवाद के द्वन्द्व में एक आदर्शवादी समाजवाद के रूप में प्रकट हो सकता है, यह वैष्णव मनोवृत्तियों के भीतर से शाक्त प्रवृत्तियों का अपनाव है—मानो कोमलता के लिये कठोरता का कवच।

असल में कोरे ब्राह्मसमाजी तथा कोरे क्रान्तिकारी रवीन्द्र और शरद को अभीष्ट नहीं। फलतः आदर्श ब्राह्मसमाज को रवीन्द्र ने और आदर्श क्रान्तिकारी दल को शरद ने उपस्थित किया। रवीन्द्र ने क्रान्तिकारियों की मिथ्या विभीषिका दिखला दी, शरद ने ब्राह्मसमाज की मिथ्या लिप्सा। शरद ने जिस मिथ्या ब्राह्म-समाज को दिखलाया उसका समुचित आदर्श रवीन्द्र के 'गौरमोहन' में है; रवीन्द्र ने 'घरे बाहिरे' में जिस मिथ्या क्रान्तिकारी विभीषिका को दिखलाया उसका समुचित आदर्श शरद के 'पथेर दाबी' में है। साहित्य में सामाजिक क्रान्ति के संशोधक रवीन्द्र हैं, राजनीतिक क्रान्ति के संशोधक शरद।

किन्तु हमारा हिन्दी-साहित्य, राजनीति से अलग, मुख्यतः अपनी पिछली सामाजिक धाराओं के आवर्त्तन-विवर्त्तन में ही अपनी

गतिविधि बनाता हुआ सन् १४ के महायुद्ध के बाद सन् १९१९ तक चला आया। तब तक हमारे साहित्य पर रवीन्द्रनाथ का प्रभाव पड़ने लगा था। द्विवेदीयुग के बाद (छायावाद) के साहित्य के उत्कर्ष में यह प्रभाव मूलाधार बना।

काव्य के अतिरिक्त जब कथा-साहित्य की सहज स्वाभाविकता की ओर भी लोगों का ध्यान गया तब रवीन्द्र के अतिरिक्त शरद की भी लोकप्रियता बढ़ी। बल्कि कथा-साहित्य में शरद की लोक-प्रियता रवीन्द्र से भी अधिक है। किन्तु शरद से परिचित होते न होते साहित्य का ध्यान उस महापुरुष की ओर चला गया जो शरद के उदय-काल मे दक्षिण अफ्रीका में था और विकास-काल में भारत में आ गया—महात्मा गांधी। शरद की सीमा उसी में विलीन हो गई, यद्यपि शरद 'शेष प्रश्न' भी छोड़ गये हैं। शेष प्रश्न—आदर्श के सम्मुख यथार्थ का। आदर्श के उपासक शरद यथार्थ की उपेक्षा नहीं कर सके। उनके आदर्श की पूर्णता गांधी-वाद में है, उनके यथार्थ का समाधान समाजवाद में। तत्कालीन आतङ्कवादी दल की ओर शरद का रुझान समाजवाद की ओर ही एक अज्ञात आकर्षण था। पीड़ितों को जो शक्ति शरद नहीं दे सके, वह समाजवाद में मूर्त्त होने जा रही है। 'पथेर दाबी' के शरद इसी ओर अपना एक और स्पष्ट लक्ष्य पा जाते। वे संस्कृति और क्रांति के कलाकार थे। संस्कृति में वे पूर्ण स्पष्ट थे, क्रांति में आरम्भतः अपूर्ण, अस्पष्ट। शरद जिस संस्कृति के सनातन

प्रजा थे, उसी संस्कृति के नवीन सार्वभौम महर्षि ने सारे राष्ट्र को एक तपोवन बना दिया। जीवन की स्थूल आवश्यकताओं को समिधि बनाकर उसने एक आध्यात्मिक महायज्ञ की रचना कर दी। कट्टर अपरिवर्तनवादियों को छोड़कर जो लोग साहित्य, समाज और राजनीति में विविध रूपेण कुछ भी गतिशील थे, वे सभी इस आध्यात्मिक महायज्ञ (गांधीवाद) में मिलकर एकाकार हो गये। हाँ, आतङ्कवादी दावाग्नि की तरह इससे दूर ही रहे। आगे चलकर उन्होंने भी अपनी बिखरी शक्तियों को संगठित करने का प्रयत्न किया रूसी राज्यक्रान्ति के आदर्शों में; किन्तु व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं की प्रतिस्पर्द्धा में अथवा सार्वजनिक साधना के अभाव में वे आज भी एककण्ठ, एकस्वर नहीं हैं। रूसी क्रांतिकारियों की तरह उनमें भी अनेक दलबन्दियाँ है और एक दूसरे को गिराकर नेतृत्व पा जाने की कोशिश है। जिस स्थूल भौतिक आधार पर वे खड़े होना चाहते है, उसे देखते यह स्वाभाविक ही है। किन्तु आज वे आतंकवादी रूप में नहीं हैं। महात्मा के अहिंसात्मक कार्यक्रम के कारण उनका आतङ्क ठण्ढा पड़ गया है।

तो, द्विवेदी-युग तक हम परिवार में आये थे। परिवार से उतरकर हमें फिर व्यक्ति (सब्जेक्टिव अहङ्कार) की ओर लौटने की आवश्यकता नहीं पड़ी। परिवार से हम अन्तरात्मा (जीवन के अन्तस्तम स्तर) की ओर आये। यही है गान्धी-युग का साहित्य। यह अहं का नहीं, सोऽहं का साहित्य है।

[२४]

मध्यकाल की भीषण आब्जेक्टिविटी (साम्राज्यशाही राजनीति) तो शृङ्गार-काव्य की सबजेक्टिविटी की ही पाशविक पूर्णता थी। किन्तु गांधीवाद के द्वारा सुधारोन्मुख समाज तथा परिवार के वातावरण में पुराकाल की भाँति एक नवीन सबजेक्टिविटी और एक नवीन आब्जेक्टिविटी का आरम्भ हुआ—सोऽहं (आध्यात्मिक व्यष्टिवाद), एकोऽहं बहु स्याम् (आध्यात्मिक समष्टिवाद)।

यद्यपि मध्यकाल की भीषण आब्जेक्टिविटी उस काल के इतिहास के साथ ही समाप्त हो गई थी, किन्तु वह घर में समाप्त होकर बाहर से ब्रिटिश शासन के रूप में फिर आ गई। गांधीवाद इसी के प्रतिकार के लिए नवीन आब्जेक्टिविटी ले आया। किन्तु जैसे मध्यकाल में सन्तों के रहते भी लोहे के प्रतिकार के लिए लोहा ही बजा, वैसे ही, गांधीवाद (आध्यात्मिक समष्टिवाद) के रहते हुए भी, पार्थिव साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक पार्थिव समष्टिवाद (समाजवाद) सजग हो रहा है। आज हमारे साहित्य में ये ही दोनों 'वाद' चल रहे हैं—गान्धीवाद और समाजवाद।

समाजवाद और साम्राज्यवाद, ये दोनों लक्ष्य-विभिन्नता रखते हुए भी अहङ्कारों के ही द्वन्द्व हैं। मध्ययुग में भी अहङ्कार से अहङ्कार भिड़े किन्तु आज वे अपने आधुनिक संस्करणों में भिड़ रहे हैं। इस तरह तो अहङ्कार का नव-नव रूपान्तर ही होता जायगा, उसका निर्मूलन नहीं। मध्ययुग के सन्तों की बात हम

उस समय नहीं सुन सके, अतएव उनकी वाणी पुनः गांधी के स्वरूप से अमर होकर आई। और जब तक हम उसे सुन नहीं लेते तब तक वह पुनर्जन्म धारण कर बराबर आती रहेगी। यह वाणी अनादि है, इसलिए वह चिर क्लासिकल रहेगी जब कि अहंकारों के द्वन्द्व रोमैन्टिक होते जायँगे। उस चिरपुरातन वाणी के श्रावक ग्रामीण होंगे। पुराने बीज को नये अंकुर के लिए ग्रामीण ही सुरक्षित रखते हैं। मजदूरों की जागृति उन्हीं की आधुनिकता के लिए है। आधुनिकता नगरों में पनपती है, प्राचीनता देहातों में। ग्रामीणों के लिए अब तक नागरिक आधुनिकता के माध्यम थे जमींदार और महाजन। ये दोनों ही शोषक थे। इस रूप में ग्रामीण आधुनिकता के प्रति उदासीन थे। किन्तु समय की गति से पिछड़ जाने के कारण आज उनकी पुरातनता खतरे में पड़ गई है। ऐसे समय में उन्हीं की श्रेणी के जो श्रमिक नगरों में उनके प्रतिनिधि है, उनके द्वारा वे आधुनिकता के प्रति भी सजग हो रहे है। श्रमिकवर्ग की विश्वव्याप्त जागृति में जगे मजदूर आधुनिक प्रगति को अपने देश के बुनियादी समाज (देहात) के अनुरूप ग्रहण करेंगे, क्योंकि वे उसी सतह के नागरिक संस्करण हैं। उनके द्वारा ग्रामीणों का मूलजीवन (पुरातन सांस्कृतिक जीवन) आधुनिकता का निजी विकास ग्रहण करेगा। शिक्षितवर्ग में भी वे ही उसके प्रतिनिधि होंगे जो उसे उसी की सतह पर जाकर उठायेंगे। महात्मा गांधी ने यही तो किया है। निरी नागरिक आधुनिकता

के प्रतिनिधि उनसे अभिन्न न हो सकेंगे, वे उनसे वैसे ही भिन्न रहेंगे जैसे आज नगर और देहात। इसी कारण आज की आधुनिकता जटिल है, जब कि आवश्यकता है एक सरल आधुनिकता की। किसानों और मजदूरों का सामीप्य इसी की सृष्टि करेगा। जीवन का विकास स्वच्छन्द होकर विलास न बन जाय, इसी मर्य्यादा के लिए पुरातन वाणी (आध्यात्मिक सूचना) हमारे भीतर एक आत्मनिरीक्षण उत्पन्न करती है।

तो, हमारे जीवन मे गान्धीवाद के रूप में एक आत्मनिरीक्षण सजग है। दूसरी ओर समाज, साहित्य और राजनीति के भीतर नवीन आधुनिकता (प्रगति) आ रही है। यह आधुनिकता एक क्रान्ति मुखी है। पुरातन में यदि कुछ भी संजीवनी शेष होगी तो वह इस आधुनिकता को आत्मसात् कर अपना कायाकल्प करेगा।

जागृति, सुधार और क्रान्ति, इतिहास के ये तीन क़दम हैं। इस समय हम तीसरे क़दम की ओर है। प्रारम्भिक आधुनिक काल की जागृति सामाजिक थी, सुधार भी उसी दृष्टि से हुए। गांधीजी ने राजनीतिक परिवर्त्तन भी सामाजिक आधार पर किये, किन्तु प्रगतिशील आधुनिकता राजनीतिक परिवर्त्तन से ही सामाजिक परिवर्त्तन भी करने को उद्यत है। फलतः पुरातन समाज तथा साहित्य तो गांधीवाद की ओर विकासोन्मुख है और नवीन समाज तथा साहित्य क्रान्ति की ओर अभिमुख है। आज जो प्रश्न समाज और राजनीति के रूप में प्रच्छन्न है, कल वही प्रश्न संस्कृति और

विज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष होगा, जब कि राजनीतिक परिवर्त्तनों के बाद हम सामाजिक जीवन के निर्म्माण की ओर दत्तचित्त होंगे। उस समय हमारे सामने साम्प्रदायिक प्रश्न भी नहीं रह जायगा, प्रश्न मानवता के विकास (मनुष्य के आत्मविकास) का होगा। यह प्रश्न सबजेक्टिव साधना का आबजेक्टिव रूप ग्रहण करेगा, वहीं पर गांधीवाद विचारणीय होगा। तब हम पंथों और मतों, मन्दिरों और मठों के बावजूद मानव-संस्कृति का ऐसा दर्शन प्रदान करेंगे जो विज्ञान को भी मान्य होगा। तब आज के गांधी और आइन्सटीन भविष्य के तरुणकण्ठ बनेंगे।

[२५]

अस्तु, हम उस सुदूर भविष्य से फिर वर्त्तमान के निकट आवें—

भारतेन्दु-युग से गांधी-रवीन्द्र-युग तक हमारा साहित्य, पिछले सामाजिक और राजनीतिक जीवन के नवजागरण और सुधार का साहित्य है। इसे हम नव्य-पुरातन साहित्य कह सकते हैं। इस साहित्य में रूढ़ जीवन का नवीन स्वास्थ्य है। इसमें उतनी ही आधुनिकता है जितनी मध्ययुग की अपेक्षा सुधारोन्मुख जीवन में। यहाँ जीवन यदि सुधार की सतह पर मध्ययुग से भिन्न होकर अभिन्न है तो साहित्य, कला की सतह पर। फलतः इस नवीन समाज और साहित्य में हम आज भी मध्ययुग की मूल आत्मा पाते हैं। जिस शाश्वत चेतना ने, विकास-क्रम से मध्ययुग के समाज और साहित्य में एक मूर्त रूप पाया था, उसी ने गान्धी-रवीन्द्र-युग

में अपने अनुरूप आधुनिक विकास ग्रहण किया है। समय की अनन्त यात्रा में इतिहासों के परिच्छद (सामयिक अभिव्यक्ति) बदलते गये हैं, किन्तु मूल व्यक्ति (अनादि चेतन) विलुप्त नहीं हुआ है। साहित्य में वह आज भी गान्धी, रवीन्द्र और शरद् द्वारा जीवित है। हाँ, इनकी आधुनिकता में बाह्य विभिन्नता अवश्य है—रवीन्द्र की आधुनिकता नागरिक है, गान्धी की आधुनिकता ग्रामीण, और शरद् की कला में दोनों की सन्धि। समाजवाद से पूर्व इन्हीं महारथियों का अखिल भारतीय साहित्य पर प्रभाव पड़ा।

रवीन्द्र ने हमारे साहित्य को भावात्मक छायावाद दिया, शरद् ने पारिवारिक जीवन का सांस्कृतिक सौंदर्य दिया, महात्मा ने व्यावहारिक अध्यात्म (सकर्मक-रहस्यवाद) दिया। अब समाजवाद राजनीतिक यथार्थ दे रहा है। रवीन्द्र ने कला-विकास की प्रेरणा दी, महात्मा ने जीवन के विकास की दीक्षा दी। समाजवाद कला और जीवन को नवीन आधार दे रहा है। रवीन्द्र और गान्धी जब कि मध्ययुग से सम्बद्ध हैं, समाजवाद मध्ययुग से विच्छिन्न होकर सर्वथा नवीन युग का आरम्भ कर रहा है। वह नई मिट्टी पर अपना संसार खड़ा कर रहा है जो कि उसे क्रान्ति की लहर से 'डेल्टा' के रूप में मिल रही है।

[२६]

भारतेन्दु और द्विवेदी-युग अपने समय का वस्तुजगत् लेकर आरम्भ हुआ था। वह प्रारम्भिक आधुनिक काल है। वह

वस्तुजगत् इतना अपरिपक्व था कि तब तक हमारे साहित्य में नवीन भावजगत् नहीं आ सका था, वस्तुजगत् को ही समझने-सँवारने में हमारा साहित्य लगा हुआ था। इसे हम साहित्य में एक स्थापत्य-शिल्प का प्रयास कह सकते हैं। मनुष्य जड़ नहीं, चेतन है; इसी कारण वह अपने अविकास में भी ललित कला (कविता) की ओर उन्मुख रहा है। भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में प्रारम्भिक आधुनिक काल तो आ गया, किन्तु आधुनिक भाव-जगत् नहीं आ सका था। फलतः उसने अपनी ललितकला की भूख-प्यास मध्यकाल के भावजगत् से की—भारतेन्दु-युग ने रीति-काव्य की रसिकता ली, द्विवेदी-युग ने भक्ति-काव्य की भावुकता। ज्यों ज्यों हम अपने वस्तुजगत् में विकसित होते गये त्यों त्यों हम आधुनिकता की ओर उत्तरोत्तर बढ़ते गये। हमारी आधुनिकता का प्रारम्भ अँगरेज़ी शासन के सम्पर्क से हुआ था फलतः हमारे वस्तुजगत् के चिन्तन और भावजगत् के उत्कर्ष पर अँगरेज़ी दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ता गया। वस्तुजगत् में हम जिस शासन के शिशु थे, साहित्य-जगत् में भी हम उसी के शिशु हुए। अन्तर सिर्फ यह रहा कि हमारे जीवन और साहित्य में हमारी भौगोलिक आकृति बनी रही।

किन्तु अँगरेज़ी शासन और अँगरेज़ी साहित्य का विकास मध्ययुग के जीवन और साहित्य का ही विकास था। उस विकास तक पहुँचकर हमारे सामने नई समस्याएँ उपस्थित हो गई। और

उन समस्याओं के परिचय में आना ही वस्तुतः आधुनिकता का प्रथम बोध है। इसके द्वारा हम जीवन के बुनियादी प्रश्नों की ओर ध्यान देने लगे, एक मौलिक आधुनिकता की ओर बढ़ने लगे, पुरातन आधुनिकता की सीमा पार कर।

पुरातन आधुनिकता के विकास में हमारे साहित्य को छाया-वाद मिला, रवीन्द्रनाथ के माध्यम से। नवीन समस्याओं के समा-धान में यही छायावाद गान्धीवाद हो गया। जिस प्रकार पुरा-तनता को छोड़कर एक मौलिक आधुनिकता समाजवाद के रूप में आई, उसी प्रकार आधुनिकता को छोड़कर मौलिक पुरातनता गांधीवाद के रूप में। इस प्रकार प्राचीन और नवीन दोनों पूर्व और पश्चिम की तरह स्पष्ट हो गये।

छायावाद के साहित्यिकों में जिनकी गतिशीलता आधुनिकता की ही ओर थी वे समाजवाद के समर्थक हो गये। किन्तु जिस प्रकार द्विवेदी-युग, भारतेन्दु-युग की अपेक्षा अधिक आधुनिक होकर भी साहित्य में पुरातन आस्तिकता की ओर उन्मुख था, उसी प्रकार द्विवेदी-युग की अपेक्षा छायावाद (रवीन्द्र) युग में अधिक आधुनिक होकर भी इसके अनेक साहित्यिक पुरोमुख थे। द्विवेदी-युग तो स्पष्टतः पुरोमुख था, यहाँ तक कि वह पिछले दायरे में विकसित छायावाद का भी खुलकर साथ नहीं दे सका, अतएव उसने युग के स्पष्टीकरण में अपने को गान्धीवाद में ही विलीन कर दिया और छायावाद के पुरोगामी साहित्यिक भी या

तो गांधीवाद में चले गये या साम्प्रदायिक हो गये। किन्तु कहना यों चाहिए कि द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के पुरोमुख साहित्यिक संस्कृति के नाम पर गांधीवाद के साथ होकर भी भीतर से साम्प्रदायिक थे। (मेरे इस कथन के अपवाद भी हो सकते हैं।) हाँ, किसी की साम्प्रदायिकता स्पष्ट है, किसी की अस्पष्ट। असल में ये वे प्रतिक्रियावादी साहित्यिक हैं जिन्होंने अपने संकुचित जीवन की अपूर्ण साधों को साहित्य में स्वप्निल पूर्णता देनी चाही थी और जब प्रत्यक्ष जीवन में उनके स्थिर स्वार्थों अथवा अपूर्ण साधों के बलिदान की नौबत आई तब वे साम्प्रदायिक हो गये, अपने स्वार्थ-सञ्चालकों के अस्त्र-शस्त्र बन गये। बड़े पैमाने पर इसी बात को हम कांग्रेस के भीतर भी देख सकते हैं। अन्तर केवल स्वार्थों के दायरे का होगा। यह खेद की बात है कि तथाकथित कांग्रेसियों का ऊपरी चोला तो बदल गया है, किन्तु भीतरी परिवर्त्तन अभी नहीं हो सका है। इसी लिए अब क्रांति की अपेक्षा है, स्वयं जनता को मौलिक आधुनिकता की ओर बढ़ने की आवश्यकता है, ताकि पुरातनता में जो कुछ सत्य है, शिव है, सुन्दर है, उसे उसी के द्वारा आन्तरिक (बुनियादी) आधार मिले। जब तक जनता आगे नहीं बढ़ती तब तक लोक-सेवा के नाम पर वही अन्धेर बना रहेगा जो धर्म के नाम पर पण्डों, पुजारियों, महन्तों और वर्णाश्रमियों में है। संसार की सभी वस्तुएँ आधुनिकता की ओर बढ़ रही हैं, अतएव आश्चर्य नहीं कि धार्मिक

ढोंगियों जैसी मनोवृत्ति ने भी जनताजनार्दन के सेवाक्षेत्र में आधुनिक संस्करण प्राप्त कर लिया हो।

आज जीवन और साहित्य क्रांति की ओर अग्रसर हो चुका है, हम एक प्रगतिशील युग की ओर बढ़ रहे हैं। क़दम उठ चुका है, मंज़िल तक कब पहुँचेंगे, कहा नहीं जा सकता। इस समय हमारे बीच एक बड़ा व्यवधान सन् ४० का यूरोपीय महायुद्ध है। यदि इसमें जन-शोषक शक्तियों की ही विजय हुई तो हमारे क़दम को बीच में ही अज्ञात समय के लिए रुक जाना पड़ेगा।

जीवन जब समस्याओं के बीच आ जाता है, तब साहित्य गद्य की ओर चला जाता है। जब समस्याएँ सुलझ जाती हैं तब जीवन की मनोहरता काव्य में प्रकट होने लगती है। इस प्रकार मानो समय समय पर वस्तुजगत्, भावजगत् के लिए जीवन की नई बुनावट देने के लिए गद्य का ताना-बाना दुरुस्त करता है। पिछली बुनावट में 'हार्मनी' नहीं था। प्रगतिशील साहित्य आज वही ताना-बाना दुरुस्त कर रहा है। इसके बाद साहित्य में जब फिर भावजगत् प्रकट होगा, तब हम गांधी-रवीन्द्र-युग के साहित्य से भी उसी प्रकार आदान ग्रहण करेंगे जिस प्रकार गांधी-रवीन्द्र ने पुराकालीन साहित्य का आदान ग्रहण किया है।

काशी
२०।६।४०

वर्त्तमान कविता का क्रम-विकास

छायावाद की कविता के जन्म और विकास के लिये यहाँ भारतेन्दु-युग और द्विवेदीयुग के उन्नायक कवियों के रचना-क्रम को ठीक ठीक हृदयंगम करने की जरूरत है। इसके लिये हम उस समय के इन कवियों की काव्य-रचनाएँ देख सकते हैं—(१) श्रीधर पाठक, (२) जयशङ्कर 'प्रसाद', (३) मैथिलीशरण गुप्त।

[१]

प्रसादजी और गुप्तजी जब साहित्य में प्रकट भी नहीं हुए थे, उससे बहुत पूर्व पाठकजी हिन्दी के काव्य-साहित्य में अपना सम्मानित स्थान बना चुके थे। सन् १८९९ में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में 'श्रीधर-सप्तक' लिखकर पाठक जी का काव्याभिनन्दन किया था। इस प्रकार पाठक जी जब हिन्दी-कविता में अपना निश्चित स्थान बना चुके थे तब द्विवेदी जी का सम्पादन-कार्य्य भी नहीं आरम्भ हुआ था। पाठक जी का काव्य-काल भारतेन्दु-युग का सीमान्त है। तब भी व्रजभाषा का सम्मोह बना हुआ था, यद्यपि देश की नई परिस्थितियाँ जिस तरह साहित्य को नया क्षेत्र दे रही थीं उसी तरह नई भाषा भी। व्रजभाषा भक्तों के हाथ से शृङ्गारिकों के हाथ में जाकर मध्ययुग के ऐश्वर्य्योल्लास के अनुरूप बन गई थी, किन्तु नई परिस्थितियों के अनुकूल नई भाषा को बनाना एक प्रश्न

था। व्रजभाषा और खड़ीबोली के पक्ष-विपक्ष में वाद-विवाद होने लगे थे। गद्य में खड़ीबोली ने स्थान बना लिया था किन्तु काव्य में उसका प्रवेश विचाराधीन था। असल बात यह है कि व्यावहारिक जीवन के कारण गद्य तो अपने आप बनता जा रहा था किन्तु हमारा मानसिक जीवन व्रजभाषा में ही बसा हुआ था। अपने अभावों को हमने खड़ीबोली में सोचना आरम्भ कर दिया था किन्तु भावों को खड़ी बोली के साँचे में ढालना नहीं सीख पाया था। अदालतों की भाषा की तरह खड़ीबोली हमारे काव्य से दूर पड़ी हुई थी, काव्य के लिए उसमें साहित्यिक सौन्दर्य्य के सृजन का आरम्भ नहीं हो सका था। व्रजभाषा कविता के लिए बनी-बनाई भाषा थी, खड़ीबोली अनगढ़ थी। अतएव, जहाँ कविता के लिए कुछ लोग उसको भी गढ़ने की आवश्यकता महसूस कर रहे थे वहाँ कुछ लोग उसके काव्यभाषा होने में ही सन्देह करते थे। ऐसे ही वातावरण में पाठकजी का कवित्व प्रस्फुटित हुआ। पाठकजी के सामने व्रजभाषा का सम्मोहन और खड़ीबोली का निमन्त्रण, दोनों ही था। उन्होंने दोनों ही का सम्मान रखा। दोनों का सहयोग किया। भाषा के सौन्दर्य्य और माधुर्य्य के लिए उन्होंने निःसंशय व्रजभाषा को अपनाया, पद-विन्यास में ओज लाने के लिये खड़ीबोली के छन्दों को अपनाया और भाव-विस्तार के लिये (व्रजभाषा की एकरसता भंग करने के लिये) मनोवाञ्छित अँगरेजी काव्यों का अनुवाद किया। व्रजभाषा, खड़ी बोली और

अँगरेज़ी इन विविध उपादानों के व्यञ्जन में व्रजभाषा की मधुर सरलता ने ही प्रधान होकर उनके काव्य को रसात्मक कर दिया। यों कहें, पाठक जी एक कोमल आधुनिकता के कवि थे, उनके द्वारा मानो अविकच खड़ीबोली ही व्रजभाषा की सुकुमार आधुनिकता बन गई। काव्य में भारतेन्दु-युग व्रजभाषा का अन्त है, द्विवेदी-युग खड़ीबोली का उदय है; इसी अस्तोदय की द्वाभा पाठकजी की कविता है।

[२]

तो, द्विवेदी-युग के उदय के पूर्व, हिन्दी-कविता में व्रजभाषा प्रधान थी जिसके दो रूप थे—एक तो रीतिकालीन, दूसरे भारतेन्दु-युगीय। भारतेन्दु ने रीति-काल को 'सुन्दरी-तिलक' (व्रजभाषा-काव्य-संग्रह) के रूप में अपनाया, स्वयं भी उस ढङ्ग की कविताएँ लिखीं। इसके अतिरिक्त, साधारण जनता के भीतर प्रचलित काव्यप्रवृत्तियों (भक्तों के पद से लेकर चैती, कजरी, लावनी, ख्याल, गजल) का भी संकलन किया। यह मानो भारतेन्दु की ओर से मध्ययुग की कविता और मध्ययुग की जनता को लिपिबद्ध कर लेने का प्रयत्न था, पुरानी रक़म को बही पर सही कर लेने का आयास।

इसके अतिरिक्त, भारतेन्दु जिस युग में उत्पन्न हुए थे उसका अपना भी कुछ तक़ाजा था। वह युग भारत में बृटिश शासन के शैशव का था, मानो आधुनिकता की तुतलाहट का युग था।

उस युग ने हमारे जीवन और साहित्य में भी जो एक नवीन शिशु प्रेरणा उत्पन्न की उसी का परिणाम है भारतेन्दु की राष्ट्रीय रचना और रीतिकाल से भिन्न उनकी वह मुक्तक काव्यशैली जिसके अन्तर्गत 'नारद की वीणा' और 'गङ्गा का वर्णन' इत्यादि आते हैं। जिस ब्रजभाषा में षड्ऋतु वर्णन और नायिका-निरूपण था उसमें इस प्रकार के काव्यपरिवर्त्तन ने एक नूतन चित्रपट प्राप्त किया।

भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि साहित्यिकों में से कुछ ने भारतेन्दु-युग की समस्त काव्य-प्रवृत्तियों को ग्रहण किया*, कुछ ने उस युग की किसी प्रवृत्ति विशेष को। कुछ ने रीतिकालीन काव्य-कला से अपना प्रारम्भ कर भारतेन्दुकालीन नई काव्यकला का उत्कर्ष किया। भारतेन्दु-युग की नई काव्यकला की ओर आनेवाले दो विशेष कवि पाठकजी और रत्नाकरजी हैं। आज की भाषा में यदि हम कहें तो पाठकजी भारतेन्दु-युग के साहित्यिक लिबरल थे, रत्नाकरजी साहित्यिक कंजर्वेटिव। व्यक्ति-चित्र की दृष्टि से यदि हम देखें तो दोनों के बाह्य वेश-विन्यास में जितना अन्तर है उतना ही काव्यकला में भी। रत्नाकरजी कट्टर अपरिवर्तनवादी थे। उन्होंने भारतेन्दु-कला के माध्यम से रीतिकाल का विकास किया, पाठकजी ने प्रारम्भिक आधुनिक काल के माध्यम से भारतेन्दु-कला

---

* यहाँ हम स्व० श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' को स्मरण कर सकते हैं जो भारतेन्दुजी के प्रतिरूप थे।

का। पाठकजी ब्रजभाषा को खड़ीबोली की ओर ले जा रहे थे, रत्नाकरजी खड़ीबोली को भी ब्रजभाषा की ओर ले जाना चाहते थे। ब्रजभाषा में खड़ीबोली का ओज लाने के प्रयत्न में रत्नाकरजी की भाषा परुष हो गई है और खड़ीबोली में ब्रजभाषा का माधुर्य्य लाने के प्रयास में पाठकजी की भाषा सुकुमार। एक ओर रत्नाकरजी ब्रजभाषा को क्षमता बढ़ाने में लगे हुए थे, दूसरी ओर पाठकजी ब्रजभाषा को नवीन शरीर (खड़ीबोली) देने में।

[३]

किन्तु विकास की इन विभिन्न भूमियों में कविता ब्रजभाषा में ही खिल रही थी। यहाँ तक कि वर्तमान खड़ीबोली की कविता के सीनियर कवि प्रसादजी और गुप्तजी भी जब प्रथम-प्रथम अपनी रचनाएँ लेकर आये तो ब्रजभाषा में ही। हाँ, गुप्तजी ने किसी साहित्यिक सुयोगवश नहीं, बल्कि अपने पिता की काव्य-परम्परा से ब्रजभाषा की प्रेरणा ली थी। उस समय ब्रजभाषा में उन्होंने जो कवितायें लिखीं वे पुरानी अन्योक्ति-पद्धति में थीं। साहित्यिक सुयोग-वश कविता लिखने का समय तो गुप्तजी के लिए द्विवेदीजी के सम्पादन-काल में ही आया। उन्हें तो द्विवेदी-युग या खड़ी-बोली की कविता का श्रेय मिलना था, अतएव अपनी भावी सरस्वती की उपासना में उन्होंने ब्रजभाषा का अक्षरारम्भ मात्र किया। किन्तु प्रसादजी ने ब्रजभाषा का अक्षरारम्भ ही नहीं किया, बल्कि उनका प्रारम्भिक साहित्य भी उसी में बना। यों

कहें, प्रसाद हमारे साहित्य में भारतेन्दु-युग का विकास लेकर आये, गुप्तजी द्विवेदी-युग का प्रारम्भ। कालान्तर से गुप्तजी द्वारा जब द्विवेदी-युग का भी काव्य-विकास होने लगा तब प्रसाद ब्रजभाषा से खड़ीबोली में आ गये। वे भारतेन्दु और द्विवेदी-युग के सन्धिस्थल के विकासमान कवि हैं। प्रसाद की भाँति जो ब्रजभाषा से खड़ीबोली में नहीं आ सके उनमें भारतेन्दु-युग का संस्कार बना रहा। ऐसे कवियों में सर्वश्री राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और कविरत्न सत्यनारायण उल्लेखनीय हैं।

कविता में खड़ीबोली के स्थान बना लेने के पूर्व, भारतेन्दु-युग के सीमान्त में, नवयुवक कवियों के आदर्श कवि पाठकजी थे। प्रसाद के भी वे प्रिय कवि थे। अपनी ब्रजभाषा की कविताओं के विकास में वे पाठकजी की कविता से प्रेरित थे। प्रसादजी का रचना-काल यदि बहुत पीछे जाकर देखें तो सवत् १९६२ या सन् १९०५ है। यह लगभग वह समय है जब प्रसादजी ने अपने 'प्रेम-पथिक' (खण्डकाव्य) की रचना पहले ब्रजभाषा में ही की थी। संवत् १९७० में खड़ीबोली में 'प्रेमपथिक' (अतुकान्त) का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। उसी की संक्षिप्त भूमिका में निर्देश किया गया है कि यह काव्य ८ वर्ष पहले ब्रजभाषा में लिखा गया था। इसके पूर्व की किसी रचना का परिचय नहीं मिलता। अतएव, यहाँ हम यह देख सकते है कि प्रसाद को संवत् १९६२ (सन् १९०५) तक हिन्दी-कविता का

कौनसा पृष्ठभाग मिल चुका था। यहाँ स्पष्ट रूप से पाठकजी का काव्य-विकास सामने आता है। सन् १९०४ तक पाठकजी की ये महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं—(१) 'एकान्त-वासी योगी' (खड़ीबोली में अनुवादित खण्डकाव्य, सन् १८८६); (२) 'ऊजड़ ग्राम' (ब्रजभाषा में अनुवादित खण्डकाव्य, सन् १८८९); (३) 'श्रान्त पथिक' (अनुवादित खण्डकाव्य, सन् १९०२); (४) 'काश्मीर-सुषमा' (मौलिक वर्णनात्मक काव्य, सन् १९०४); इसके अतिरिक्त (५) 'देहरादून' (मौलिक वर्णनात्मक काव्य, संवत् १९७२)। पाठकजी की मुक्तक कविताओं के भी कई संग्रह हैं। किन्तु पाठकजी का कवित्व उनके खण्डकाव्यों में ही घनी-भूत है। मुक्तक की कोई विशेष शैली वे दे नहीं सके, हाँ, आलम्बन अवश्य नये दिये हैं। पाठकजी की कृतियों द्वारा भारतेन्दु-युग का काव्य-साहित्य अपेक्षाकृत अवश्य प्रशस्त हुआ। उनके द्वारा प्रबन्ध-काव्यों को नूतन प्रेरणा आई, साथ ही आलम्बनों के परिवर्त्तन से मुक्तक क्षेत्र में भी नवोद्भावना की आवश्यकता सूचित हुई।

इसी काव्यपृष्ठ पर प्रसाद का रचना-काल प्रारम्भ होता है।

जिस प्रबन्धात्मक शैली का श्रीगणेश पाठक जी ने अँगरेजी के अनुवादों से किया, गुप्त जी ने बँगला के अनुवादों से उसकी श्रीवृद्धि की। गुप्त जी ने मुक्तक शैली को भी उत्कर्ष दिया। किन्तु यह संयोग की बात है कि पाठक जी की भाँति गुप्तजी का भी कवित्व उनके प्रबन्धकाव्यों में ही घनीभूत है।

प्रबन्धात्मक शैली कथा-परक प्रवृत्ति की द्योतक है। इसी प्रवृत्ति ने मुक्तकों को भी इतिवृत्तात्मक बना दिया। खड़ीबोली में गुप्तजी ने जिस 'पद्य-प्रबन्ध' की रचना की उनके मुक्तकों ने उसी का विकास किया। मध्यकाल के शृङ्गारिक आलम्बनों से भिन्न भारतेन्दु और पाठक जी ने अपने मुक्तकों में जो सामाजिक और राष्ट्रीय आलम्बन दिये, निःसन्देह गुप्तजी द्वारा उन नये आलम्बनों को परिपूर्णता मिली। किन्तु भारतेन्दु और पाठक जी ने मुक्तक शैली को नवीन भावात्मक स्पर्श भी दिया था। भारतेन्दु की 'नारद की वीणा' और 'गंगा-वर्णन' तथा पाठकजी की 'काश्मीर-सुषमा' में इसका आभास मिलेगा। खड़ीबोली में इस भावात्मक मुक्तक के अभ्युदय की प्रतीक्षा थी। प्रसादजी भारतेन्दु-युग के सीमान्त (पाठकजी) से इसी ओर आ रहे थे। जब खड़ीबोली में भावात्मक मुक्तक का उत्कर्ष हुआ तब गुप्तजी की प्रबन्धात्मक रचनाओं में भी उसका समावेश हुआ। इसके पूर्व, हम प्रसाद की काव्य-प्रगति देखें—

[२]

ब्रजभाषा में प्रसादजी जो कविताएँ लिख रहे थे उसके दो रूप थे—वर्णनात्मक और भावात्मक। उनकी वर्णनात्मक कविता भारतेन्दु-युग की सूचक है और भावात्मक कविता भारतेन्दु-युग के विन्यास में उनके नवोन्मेष की।

पाठकजी के काव्यानुवादों ने प्रसाद में खण्डकाव्य की रुचि-जगा दी थी; उनकी वर्णनात्मक कविता ने उनके छोटे-छोटे खण्ड-काव्यों ('प्रेम-पथिक', 'महाराणा का महत्त्व', 'करुणालय') में खड़ीबोली की नवीन शैली ग्रहण की। उनकी यह कथा-परक रुचि विविध रूपों में विकसित होती गई—चम्पू, नाटक, कहानी, उपन्यास। किन्तु प्रसादजी मुख्यतः भावप्रवण साहित्यिक थे, अपनी सभी प्रकार की कृतियों में। ब्रजभाषा से खड़ीबोली का विन्यास ग्रहण करने पर उनकी भावात्मक कविता ने ही विकास किया, मुक्तकों में ही नहीं, प्रबन्ध-काव्यों में भी; उनका 'कामायनी' महाकाव्य भी भावप्रधान है, वस्तु(कथा)प्रधान नहीं। उनकी गद्यकृतियाँ भी भावप्रधान हैं।

उनकी गद्य-पद्यमयी कृतियों का आद्य संग्रह 'चित्राधार' है, जिसका रचना-काल संवत् १९६६-६८ (सन् १९०९-११ ई०) निर्दिष्ट किया गया है। काशी के अस्तङ्गत मासिक 'इन्दु' में 'चित्राधार' से कुछ पूर्व की भी कविताएं प्रकाशित हैं, भारतेन्दु-कालीन वर्णनात्मक शैली में। ये कविताएँ मानो भारतेन्दुकालीन काव्यशैली के पद्य-प्रबन्ध हैं। तब तक खड़ीबोली का 'पद्य-प्रबन्ध' नहीं बन सका था।

ब्रजभाषा के पद्य-प्रबन्ध से 'चित्राधार' तक आते आते प्रसाद को ब्रजभाषा में नवीन भावात्मक मुक्तक का अभाव अखरने लगा था। संवत् १९६७ के मासिक 'इन्दु' में उन्होंने एक लेख लिखा

था—'कवि और कविता।' उस लेख में उनका यह मन्तव्य ध्यान आकर्षित करता है—"सामयिक पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण करके जो समाज के भाव बदल रहे हैं उनके अनुकूल कविताएँ नहीं मिलतीं और पुरानी कविता को पढ़ना तो महादोष-सा प्रतीत होता है, क्योंकि उस ढङ्ग की कविताएं तो बहुतायत से हो गई हैं।"—यह है प्रसाद की नवीन काव्य-प्रेरणा। यहीं से प्रसाद के भीतर (उन्हीं के कथनानुसार 'पाश्चात्य'-शैली पर) नवीन काव्योद्भावना की रुचि उत्पन्न होती है। तदनुकूल उन्होंने जो नवीन भावात्मक मुक्तक लिखे, उनका संकलन भी 'चित्राधार' में मिलता है। कुछ पंक्तियाँ सामने हैं—

नीरव प्रेम

प्रथम भाषण ज्यों अधरान में—
रहत है, तऊ गूँजत प्रान में—
तिमि कहौ तुम हूँ चुप धीर सों—
विमल नेह-कथान गँभीर सों—
कछुक हौ, नहिं पै कहि जात हौ
कछु लहौ, नहिं पै लहि जात हौ॥

विस्मृत प्रेम

सबहिं विस्मृत सिन्धु-तरंग में
प्रणय की लिपि धोइ उमंग में

यदपि उज्ज्वल चित्त कियो निजै
तदपि क्यों नहिं राग तजैं अजैं !

अँगरेजी के साहचर्य से भारतेन्दु-युग को पाठकजी जो नवीन कवित्व दे रहे थे, प्रसाद की उक्त पंक्तियों में उसी का किशोर कण्ठ है।

प्रसाद जी ने जिस समय (संवत् १९६७) ब्रजभाषा में ये पंक्तियाँ लिखी थीं, उस समय गुप्तजी खड़ीबोली में आ चुके थे, लोकप्रिय होने लगे थे। प्रसादजी के उक्त लेख में ही गुप्तजी की 'केशों की कथा' का भी उल्लेख है। 'केशों की कथा' खड़ीबोली का रसोद्रेक करने में सहृदयों की संवेदनशीलता पा गई थी। इसके अतिरिक्त गुप्तजी कृत 'रंग में भंग' (प्रथम संस्करण सन् १९०९) और 'जयद्रथ-वध' (प्रथम संस्करण सन् १९१०) नामक खण्डकाव्य भी प्रकाशित हो चुके थे। हम देखते हैं कि पाठक जी के बाद गुप्तजी द्वारा कविता के पूर्णतः खड़ीबोली में आ जाने पर भी प्रसाद ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना कर रहे थे। एक ओर खड़ीबोली में गुप्तजी वर्णनात्मक-मुक्तक और प्रबन्ध-काव्य लिख रहे थे, दूसरी ओर प्रसादजी ब्रजभाषा में नवीन भावात्मक-मुक्तक। ब्रजभाषा के भीतर एक अभिनव काव्य-संस्कार लेकर भी प्रसाद खड़ीबोली के आते ही खड़ीबोली में ही क्यों नहीं काव्य-रचना करने लगे ? इसका कारण यह कि जिस भाषा से उन्होंने प्रारम्भिक काव्य-प्रेरणा ली थी उस भाषा पर उनका विशेष मोह था। कदाचित् उनके भीतर ब्रजभाषा और खड़ीबोली के बीच

एक स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा भी थी। हृदय के दाहिने और बायें पार्श्व की भाँति उनके भीतर पुरातन और नूतन दोनों संस्कार स्पन्दित हो रहे थे। यों कहें, वे एक पुरोगामी-प्रगतिशील साहित्यिक थे। 'इन्दु' में प्रकाशित उल्लिखित लेख में आगे उन्होंने लिखा है—"पर नहीं, उनसे (पुरानी कविताओं से) घबड़ाना नहीं चाहिए, उनके समय के वही भाव उज्ज्वल गिने जाते थे और अब भी पुरातत्त्व की दृष्टि से उन काव्यों को पढ़ने में अलौकिक आनन्द मिलता है।"—उनका यही पुरातन संस्कार उनके ऐतिहासिक नाटकों मे प्रकट हुआ।

प्रसाद की साहित्यिक गतिविधि यह थी कि अपने समय के प्राप्त साहित्य से वे आरम्भिक प्रेरणा ग्रहण करते थे, फिर साहित्य के नूतन परिष्कार के आ जाने पर उसे भी अपना लेते थे। इस प्रकार साहित्य के तीन युगों में वे अपने पग रख चुके है—भारतेन्दुयुग, द्विवेदी-युग, छायावाद-युग। चतुर्थ-युग (प्रगतिशील युग) के आते-आते वे साहित्य से ही नहीं, संसार से भी चले गये। फिर भी अपने नाटकों में प्रगतिशील साहित्य की भी कुछ-कुछ प्रेरणा वे ले चुके थे, किन्तु मुख्यतः उनकी आस्थाएँ प्राचीन थीं।

छायावाद के वर्तमान कवियों में प्रसाद सबसे सीनियर होकर भी साहित्य में जूनियर होकर चल रहे थे—ब्रजभाषा में वे पाठकजी के जूनियर थे, खड़ीबोली में गुप्तजी के। हाँ, वे जूनियर रह-कर ही अपने विविध समयों का तारुण्य ग्रहण करते थे और

साहित्य में जब उनसे भी जूनियर तरुण आ जाते थे तब वे उनके विकास से जा मिलते थे। इस भाँति भारतेन्दु-युग से चलकर, द्विवेदी-युग को पार कर, छायावाद-युग में वे पन्त, निराला के नूतन काव्य-प्रयत्नों में भी सम्मिलित हो गये थे, 'लहर' द्वारा।

प्रसाद ने ब्रजभाषा में जिस नवीन भावात्मक-मुक्तक की सृष्टि की, उसके लिए खड़ीबोली की भाषा नहीं बन सकी थी। गुप्तजी भाषा बना रहे थे। एक प्रकार से द्विवेदी-युग की सम्पूर्ण रचनाएँ खड़ीबोली को रच रही थीं। हाँ, गुप्तजी भाषा भी रच रहे थे और भाव भी; मानो परिधान में गोट लगा रहे थे। उन्होंने पहिले तो खड़ीबोली के 'पद्य-प्रबन्ध' की रचना की, फिर पद्य-प्रबन्ध से प्रबन्ध-काव्य की ओर उन्मुख हुए। सम्भवतः सन् १९०८ से वे खड़ीबोली की रचना प्रारम्भ करते हैं और सन् १९१५ तक सात-आठ वर्षों में उसका भी एक काव्य-साहित्य प्रस्तुत कर देते हैं। इतिवृत्तात्मक मुक्तक और प्रबन्धात्मक काव्य वे दे चुके थे, सम्भवतः सन् १९१४-१५ में भावात्मक मुक्तक (गीतिकाव्य) की ओर भी वे उन्मुख हुए। 'झङ्कार' उनके गीतिकाव्यों का संग्रह है, जिसमें उस समय के गीतिकाव्य भी सम्मिलित हैं।

गुप्तजी की कविताओं द्वारा खड़ीबोली का प्रचार हो जाने पर प्रसाद भी ब्रजभाषा से खड़ीबोली में आ गये। 'चित्राधार' को भारतेन्दु-युग में छोड़कर हम 'कानन-कुसुम' से प्रसाद को खड़ी-बोली (द्विवेदी-युग) में प्रवेश करते देखते हैं। 'कानन-कुसुम' संवत्

१९६६-७४ तक की कविताओं का संग्रह है। इसी बीच (संभवतः संवत् १९६८ में) खड़ीबोली में उनका रचना-काल प्रारम्भ होता है। स्पष्ट है कि खड़ीबोली में वे गुप्तजी के बाद बहुत विलम्ब से नहीं आये। यह भी स्पष्ट है कि खड़ीबोली की अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में वे गुप्तजी से प्रेरित भी थे। फिर भी खड़ीबोली को अपना व्यक्तित्व भी देने में सयत्न थे। 'कानन-कुसुम' में ही उन्होंने अतुकान्त कविता का श्रीगणेश कर दिया था, जिसने आगे चलकर उनके छोटे-छोटे खण्डकाव्यों ('प्रेम-पथिक', 'महाराणा का महत्त्व' और 'करुणालय') में अपना विशेष स्थान बनाया।

'कानन-कुसुम' में व्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों की कविताओं का संग्रह है। व्रजभाषा में प्रसाद जिस भावात्मक-मुक्तक (लीरिक कविता) की ओर उन्मुख थे उसे नई भाषा देने के लिए 'कानन-कुसुम' उनकी ओर से खड़ीबोली की अपनी तैयारी मात्र है। वह उनकी खड़ीबोली की काव्य-प्रवेशिका है। इसके बाद खड़ीबोली में उनकी लीरिक कविता का प्रथम रूप 'झरना' द्वारा प्रकाशित हुआ। जिस भावात्मक मुक्तक को वे व्रजभाषा में छोड़ आये थे, 'झरना' में मानो उसका पुनर्जन्म हुआ, एक नये आकार-प्रकार में। 'झरना' के बाद प्रसाद उत्तरोत्तर नवीन काव्य-कला की ओर ही अग्रसर होते गये। 'झरना' तो उनके नूतन कवित्व का आदि स्रोत है।

'झरना' (प्रथम संस्करण) की कविताओं का समय संवत् १९७१-७२ है। 'झरना' के बहुत बाद सन् १९३५ में उनका 'लहर' नामक काव्यसंग्रह प्रकाशित हुआ। 'झरना' और 'लहर' के बीच में उन्होंने जिन मुक्तक कविताओं की रचना की थी, वे 'लहर' में न संगृहीत होकर या तो उनके नाटकों में सम्मिलित हो गईं, या 'झरना' के नये संस्करणों में। बीच की उन कविताओं का 'झरना' मे सम्मिलित हो जाना अनुचित नहीं हुआ, क्योंकि उनमें 'झरना' के कवित्व का ही विकास है; 'लहर' में तो उन्होंने उस काव्य-विकास (नई हिन्दी-कविता के द्वितीय उत्थान) को ग्रहण किया जो प्रसाद के परवर्त्ती काल में पन्त और निराला की कविताओं से प्रस्फुटित हुआ था। हाँ, 'झरना' में संगृहीत नई कविताओं का समय-निर्देश न होने के कारण उसके आदिरूप को समझने में भ्रम हो सकता है।

हम देखते हैं कि प्रसाद के 'झरना' का लगभग वही समय पड़ता है जो गुप्तजी के 'झङ्कार' की उन गीत-कविताओं का जो प्रायः सन् १९१४-१५ में 'सरस्वती' में छपी थीं। यह नहीं कहा जा सकता कि इस नवीन भावात्मक मुक्तक के क्षेत्र में गुप्तजी प्रसाद से या प्रसादजी गुप्तजी से प्रेरित थे। दोनों का प्रेरणाकेन्द्र अन्यत्र जान पड़ता है। प्रसादजी ने जैसा कि लिखा था—"सामयिक पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण करके समाज के भाव बदल रहे हैं"—इसी का परिणाम यह नवीन भावात्मक-मुक्तक था। यह भाव-

परिवर्त्तन भारतेन्दु-युग में ही शुरू हो गया था। उस युग के स्वर्गीय गोस्वामी किशोरीलालजी ने शेली की एक कविता का ब्रजभाषा में अनुवाद भी किया था। इसी लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (झाँसी) के सभापति-पद से बूढ़े गोस्वामीजी ने कहा था—'मैंने चालीस वर्ष पहले छायावाद लिखा था।'

हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि सर्वप्रथम बंगाल इस भाव-परिवर्त्तन की दिशा में अग्रसर और उन्नत हो चुका था। यों तो गुप्तजी खड़ीबोली की वर्तमान कविता के पूर्वपृष्ठ हैं, भाषा के संस्कारक हैं। किन्तु भाषा के बाद जब भाव की ओर भी ध्यान गया तो निःसंशय गुप्तजी और 'प्रसाद' जी दोनों ने एक ही समय में वंगीय साहित्य पर भी दृष्टिपात किया। आधुनिकता की दृष्टि से हिन्दी से बाहर के इस साहित्य की जिस सतह पर जो अपने को अवस्थित कर सका, वह उसी सतह का प्रभाव अधिक ग्रहण कर सका। गुप्तजी की साहित्यिक आधुनिकता माइकेल और नवीनचन्द्र सेन की दिशा में थी; प्रसाद और उनके बाद के छायावादी कवियों की आधुनिकता रवीन्द्रनाथ की दिशा में। निःसन्देह ब्रजभाषा के बाद काव्य की रसात्मकता का विकास बँगला में ही हुआ। हिन्दी-कविता की भाषा बदल जाने के कारण खड़ीबोली की कविता किसी जीवित काव्योचित भारतीय भाषा से ही मनोहरता ग्रहण कर अपनी मराठी की सी शुष्कता को आर्द्र कर सकती थी। खड़ीबोली को बँगला एक ऐसी

ही भाषा मिली। संस्कृत की संस्कृति एक दूसरे को निकट लाने में सहायक हुई।

[४]

तो द्विवेदी-युग की आधुनिकता माइकेल और नवीनचन्द्र-सेन की दिशा में थी; अभिव्यक्ति नवीन होते हुए भी काव्य-वस्तु पुरानी थी। तब तक हमारे आधुनिक जीवन का इतना प्रसार नहीं हो सका था कि हम इसी के भीतर से काव्य के उपादान लेकर नई अभिव्यक्ति को नया जीवन भी दे देते। बाह्य विन्यास की भाँति साहित्य में अँगरेज़ी अभिव्यक्ति तो आ चली थी किन्तु हम वर्त्तमान में रहकर भी अतीत में थे। बँगला-काव्य की यह प्रगति द्विवेदी-युग की खड़ीबोली के अनुकूल थी। 'विरहिणी-व्रजांगना', 'मेघनाद-वध' और 'पलासी युद्ध' का अनुवाद इसी का सूचक है।

इसके बाद की काव्य-प्रगति रवीन्द्रनाथ की है। हमारे साहित्य में द्विवेदी-युग के बाद की आधुनिकता छायावाद के रूप में रवीन्द्र-नाथ द्वारा आई। रवीन्द्रनाथ की काव्य-प्रेरणा से मुक्तक और गीतिकाव्य को विशेष उत्कर्ष मिला। वर्तमान भारतीय साहित्य के वे सर्वप्रथम रोमैन्टिक कवि हैं और अपने बाद की पीढ़ियों के गुरुदेव। वे हमारे वर्तमान वाङ्मय के 'कवीर्मनीषी' है। रावीन्द्रिक प्रेरणा से पूर्व के कवियों को हम अँगरेज़ी के 'रोमैन्टिक रिवाइवल' से पूर्व के कवियों में रख सकते है। रवीन्द्र-काव्य से न केवल अभिव्यक्ति में बल्कि काव्य के आलम्बनों में भी नवीनता

आई। सन् १९१३ में 'गीताञ्जलि' पर नोबुल-पुरस्कार पाने पर विश्व-साहित्य का ध्यान उनकी ओर गया और हमारे अन्तःप्रान्तीय साहित्य पर उनका प्रभाव पड़ने लगा। गुप्तजी भी इस प्रभाव से अस्पृश्य नहीं रहे, उनके 'झंकार' में यत्र-तत्र रवीन्द्र-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है।

तो सन् १९१४-१५ में वह जो नवीन भावात्मक-मुक्तक अवतीर्ण हुआ (जिसका नामकरण अब निश्चित रूप से 'छायावाद' हो गया है), उसी का विकास द्विवेदी-युग के बाद के काव्य में होता गया। द्विवेदी-युग के काव्य-कानन में उस लीरिक मुक्तक ने विकसित वसन्त (छायावाद) का मुकुल दिया था। जिस प्रकार भारतेन्दु-युग के भीतर से प्रसादजी छायावाद की ओर आ रहे थे, उसी प्रकार द्विवेदी-युग के भीतर से भी छायावाद के नये कवि जन्म ले रहे थे—पन्त और निराला। यह एक संयोग की बात है कि इनका रचना-काल सन् १९१५-१७ से प्रारम्भ होता है। उस समय तक द्विवेदी-युग में जो नवीन मुक्तक आ गया था उसी को विकसित रूप-रंगों में साकार करने के लिए इनका आविर्भाव हुआ। उस समय ये छायावाद का शैशव ग्रहण कर रहे थे। यह शैशव प्रसादजी के 'झरना' से प्रभाव-रहित था। हाँ, इनकी आरम्भिक प्रेरणा का श्रेय गुप्तजी की कविताओं को दिया जा सकता है। सच तो यह कि आरम्भ में खड़ीबोली का संस्कार सबको गुप्तजी से ही मिला। पन्त और निराला ने भी प्रसाद की भाँति ही

द्विवेदी-युग (गुप्त-काव्य) से खड़ीबोली का काव्य-संस्कार लिया। अन्तर यह है कि प्रसाद का कण्ठ खड़ीबोली में खुल चुका था, ये अपना कण्ठ खोल रहे थे। इसके बाद जिन प्रेरणा-केन्द्रों (बँगला और अँगरेज़ी) से द्विवेदी-युग में नवीन भावात्मक मुक्तक का दर्शन हुआ, उन्हीं प्रेरणा-केन्द्रों से पन्त और निराला ने भी अपने भावी विकास का श्रीगणेश किया।

उस समय प्रसाद की रचनाओं से भी प्रेरित होकर कतिपय युवक कवि नवीन काव्यक्षेत्र में अवश्य आये—सर्वश्री मुकुटधर पाण्डेय. गोविन्दवल्लभ पन्त, स्व० शिवदास गुप्त 'कुसुम'। व्रज-भाषा का माधुर्य-संस्कार खड़ीबोली में लेकर आने के कारण गुप्तजी की अपेक्षा प्रसाद की कविता की ओर इन युवक कवियों का अधिक झुकाव हुआ। मुकुटधर गुप्तजी से भी प्रेरित थे, अर्थात् उन्हें भाषा-संस्कार गुप्तजी से और भाव-संस्कार प्रसादजी से प्राप्त था। यह उनकी प्रारम्भिक प्रेरणाएँ हैं. इसके अतिरिक्त उनमें अपने भी स्वाध्याय का व्यक्तित्व था। खेद है कि असमय में ही उनका काव्य-स्रोत सूख गया। द्विवेदी-युग में वे प्रथम प्राञ्जल कवि है, जैसे छायावाद-युग में पन्त जी।

गुप्तजी द्वारा कविता के खड़ीबोली में आ जाने पर एक अन्य कवि ने भी अपने व्यक्तित्व का आरम्भ किया था। वे हैं श्री माखनलाल चतुर्वेदी, 'एक भारतीय आत्मा'। जिस प्रकार प्रसाद की रचनाओं से प्रेरित होकर उल्लिखित कवि आये थे, उसी

प्रकार चतुर्वेदीजी की रचनाओं से भी प्रेरित होकर कुछ नवयुवक कवि आ गये थे—सर्वश्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, गोकुलचन्द्र शर्मा, उदयशङ्कर भट्ट, इत्यादि। प्रसाद-ग्रूप की अपेक्षा इस ग्रूप के कवि साहित्य में अधिक गतिशील रहे। पन्त और निराला के आगमन के पूर्व चतुर्वेदी-ग्रूप ही द्विवेदी-युग से भिन्न कविता को अग्रसर कर रहा था; यों कहें, गुप्तजी को रोमैन्टिक रूप दे रहा था। यह कवि-समूह भाव-विदग्ध उतना नहीं था जितना वाग्विदग्ध; यह वक्तृत्व-प्रधान था। गुप्तजी ने हमारे काव्य-साहित्य को सामूहिक चेतना दे दी थी, इन नये कवियों ने मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूतियों को भी उद्गार दे दिया। हमारे काव्य-साहित्य में आज भी इन कवियों का कण्ठ मुखरित है।

जिस भावात्मक-मुक्तक का विकास छायावाद के नाम से हुआ, निःसन्देह द्विवेदी-युग में उसका कवित्व उतना घनीभूत नहीं हुआ। प्रसाद-काव्य से प्राप्त प्रेरणा का स्थान उस युग में इतना ही है जितना इस युग में निराला के गीतिकाव्य का। छायावाद के घनीभूत कवित्व के लिए समय की अपेक्षा थी, प्रसाद इसी के पूर्व-सूचना थे। असल में जिस प्रकार खड़ीबोली की भाषा बन जाने पर हमारे साहित्य में प्रसाद आये, उसी प्रकार प्रसाद और गुप्त के सम्मिलित प्रयत्न से खड़ीबोली में व्यञ्जकता आ जाने पर छायावाद के उन्नायक कवि उदित हुए। जैसा कि पहले कहा है,

पन्त और निराला ने द्विवेदी-युग से काव्य-संस्कार लिया तथ गुप्त और प्रसाद की भाँति हिन्दी से बाहर का विस्तार। यह विस्तार रवीन्द्रनाथ के माध्यम से विश्व-काव्य तक पहुँचा।

[५]

पन्त और निराला से पहले प्रसादजी नवीन काव्य-क्षेत्र में जरूर आ चुके थे और जिस गति से द्विवेदी-युग का साहित्य चल रहा था उस हिसाब से उनका साहित्य अपेक्षाकृत नवीन लगता था। इस प्रकार जब वे नवप्रसिद्ध हो चुके थे तब पन्त और निराला अप्रकाश्य रूप से निजी काव्य-रुचि का विकास कर रहे थे। सन्' २० तक, जब कि ये अपने विकास में लगे हुए थे, द्विवेदी-युग का प्राधान्य था। सन्' २० के बाद से ये कवि प्रकाशमान हुए। सन्' २४ तक इनकी इतनी काव्य-कृतियाँ प्रकाशित हुईं कि द्विवेदी-युग के बाद छायावाद-युग आ गया। सन्' २४ से जब छायावाद के इन कवियों का प्रभाव बढ़ा और उस प्रभाव से नई साहित्यिक पीढ़ी की भाव-जिज्ञासा जगी तब प्रसादजी को भी अपने कला-विस्तार के लिए उपयुक्त वातावरण मिला। इसी समय से उन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ लिखीं। इस प्रकार नवीन काव्य-कला का (साथ ही सन्' २० की राष्ट्रीय जागृति में गद्य-साहित्य का भी) उत्थान-काल सन्' २४ में ही सामने आता है। द्विवेदी-युग में नवीन साहित्य की पृथक्-पृथक् साधना करनेवाले कलाकारों का यह संगम-काल है। पन्त और 'निराला' ने

काव्य-प्रवाह को 'पूर' दे दिया। इसी समय से दो और नये कवियों का भी उदय होता है—सर्वश्री महादेवी वर्म्मा और रामकुमार वर्म्मा। इनके बाद, मुख्यत: पन्त और महादेवी की काव्य-प्रेरणा से अन्य अनेक जूनियर कवियों का दर्शन भी हिन्दी-संसार को मिला। कुछ नवयुवक कवि माखनलालजी के भी प्रतीक बने रहे। निराला का काव्य-प्रभाव अपनी प्रतिभा की जटिलता मे सुलभ नहीं हो सका। पन्त और निराला की प्रारम्भिक काव्य-प्रेरणा से पहले जो नये-नये कवि आये थे उनका कलाबोध अपरिपक्व था, उनमें परिष्कृति और आत्म-परिणति नहीं थी, वे साहित्य में चल भी नहीं सके। किन्तु सन् '२७ के बाद पन्त और महादेवी के सम्यक् प्रभाव से जो नवयुवक कवि आये वे स्वयं अपनी-अपनी आँखों से देखे हुए संसार का व्यक्तित्व लेकर आये। पन्त और महादेवी से कलाबोध पाकर उसमें अपनी-अपनी दुनिया का संगीत दे दिया। महिला-संसार से भी कुछ अच्छी कवयित्रियाँ आईं।

निदान, छायावाद में भारतेन्दु-युग की परिणति है प्रसादजी; द्विवेदी-युग की परिणति हैं माखनलाल, पन्त, निराला, महादेवी, रामकुमार, इत्यादि। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के मध्यवर्त्ती है श्रीधर पाठक तथा द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के मध्यवर्त्ती हैं मैथिलीशरण गुप्त। पाठकजी की नवीन काव्य-प्रेरणा क्लासिकल अँगरेजी कविता है; गुप्तजी की नवीन काव्य-प्रेरणा क्लासिकल

बँगला कविता। हिन्दी की सीमा में दोनों ही आधुनिक हैं। एक में ब्रजभाषा की वृद्ध आधुनिकता है, दूसरे में खड़ीबोली की शिशु आधुनिकता। प्रसाद ने वृद्ध आधुनिकता को यौवन दिया; माखन-लाल, निराला, पन्त, महादेवी, रामकुमार इत्यादि ने शिशु आधुनिकता को।

इन विविध कवियों ने अपनी-अपनी विदग्धता के अनुसार अपने विकास में भाषा के विभिन्न प्रभाव भी ग्रहण किये हैं—किसी में उर्दू का प्रभाव अधिक है, किसी में बँगला का, किसी में संस्कृत का, किसी में अँगरेज़ी का अथवा किसी में अँगरेज़ी और संस्कृत का, किसी में अँगरेज़ी, संस्कृत और बँगला का। इन विभिन्न प्रभावों ने इन कवियों के कवित्व को विभिन्न व्यक्तित्व दे दिया है।

[६]

पाठकजी के सीनियर होते हुए भी जिस प्रकार खड़ीबोली की कविता के प्रतिनिधि-कवि गुप्तजी हैं, उसी प्रकार प्रसादजी के सीनियर होते हुए भी छायावाद के प्रतिनिधि-कवि पन्तजी हैं। प्रतिनिधित्व का आधार प्राञ्जलता है। गुप्तजी ने खड़ीबोली को परुष प्राञ्जलता दी, पन्त ने छायावाद को सुकुमार प्राञ्जलता, जिसका एक नन्हा-सा ठेठ बीज श्री शिवाधार पाण्डेय की कविताओं में है। परुष-प्राञ्जलता को द्विवेदी-युग में अन्तः-स्पन्दन दिया प्रसाद ने, सुकुमार प्राञ्जलता को अन्तःस्पन्दन

मिला महादेवी से। ये अन्तःस्पन्दन जीवन की सबजेक्टिव वेदना के हैं। अपने अपने स्थान पर प्रसाद और महादेवी ने जीवन की स्नेह-तरल वर्तिका को हृदय की 'लौ' दी है। वर्तमान छायावाद की कविता में वेदना का आदिरूप है प्रसाद की कविता में, विकसित रूप है महादेवी की कविता में। प्रसाद की काव्यवेदना में मध्ययुग की एषणाओं के विफल ऐश्वर्य का उद्वेग है; महादेवी की काव्यवेदना में युगों की रुद्धकण्ठ नारी की विगलित गरिमा। इसी लिए महादेवी की वेदनाएँ प्रसाद की वेदना से उज्ज्वल हैं। निःसन्देह छायावाद में महादेवी मीरा के अभाव की पूर्ति हैं।

हमारे साहित्य में दो दशाब्दी (सन् '२० तक) द्विवेदी-युग के काव्य का प्राधान्य रहा, और सन् '४० तक (दो दशाब्दी) छायावाद की कविता का। इसके बाद ? कविता समाजवाद की ओर जा रही है। यह खड़ीबोली के काव्य-साहित्य के तृतीय उत्थान का आरम्भ है।

छायावाद और उसके बाद

[१]

रवीन्द्रनाथ तक पहुँचकर साहित्य में पुराकालीन भारत ही क्रमशः आधुनिक से आधुनिकतम होता गया। जितना ही हम पीछे मुड़कर देखते हैं उतना ही वह अपने क्लासिकल रूप में दीख पड़ता है। अपने साहित्य मे यदि हम देखें तो छायावाद की अपेक्षा द्विवेदी-युग, द्विवेदी-युग की अपेक्षा भारतेन्दु-युग, भारतेन्दु-युग की अपेक्षा मध्ययुग अपनी पुरातनता में स्पष्ट से स्पष्टतर होता जाता है। पीछे की ओर पुराकाल समय के बादलों में ढँकता गया है, वर्त्तमान की ओर जलद-पट से छनकर आती हुई ज्योत्स्ना की भाँति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता गया है। पुराकाल का यही सूक्ष्माभास रवीन्द्र-साहित्य में है। द्विवेदी-युग और रवीन्द्र-युग के काव्य-संस्कार से छायावाद में भी पुराकालीन सांस्कृतिक चेतना है। द्विवेदी-युग में वह चेतना 'साकेत' बन गई है तो छायावाद में संकेत। छायावादी कवियों में भी जिन पर द्विवेदी-युग का संस्कार अधिक है, उनमें यह चेतना संकेतवत् न होकर स्थूल है, यथा—प्रसाद और निराला में।

पन्त को छोड़कर छायावाद के अन्य कवियों में जीवन का एक भावात्मक आइडियलिज्म है जो कि परम्परा-बद्ध है। पन्त

में भाव है, किन्तु वह आइडियलिज्म नहीं। पन्त की स्थिति इस पुरातन आधुनिक संसार में उस अनजान शिशु की-सी थी जो परम्परा से प्राप्त संसार में भाव-क्रीड़ा करता है, स्वयं ही एक निसर्ग-सुन्दर सृष्टि होकर। बीच-बीच में वास्तविकता का आघात लगने से शिशु-हृदय में जैसे एक विकलता जगती है वैसे ही पन्त के शिशु-सहज कवि में भी जगी। यथा, 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में। 'परिवर्तन' तक पन्त के स्वर संस्कार-बद्ध थे, संसार को उन्होंने अपनी शिशु-आँखों से देखा था, किन्तु जीवन को आप्त पुरुषों की आँखों से ही देखा-समझा था। जिस पुरातन संसार में उन्होंने अपना भाव-जगत् पाया था, उसी संसार के स्वर्ण स्वप्नों का उनमें मोह था।

उस भाव-जगत् के पन्त में कुतूहल है, जिज्ञासा है, मुग्धता है; किन्तु जीवन की लिप्तता नहीं। 'गुञ्जन' तक आते-आते पन्त के शैशव का वह कण्ठ नई दुनिया की भाषा में फूटने लगा। और 'युगान्त' से हम देखते हैं कि जिस पुरातन संसार में पन्त के कवि ने बाल्यक्रीड़ा की आज वह उस संसार की विकृतियां और सुकृतियों की विवेचना कर रहा है, एक रियलिस्टिक आइडियलिज्म दे रहा है। भावात्मक आइडियलिज्म तो जीवन के अभावों की एक विस्मृति मात्र था। वह जीवन की अतृप्तियों का मानसिक परितृप्ति था। और अब हम जीवन के अभावों को भरकर भाव की साधना करना चाहते हैं। वर्गों की विषमता में हमारा अब

तक का ऐतिहासिक जीवन अस्वस्थ है, आज हम स्वस्थ जीवन और उसकी स्वस्थ जिज्ञासा (आध्यात्मिकता) चाहते हैं। हाँ, जीवन के अभावों की पूर्त्ति हम पशु होकर नहीं, मनुष्य होकर करना चाहते है, इसी लिए हमारी वास्तविकता में आध्यात्मिकता भी बनी रहेगी, और इसे ही हम कहेंगे रियलिस्टिक आइडियलिज्म। पिछले युगों में जीवन का जो रियलिज्म आभिजात्य के आच्छादन में ढँका हुआ था उसे उघारकर हम कोरे रियलिस्ट नहीं बन जाना चाहते। पिछली दुनिया में पन्त ने भावात्मक आइडियलिज्म को भी स्पर्श किया है, किन्तु वही उसकी सीमा नहीं था, वह तो उसके शैशव का श्रुतिबोध मात्र था। अब जब कि वह अपनी सीमा (रियलिस्टिक आइडियलिज्म) को पहिचानने लगा है, आज स्पष्ट रूप से छायावादी कवियों से भिन्न हो गया है। पन्त का वर्तमान विकास विगत शैशव का तारुण्य है, पन्त का विगत शैशव रवीन्द्रनाथ का नव-किसलय था। आज जिस संसार में और जिन परिस्थितियों मे पन्त को प्रवेश करना पड़ा है, तरुण रवीन्द्र स्वयं वहीं होते।

हम देखते हैं कि पन्त के काव्य में उत्तरोत्तर परिवर्त्तन होता गया है, किन्तु छायावाद के अन्य कवियों की कविता एक निश्चित सीमा पर पहुँचकर स्थिर हो गई है। मध्ययुग के एक परिपूर्ण विकास पर इनका साहित्य अवरुद्ध हो गया है। यों कहें, जिस युग के वे यात्री थे उसके आगे के युग में उनकी गति नहीं। आगे जाने की उनमें आस्था भी नहीं है। प्रसाद ने अपने ऐति-

हासिक नाटकों में कुछ आगे की बातें भी कही हैं, किन्तु वे ऐसी ही हैं जैसे कोई बीसवीं शताब्दी में सेतुबन्ध-रामेश्वरम् का तीर्थ-यात्री मध्ययुग के ऐश्वर्यों, सौन्दर्यों, शिल्पों और आदर्शों का दर्शन करता हुआ, सामने समुद्र की लहरों पर सन्तरण करते हुए आगत युग की वास्तविकता की भी सूचना दे दे। 'राज्यश्री' नाटक के विकटघोष के चरित्र-चित्रण में यही सूचना है जो कि बड़े ही कुरूप कलर में अंकित है। सच तो यह कि प्रसाद प्रतिगामी साहित्यिक थे। वे 'स्वर्ग के खँडहरों में' ही विचरते थे। अतीतकालीन रोमांस के कैनवेस पर ही उनके सम्पूर्ण नाट्यचित्र जीवन-क्रीड़ा करते हैं। वर्तमान युग की दारुण वास्तविकता का सामना प्रसाद नहीं करना चाहते थे। फलतः छायावाद के सीनियर कवियों में पन्त ने ही आगे बढ़कर आगत युग का स्वागत किया। वे भी स्वागत ही कर सके हैं, अभी हृदय से नहीं लगा सके हैं। बात यह है कि मध्ययुग के राजसी संस्कार हममें इतने प्रबल हैं (और वे हमारी अभावात्मक परिस्थितियों के कारण अब इतने तामसिक हो गये हैं) कि जब तक समाज में आमूल परिवर्त्तन नहीं हो जाता तब तक नवीन युग की मानवता को हम पूर्ण आत्मीयता नहीं दे सकते। हाँ, परिवर्त्तन का क्रम प्रारम्भ हो गया है, यह शुभ लक्षण है।

[२]

छायावाद का अभ्युदय-काल सन् '२० के राष्ट्रीय आन्दोलन का समय है। ऐसे समय में नवीन हिन्दी-कविता (छायावाद)

में राष्ट्रीय भावों के बजाय अदृश्य सूक्ष्म भावनाओं का दर्शन मिलना विरोधाभास-सा लगता है। किन्तु छायावाद में जो एक पुरातन दार्शनिकता है वह सन् '२० के राष्ट्रीय आन्दोलन में भी अटपटी नहीं लगी, कारण, हमारे उस राष्ट्रीय आन्दोलन के पार्थिव प्रयत्नों में भी एक अतीतकालीन दार्शनिक चेतना थी—गान्धीवाद के रूप में। ऐसे समय में जब कि गान्धीवाद की भाँति ही छायावाद भी एक सूक्ष्म चेतना लेकर चला था, द्विवेदी-युग का साहित्य आन्दोलन के स्थूल रूप को प्रकट कर रहा था। द्विवेदी-युग का साहित्य वस्तुजगत् को लेकर ही प्रकट हुआ था, फलतः राष्ट्रीय आन्दोलन के स्थूल रूप का रेखाङ्कन उसके लिए स्वाभाविक था। उस युग का साहित्य मध्यकालीन व्यवस्थाओं के वस्तुजगत् को सँवारने में लगा था, गान्धीवाद के बहिरूप में। पुरातन आदर्शों के साक्षात् के लिए वह कथात्मक दृष्टान्तों की भाँति सामयिक पदार्थ-पाठ तैयार कर रहा था। इसी लिए उस युग के साहित्य में भावात्मक-मुक्तक का उतना उत्कर्ष नहीं हो सका, जितना प्रबन्ध-काव्यों और कथात्मक गद्य-रचनाओं का। इस दिशा को अनुवादों से भी सम्पन्न करना पड़ा।

असल में द्विवेदी-युग सूक्ष्म भावनाओं के लिए स्थूल आधार ढूँढ़ रहा था। उसकी सूक्ष्म भावनाएँ प्राचीन संस्कारों में भक्ति-मूलक थीं, इन्हीं की अभिव्यक्ति के लिए उसे कोई प्रत्यक्ष दृश्यपट दरकार था। जब तक राष्ट्रीय आन्दोलन सामने नहीं आया तब

तक उसकी भावनाएँ ईशस्तुति और प्रभुवन्दना में ही सन्तोष ग्रहण करती रहीं। उस आस्तिक वस्तुजगत् के लिये गान्धीवाद एक वरदान मिल गया। द्विवेदी-युग को गान्धीवाद द्वारा सूक्ष्म भावनाएँ भी मिलीं और आत्मा के लिए शरीर की भाँति स्थूल आधार (राष्ट्रीय कार्य्यक्रम) भी। प्रेमचन्द और मैथिलीशरण द्विवेदी-युग की ओर से इस राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रतिनिधि साहित्यकार हुए। द्विवेदी-युग में रवीन्द्रनाथ के प्रच्छन्न प्रभाव से जिस भावात्मक-मुक्तक का प्रारम्भ हो चुका था, उसने भी सन् '२० से छायावाद में अपना विकास किया। गान्धीवाद और छायावाद (रवीन्द्र) दोनों एक ही ऐतिहासिक जीवन-कुसुम के प्राण और सौरभ है। यों कहें, गोखले और तिलक-द्वारा प्रेरित वस्तुजगत् ने गान्धीवाद में अपनी परिणति ली तथा रवीन्द्र-द्वारा प्रेरित भावजगत् ने छायावाद में। यहीं सन् '२० से हमारे साहित्य में गांधी-रवीन्द्र-युग बनता है। यह मानो लोक-व्यञ्जक रामकाव्य (प्रबन्धकाव्य) और आत्मव्यञ्जक कृष्णकाव्य (गीतिकाव्य) के समन्वय का युग है। यहीं आकर मध्ययुग हमारे साहित्य में अपनी अन्तिम पूर्णता प्राप्त कर लेता है। यहाँ पर सुमिरनी का एक जाप अपने सुमेरु में पूरा हो जाता है। जो लोग इसके आगे नहीं जाना चाहते थे, वे यहीं रुक गये। जो रुकना नहीं चाहते थे वे प्रगति की ओर बढ़े।

द्विवेदी-युग में मध्ययुग के वस्तुजगत् ने ही एक नवीन संस्करण प्राप्त किया था, अपेक्षाकृत सर्वसुलभ होकर। किन्तु

इस वस्तुजगत् के दैन्य की शोभा विगत ऐश्वर्य्य के मुकुट (भाव-जगत्) ने ही छायावाद के रूप में बढ़ाई थी। अब वह वस्तुजगत् समाप्तप्राय है, एक सर्वथा नये वस्तुजगत् का प्रथम संस्करण प्रस्तुत हो रहा है। यह नवीन वस्तुजगत् अपने दुःख-दैन्य को राजमुकुट (छायावाद) से ढँककर छिपाये नहीं रखना चाहता। हाँ, कभी वह भी अपने मस्तक पर नवीन मुकुट (भावजगत्) धारण करेगा जिसकी रचना स्वयं करेगा—अपने ही श्रम-बिन्दुओं की कला से।

तो द्विवेदी-युग के दो साहित्यकार प्रेमचन्द और मैथिलीशरण गान्धी-युग तक आये। गुप्तजी को राष्ट्रीय आन्दोलन में अपने 'साकेत' का सामञ्जस्य मिल गया, महात्मा गान्धी का 'रामराज्य' उन्होंने 'साकेत' में दे दिया। गुप्तजी पुरानी जनता के वर्तमान कवि हैं। किन्तु प्रेमचन्द ने 'साकेत' या 'रामराज्य' नहीं दिया, उन्होंने बिना किसी रूपक के वर्तमान भारतवर्ष को दिया। उनके इस भारतवर्ष में पुराकालीन जनता भी है और तत्कालीन जनता भी। प्रेमचन्द अतीतपरायण न थे, इसी लिए उन्होंने प्रसाद के नाटकों का अतीत रूप पसन्द नहीं किया था। यदि आज प्रेमचन्द जीवित होते तो प्रगति की ओर ही बढ़ते। प्रेमचन्दजी के लिए आगे का पथ उन्मुक्त था, क्योंकि वे पुरोगामी नहीं थे; किन्तु गुप्तजी के लिए आगे का पथ कुछ अवरुद्ध है, क्योंकि गान्धी-युग की भाँति उनके प्राचीन संस्कारों को सामञ्जस्य देनेवाला कोई दृष्टांत वर्त्तमान प्रगतिशीलयुग में नहीं मिलता।

एक दिन ब्रजभाषा के समर्थकों ने द्विवेदी-युग (खड़ीबोली) का विरोध किया था, द्विवेदी-युग ने छायावाद का और आज छायावाद प्रगति को दुर्गति समझ रहा है। परिवर्त्तन से ही जीवन और साहित्य में पुनर्जन्म होता है किन्तु प्राणी अपने वर्षों के चिर-परिचित शरीर को छोड़ने में मोहाभिभूत हो ही जाता है। यदि विश्वास हो जाय कि परिवर्त्तन हमें दिव्य जन्म ही देगा तो हम भावी जीवन की ओर प्रसन्न उत्साह से अग्रसर हो सकते हैं। प्रगतिवाद को पिछली जनता में यह विश्वास उत्पन्न करना है। उसे उद्‌बोधक ही नहीं, प्रबोधक भी होना है। अपनी सैनिक प्रवृत्ति में उसे गृहस्थों की गति-मति का भी ध्यान रखना है।

तो, पिछले युगों के भीतर से जिस प्रकार छायावाद के कवि आये, आज उसी प्रकार छायावाद के भीतर से समाजवाद के कवि आ रहे हैं। रीतिकाल की कविता को जिस प्रकार द्विवेदी-युग ने बदल दिया था, उसी प्रकार आज समाजवाद (प्रगतिवाद) छायावाद को बदल रहा है। रीतिकाल ब्रजभाषा की कविता का कला-युग था, छायावाद-काल खड़ीबोली की कविता का कला-युग। ये दोनों कलाएँ अपने अपने समय के 'फाइन आर्ट्‌स' हैं। दो भिन्न कालों में जन्म लेकर भी मूलतः ये उसी संसार की ललित कलाएँ हैं जिसके वस्तुजगत् के प्रतिकूल आज शोषित वर्ग में असन्तोष जग रहा है। ये कोमल कलाएँ श्रीमन्तों के सुकुमार चिह्न हैं, उनके प्रज्वलित ऐश्वर्य की कोमल द्युति हैं, उनकी चाँदनी

रात हैं। जिस प्रकार नारीजाति ने पुरुषों की इच्छाओं में ही अपने व्यक्तित्व को विलीन कर दिया, उसी प्रकार जनवर्ग ने राज-पुरुषों के स्वप्नों को ही अपना भाव-जगत् बना लिया, अपना बलिदान देकर। और आज जब हम वास्तविकता को पहचानने लगे हैं, राजपथ के उभड़े रोड़ों से असन्तोष प्रकट करने लगे हैं, तो हमसे कहा जाता है—तुम्हारा कण्ठ विकृत हो गया है, उसमें वह सौन्दर्य और माधुर्य नहीं है। निःसन्देह आज हमारा कण्ठ सुललित नहीं रह गया है, कर्कश हो गया है। किन्तु वह सौन्दर्य और माधुर्य किसका था, हम दीन-विपन्नों का या उन ऐश्वर्यशालियों का जिनके सौन्दर्य और माधुर्य के 'मॉडल' पर ही अब तक हमारे जीवन और साहित्य को गलत ट्रेनिंग मिलती आई है? उन्हीं की सरसता की तुलना में हमारे आज के कण्ठ को परखकर कहा जाता है कि उसका स्वर कलाहीन हो गया है। ऐसा है ऐश्वर्य-जन्य सौन्दर्य और माधुर्य का व्यामोह! यह व्यामोह मृत-सौन्दर्य के प्रति अधीर आत्मीयता है, वर्तमान के हाहाकारों के बीच अतीत के ताजमहल की पूजा है। जो हो, आज छायावाद निःस्पन्द है, साहित्य को नवजीवन देने के बजाय वह स्वयं ही मुमूर्षु की भाँति जीवन माँग रहा है।

ऐसे समय में छायावाद के सीनियर हिन्दी कवियों में से पन्तजी ही प्रगतिशीलता की ओर बढ़े हैं, उनके बाद छायावाद

के कुछ अन्य जूनियर कवि। पन्त तथा इन अन्य कवियों में अन्तर यह है कि पन्त जीवन के बुनियादी सत्यों का तथ्य ('थॉट') दे रहे हैं, अन्य कवि संगीत। पन्त चिन्तक हैं, अन्य कवि चारण या वन्दीजन। हमारे साहित्य में पन्त नये युग का बीजारोपण कर रहे हैं, अन्य कवि उसके समारोह का गान गा रहे हैं। अभी पन्त का कण्ठ गम्भीर है, मुखरित नहीं; इसी लिए वे युग का मन्त्र-सूत्र दे रहे हैं, युग-संगीत नहीं। अभी जो कवि युग का संगीत दे रहे हैं उनकी स्वर-लिपियाँ छायावाद की ही हैं, प्रगतिशील युग की नहीं। युग जब जीवन में मूर्त्त होकर बोलेगा तब उसके संगीत की स्वर-लिपि भी उसी के कण्ठ से बन जायगी। द्विवेदी-युग में एक खड़ीबोली बनी थी, जिसकी कविता का विकास है छायावाद। अब समाजवाद द्वारा एक नई खड़ी बोली बन रही है, जिसका मनोरम विकास भविष्य के अन्तर्गर्भ में है।

महादेवी तक पहुँचकर हिन्दी-कविता अपने एक युग की साधना पूर्ण कर लेती है। इसके बाद हिन्दी-कविता का अवरोह शुरू होता है। महादेवी के बाद के वे लौकिक कवि जिन पर उर्दू मजलिस का रङ्ग चढ़ चुका था, स्पष्ट रूप से मुग़ल-काल में चले गये। सङ्गीत उन्होंने महादेवी का लिया, रसिकता मुग़ल-काल की। यह लुप्त होते हुए सामन्तकालीन समाज का अन्तिम राग-रङ्ग था। ठीक इसी समय छायावाद के इस अवरोह का समाजवाद ने अवरोध किया। जैसे नदी की धारा अपना रूढ़ जीवन लिये हुए, जिधर

से अवरोध मिलता है उधर ही को मुड़ पड़ती है, उसी प्रकार वे उदू रङ्गत के कवि समाजवाद की ओर मुड़े। यहाँ उनकी लालसाओं को रियलिज्म का कन्सेशन मिल गया। हम उन्हें प्रगतिशील न कहकर इस युग के भीतर मुगल-काल का 'फिफ्थ कालम' कहेंगे। वे ही किसी भी दिन सस्ते से सस्ते प्रलोभनों से विचलित होकर प्रगति के प्रति विश्वासघात भी कर सकते हैं। प्रकाश बाबू (प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त) ने जिनके लिए कहा है—ऐसे लेखक आगे चलकर फासीस्ट हो गये हैं, वे इसी कोटि के लोग हैं।

कुछ अंशों में कहानी-साहित्य के लिये भी यही बात कही जा सकती है। प्रेमचन्दजी के बाद जैनेन्द्रजी ने कथा-साहित्य का प्रतिनिधित्व अवश्य किया किन्तु वे इतने ठस हो गये कि तरलता के लोभ में उनके बाद के युवा लेखक दूसरी दिशा में चले गये। हाँ, काव्य-साहित्य की अपेक्षा कहानी-साहित्य में प्रगतिशील लेखक अधिक हैं, वे मुख्यत: राजनीति के भीतर से आये हैं और साहित्य को युग के नये गद्य से परिचित करा रहे हैं, यद्यपि 'फिफ्थ-कालम' के काव्यमय रोमान्स का प्रलोभन कभी-कभी उन पर भी छा जाता है। छायावाद के नाम से वे भड़कते है, किन्तु अपने कैम्प में दाखिल हो जाने पर वे छायावाद के अवरोह के संगीत का आनन्द अवश्य लेते हैं। यह सैनिक ढङ्ग का मनबहलाव है। असल में प्रगतिशील साहित्य का सङ्गीत अभी बन ही नहीं सकता, क्योंकि

अभी उसका जीवन ही नहीं बना है, अतएव छायावाद के गीति-काव्य से ही उधार लेकर वह अपना मनोविनोद कर रहा है।

एक ओर समाजवाद ने छायावाद के अवरोह का अवरोध किया, दूसरी ओर स्वयं छायावाद ने भी मर्य्यादा बचाने के लिए कुछ निजी प्रयत्न किये, सर्वश्री रामकुमार वर्म्मा और बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन' की कविताओं द्वारा। श्री रामकुमार ने अपनी 'चित्ररेखा' में यत्किंचित् कबीर के रहस्यवाद से तथा श्री बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन' ने अपनी राष्ट्रीय रचनाओं में गान्धीवाद से छायावाद की मर्य्यादा बनाये रखनी चाही। किन्तु छायावाद का अवरोह रुका नहीं।

छायावाद की मर्य्यादा महादेवी थीं। पूजा के जिन आँसुओं से सींच-सींचकर मीरा ने 'प्रेम-बेलि' बोई थी, उन्हीं आँसुओं से छायावाद को सींचकर महादेवी ने भी उसे प्राणों की गहराई दे दी थी। आँसुओं का अर्घ्य रामकुमार और 'नवीन' के गीतिकाव्य में भी है, किन्तु महादेवी ने यदि आँसुओं की आर्द्रता में चन्दन को सुवासित कर लिया तो रामकुमार और 'नवीन' ने आँसुओं में अबीर घोलकर आँसुओं को भी रंगीन बना दिया। महादेवी की कविता अपने भक्ति-प्रणत भाल पर चन्दन-बिन्दु लगाकर मीरा की नवप्राण बालिका हो गई है तो रामकुमार और 'नवीन' की कविता अपने शृंगार-दृप्त भाल पर कुंकुम लगाकर रीतिकाल के शृंगारिक कवियों की वह नई नागरी बन गई है जो भक्ति के प्रति श्रद्धालु

होकर भी आसक्ति के प्रति अधिक तन्मय है। हाँ, 'नवीन' की अपेक्षा रामकुमार में मधुरता अधिक है। फिर भी इन कवियों में रंगीनी कहीं-कहीं इतनी चटकीली हो गई है कि छायावाद के अवरोह-काल के नवजात कवि उस चटकीली रंगीनी को ही अपनी कविता का परिधान बना लेने के लिए ललच पड़े।

गीतिकाव्य के क्षेत्र में महादेवी की सबसे बड़ी सफलता यह है कि जिस प्रकार मध्यकाल के शृंगारिक कवियों ने जीवन में एक चञ्चल रसिकता को अपनाकर भी भक्तिकाव्य के प्रति अपनी श्रद्धा बनाये रखी, उसी प्रकार छायावाद के अवरोह-काल के कवियों ने, स्वयं रामकुमार और 'नवीन' ने भी, महादेवी के गीतिकाव्य पर अपनी आस्था बनाये रखी। यहाँ तक कि बच्चन ने भी महादेवी के सुर में सुर मिलाकर गाया—'वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी!' किन्तु जीवन के अन्तराल में इस टेक को गुनगुनाकर भी बच्चन का स-र-ग-म महादेवी के कण्ठ से भिन्न हो गया और पूजा के मन्दिर से निकलकर रूपोद्यान में उन्होंने गाया—

नन्दन वन में उगनेवाली
मेंहदी जिन तलवों की लाली
बनकर भू पर आई, आली!
मैं उन तलवों से चिर परिचित
मैं उन तलवों का चिर ज्ञानी,
वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी!

छायावाद के अवरोह-काल के कवि इसी प्रकार महादेवी के गीतिकाव्य को अपना परिचय देकर अपने संसार का संगीत गाते रहे, मानो मीरा के मन्दिर में तानसेन अपना राग अलापते रहे।

रामकुमार और 'नवीन', छायावाद का अवरोह इसलिए नहीं रोक सके कि वे अपनी भूख-प्यास में स्वयं कहीं इतने दुर्बल थे कि साधना के मन्दिर में नतमस्तक होकर भी उनकी श्रद्धा अन्यमनस्क थी। जीवन के उन्मुक्त पथ में वे उद्विग्न आस्तिक की भाँति थे। अवरोह-काल के अन्य नवजात कवि उन्हीं की दिशा के अपेक्षाकृत लघुवयस्क पथिक थे। किन्तु इनमें से कुछ छुटभैयों ने देखा कि मध्ययुग के जिस शृंगारिक वातावरण से हम अपनी-अपनी कविता के स्वप्नों का रंगीन परिधान लेकर आये थे, काल उसका भी चीरहरण किये जा रहा है। तब उनकी आकांक्षाएँ अपने शेष सम्बल (स्वप्न) के अभाव में असन्तुष्ट हो उठीं, चोट खाकर वे नास्तिक-स्वर में बोल उठे—'प्रार्थना मत कर, मत कर।' किन्तु 'प्रार्थना' (आस्तिकता) का क्या दोष ? आस्तिकता तो जीवन के सूक्ष्म सत्यों के प्रति तन्मयविश्वास का नाम है। रूप-राशि की वन्दना तो आस्तिकता नहीं थी। हम स्पष्ट देख सकते हैं कि जीवन की कितनी चञ्चल आकांक्षाओं के लिए नये शृंगारिक कवियों की आस्तिकता थी। उन्होंने पहिले ही से एक ज्वाला को जीवन की शीतलता के रूप में अपना रखा था और जब उसका निश्चित परिणाम सामने आया तो उन्हें नास्तिक हो जाना पड़ा।

यह तो ऐसा ही हुआ जैसे कोई रङ्गीनमिज़ाज बादशाह अपनी बादशाहत के चले जाने पर ख़ुदापरस्त न रह जाय। रोमैन्टिक युग के ये सौन्दर्य्य-विकल हेलेनिस्ट कवि रूमानिया के पदच्युत शाह कैरोल अथवा बेलजियम के लियोपोल्ड ही तो हैं।

अपनी असफल रंगीन आकांक्षाओं के वे कवि आज प्रगति की दिशा के भी गायक हो गये हैं। लेकिन उनकी प्रगतिशीलता में पराजित जीवन की खीझ है, आत्मविजय द्वारा युग-विजय की सूझ-बूझ नहीं। प्रगति की दिशा में उनके लिए युग की बाह्य वास्तविकता को गान्धीवाद की आत्मस्निग्धता देने का एक खोया हुआ अवसर था, जब कि वे बिना नींव के रंगमहलों मे चहक रहे थे। यह सत्य है कि राजसी स्वप्नों के संसार से लुण्ठित होकर इन कवियों ने अपने को आज उस वस्तुजगत् में देखने का प्रयत्न किया है जहाँ युगों की शोषित जनता की तरह उनका कवि भी अकिञ्चन है, किन्तु अकिञ्चनों की साधना (गान्धीवाद) की ओर भी उन्हें बढ़ना है। इसके बिना उनका कवि चिरहाहाकार में समुद्र के उद्गारों की भाँति डूबता-उतराता रहेगा।

इन परिवर्त्तित कवियों में बच्चन ने 'एकान्त-संगीत' में युग के भीतर अपनी स्थिति को बड़ी गहरी साँसों से समझने का प्रयत्न किया, किन्तु इसके आगे ऐसा लगता है कि जीवन के आघातों में वे इतने क्षत-विक्षत हो गये हैं कि अब अधिक बोल नहीं सकते।

'आकुल अन्तर' और 'विकल विश्व' में टूटी हुई साँसों का केवल शिथिल प्रवाह (उद्गार) मात्र है।

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने भावजगत् का जो रोमैन्टिक युग दिया था, आज उसी का युगान्त हो रहा है। उस युग का भावात्मक सत्य अन्तःपवित्र होते हुए भी वह पूजा के मन्दिर में ही केन्द्रित हो गया था, वस्तुजगत् उसकी सीढ़ियों से नीचे अलग पड़ा हुआ था। दूसरी ओर मध्ययुग के रंगमहल भी वस्तुजगत् की उपेक्षा कर इन्द्रधनुषी आकाश में अपना निवास बनाये हुए थे। इन दोनों के दूरीकरण के विषम परिणाम स्वरूप आज जीवन और साहित्य में हम अधिकाधिक वास्तविक होते जा रहे हैं, जब कि हमें तात्त्विक (सात्त्विक) होने की भी आवश्यकता है। पूजा के मन्दिरों और ऐश्वर्य्य के महलों को अपनी एकान्तिक सीमा तोड़कर जनसाधारण के बिखरे जीवन में मिल जाने की, उनकी उच्चता को जनता-जनार्दन के अभिनन्दन में नतमस्तक हो जाने की आवश्यकता थी। यही संकेत गान्धीवाद ने दिया। शरद और प्रेमचन्द ने अपनी अपनी कला में इस जनता-जनार्दन को उपस्थित किया, जिस प्रजा को जीवन देना है, उसका मुख दिखला दिया। सर्व श्री वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सियारामशरण गुप्त उनके पद-चिह्न है।

आज हमारे काव्य-साहित्य में युगों की जो जो प्रवृत्तियाँ वर्त्तमान हैं, उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—गान्धीवाद

(मैथिलीशरण), प्रेमवाद (प्रसाद, महादेवी, माखनलाल), कलावाद (निराला), समाजवाद (पन्त)। इस वर्गीकरण के कवियों ने अन्य वादों के अपने अभीष्ट प्रतिनिधियों की परम्परा भी ली है, यथा—निराला ने गुप्तजी की हिन्दू-परम्परा, माखनलाल ने गान्धीवाद की राष्ट्रीयता, पन्त ने गान्धीवाद (भारतीय दर्शन की सहजतम परिणति) की सूक्ष्म सांस्कृतिक चेतना। इन कलाकारों की शैलियों में जितना अन्तर है उतना ही वादों के आदान-ग्रहण में भी। हाँ, रावीन्द्रिक छायावाद केवल प्रसाद और महादेवी में ही शेष रह गया है।

प्रेमचन्द के बाद कथा-साहित्य का जो प्रतिनिधित्व जैनेन्द्रजी सँभाल नहीं सके, वह प्रतिनिधित्व समाजवाद मे स्थानान्तरित हो गया, जिसके क्रमागत नवयुवक प्रतिनिधि सर्वश्री 'अज्ञेय', यशपाल और पहाड़ी हैं। इसी शाखा में श्री नरेन्द्र एक सर्वथा नवमुकुलित कहानी-लेखक के रूप में फूट रहे हैं। वे तुर्गनेव के शैशव है।

श्री भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्रजी के बाद कहानी-लेखक के रूप में आते हैं, 'अज्ञेय' से भी सीनियर होकर; किन्तु उनकी गति-विधि अनिश्चित है—वे 'भैंसागाड़ी' (प्रगतिशील कविता) भी लिखते है और गान्धीवादी उपन्यास भी। वे अभी अपनी 'उलझन' में है।

तरलता के जिस लोभ में जैनेन्द्रजी के बाद के नवयुवक कहानी-लेखक समाजवाद में चले गये, उस तरलता के प्रति उदासीन होकर श्री कान्तिचन्द्र सौरिक्सा कथा के क्षेत्र में प्रगतिशील हैं।

इधर गान्धीवाद के काव्य-क्षेत्र में गुप्तजी वयोवृद्ध हो गये हैं, उनमें नये रक्त का अभाव हो गया है। उस दिशा में भी एक मनोहर किसलय नवीन रसात्मकता लेकर फूटा है, बिहार का कवि 'केसरी'। वह भी ठेठ संस्कारो का सरल आधुनिक कवि है।

समाजवाद के क्षेत्र में पन्तजी ने जो प्रतिनिधित्व किया उस प्रतिनिधित्व का भी एक नवप्राञ्जल कवि बिहार से ही आया है—रामदयाल पाण्डेय; मानो पन्त का ही प्रगतिशील कण्ठ कुछ और सुबोध होकर फूट पड़ा है।

दिनकरजी तो 'रसवन्ती' के कवि थे, 'केसरी' के-से ठेठ चित्रो के प्राञ्जल कवि। 'रेणुका' और 'हुंकार' में तो उन्होंने 'लाउड थिंकिंग' करने का प्रयत्न किया है, जिससे उनका स्वाभाविक कण्ठ (भाव-क्षेत्र) 'चाँदी का शंख' बन जाने के प्रयत्न में अपनी शक्ति का बैलेन्स नहीं बनाये रख सका है। उसमें मानो 'रसवन्ती' के कवि की मधुरता उष्णता के आवेश से आक्रान्त है।

बिहार में छायावाद के सीनियर कवि श्री मोहनलाल महतो ने भी इधर प्रगतिशील कवि होने का यत्न किया है, किन्तु उनका यह नवीन उत्साह उनके गद्य में अधिक निखर सकता है, विशेषतः उनकी कहानियों में।

माखनलालजी के प्रेमवाद को उर्दू रंगत के भीतर से जो कवि प्रगतिशील कविता की ओर आये हैं, यथा अञ्चल इत्यादि, उनमें श्री नीलकण्ठ तिवारी अधिक हार्दिक हैं।

प्रारम्भ में माखनलालजी की राष्ट्रीय रचनाओं से प्रेरित होकर आज के प्रगतिशील काव्य में आनेवाले एक तरुण-संगीत-कवि श्री सोहनलाल द्विवेदी हैं। इस क्षेत्र में उनकी भाषा (बाह्य अभि-व्यक्ति) मँजी हुई है।

निरालाजी के कला-क्षेत्र से भी एक ओजस्वी किन्तु सुगम्भीर नवयुवक प्रकाशमान है—रामविलास शर्म्मा। प्रगतिशील युग का जो प्रतिनिधित्व निराला से रिक्त था, वह निराला से भी अधिक प्राञ्जल होकर श्री रामविलास शर्मा के रूप में आ गया है।

यह खेद की बात है कि 'सरोज-स्मृति' जैसी कविता में स्वयं निरालाजी युग की वास्तविकता के भुक्तभोगी होते हुए भी युग के वीभत्स कार्टूनिस्ट-से हो गये हैं। 'बापू के प्रति' शीर्षक कविता ('बापू! तुम मुर्गी खाते यदि') में उनका यह स्वरूप देखा जा सकता है, यद्यपि उनका अन्तःस्वरूप सुसंस्कृत है उनकी कवि-आत्मा युग के दयनीय चित्रों के प्रति निर्म्मम नहीं रह सकी है। 'दीन', 'भिक्षुक', 'विधवा', 'तोड़ती पत्थर' इत्यादि इस कोटि की रचनाओं में उनका कवि समाज के उपेक्षित अंगों का सहज सफल चित्र दे सका है। उनके ये चित्र रूढ़ जीवन के करुण शिल्प हैं। हाँ, निराला की यह चित्रकला युग को नहीं, बल्कि युग के खण्ड-चित्रों को दे रही है, जब कि पन्त ने 'ग्राम्या' में खण्डचित्रों और युग के अखण्ड स्वर, दोनों ही को दिया है। उन बिखरे खण्डचित्रों के भीतर निरालाजी युग-सत्य को नहीं देख रहे हैं। एक ओर

वे गान्धीवाद के नेतृत्व से सन्तुष्ट नहीं हैं दूसरी ओर 'वनवेला' में समाजवाद के नेतृत्व से भी। निरालाजी को ऐसा लगता है कि ये नेतृत्व उनके जैसे व्यक्तियों की अवहेलना करते हैं। निरालाजी अपनी धारणा के लिए स्वतन्त्र हैं।

हम देखते हैं कि निराला युगातीत व्यक्ति हैं। करुणाविदग्ध होकर भी निराला का कवि युग का कलाकार नहीं हो सका, जिसकी सबसे अधिक आशा छायावाद के सीनियर कवियों में उसी के पौरुष से की जा सकती थी।

छायावाद की कविता में गीतिकाव्य को निरालाजी ने भी अपनी देन दी है। गीतों को नये-नये स्वर देने में उनकी कलाकारिता व्यक्त हुई है। उनके स्वर और चित्र, दोनों दुरारूढ़ हैं।

निरालाजी के गीतिकाव्य ने भी कुछ युवक कवियों को प्रेरणा दी है, यथा, सर्वश्री कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, जानकीवल्लभ शास्त्री, सत्याचरण 'सत्य', दयानन्द गुप्त। माखनलालजी की काव्य-प्रेरणा से उस स्कूल के जो सीनियर कवि आये थे उनके बाद मुख्यतः सी० पी० से कई जूनियर गीत-कवि भी आये, जिनमें सर्वश्री विनयमोहन शर्मा, शाखाल, नर्मदाप्रसाद खरे, राजेश्वर गुरु, प्रभागचन्द्र शर्मा, ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी, प्रभाकर माचवे और वीरेन्द्रकुमार उल्लेखनीय है। महादेवी के गीतिकाव्य से प्रेरित, सर्वश्री बच्चन, नरेन्द्र और सुमन के अतिरिक्त श्री गुलाब नये कवि हैं। अन्य उदीयमान कवियों में सर्वश्री भगवती-

प्रसाद चन्दोला, पद्मकान्त मालवीय, गंगाप्रसाद पाण्डेय, चन्द्रप्रकाश वर्मा, भगवतीप्रसाद सकलानी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भारतभूषण अग्रवाल, चिरंजीलाल 'एकाकी', करुण कुमार, श्याम विहारी शुक्ल 'तरल', गिरिजाकुमार माथुर, सर्वदानन्द, राजेन्द्र, सुरेन्द्र, अर्जुन, रसिक, मोती, भ्रमर इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इनमें से एक श्री चन्दोलाजी ने अपने छोटे-छोटे गीतों में सूफी रहस्यवाद की अच्छी झलक दी है।

अन्य जूनियर कवि भी अपेक्षाकृत नववयस्क होने पर भी ओसों की तरह प्रिय उज्ज्वल व्यक्तित्व लिये हुए झलक रहे हैं।

इस समय नवागत जूनियर कवियों की काव्यस्थिति यह है कि कुछ तो केवल सवजेक्टिव लीरिक कवि हैं और कुछ बच्चन की तरह 'आकुल अन्तर' और 'विकल विश्व' दोनों को देख रहे हैं। किन्तु नये कवि मुख्यत: प्रगतिशील ही होते जा रहे हैं।

[२]

पिछले महायुद्ध (सन् १९१४-१८) के बाद से हमारे साहित्य में छायावाद का विकास होता है। सच तो यह है कि रण-परिश्रान्त विश्व ने युद्ध के बाद छायावाद में ही विश्राम लिया। जिस साम्राज्यवादी वस्तुजगत् के अभावों से हम पीड़ित थे उसी के भावजगत् में हमने अपने को भुलाने का प्रयत्न किया था। फिर भी उस विस्मृति से शान्ति नहीं मिली, क्योंकि छायावाद की आध्यात्मिकता में उन रईसों की-सी आस्तिकता थी जिन्होंने जीवन की निधियों को अपने में ही केन्द्रित कर लिया था, कितनों को रिक्त कर।

साधारण जनता तो चिरदुखिया है ही, फलतः वह अपने रिक्त अभावों को राजनीतिक क्रान्ति से भराव देने को उत्सुक है। हम उसे दोष नहीं देंगे, उसके भूखे-प्यासे जीवन को भक्ति में नहीं भुलायेंगे। सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि ने जो निष्कलुष भक्ति हमारे जीवन को दी है, हम चाहते हैं कि सम्पन्न वर्ग उसे सचाई से अपनावे, जनता तो उसे सचाई से अपनाये हुए है ही, उसी के कारण आज भी भक्ति-साहित्य अमृत बना हुआ है। वास्तविकता तो यह है कि अपने अभावों में जनता अशान्त है और अपनी पाशविक लिप्साओं में सम्पन्न वर्ग लोभाक्रान्त। सम्पन्न वर्ग जीवन के प्रति दुहरी प्रवञ्चना कर रहा है—एक ओर शोषण द्वारा जनता को, दूसरी ओर मिथ्या भक्ति द्वारा अपनी आत्मा को ठग रहा है।

महायुद्ध की विभीषिका से विरक्ति होने पर विश्व को स्थूल पार्थिवता से उपराम हो गया था, उपचार के लिए वह सूक्ष्म आत्म-चेतनाओं या आन्तरिक भूख-प्यास की ओर उन्मुख हुआ था। तदनुरूप साहित्य ही उस समय से सन् '२० के बाद तक फलता-फूलता गया, बीच में ही मुरझा नहीं गया। विज्ञान की विकरालता ने काव्य का अनुराग जगा दिया था। छायावाद विषम लौकिक परिस्थितियों में एक मानसिक उपचार बना, संघर्षपूर्ण गृहस्थी में आस्तिकता की भाँति। ऐसे ही समय में मानो छायावाद के व्यावहारिक वेदान्त के रूप में गान्धीवाद का भी प्रसार हुआ।

यहाँ तक संसार मध्ययुग के उन्हीं विश्वासों में चल रहा था जिनके अनुसार संसार का दुःख दूर करनेवाला एकमात्र शक्तिमान् परमात्मा है, मनुष्य स्वयं असमर्थ है। इस असमर्थ मानव-समाज को भक्ति एवं अध्यात्म की बातें और भी अच्छी लगने लगीं। यह एक आश्चर्य की बात है कि युद्ध एवं विध्वंस की योजना बनाने में मनुष्य अपने को पूर्ण समर्थ पाता है, किन्तु अपने ही द्वारा उत्पन्न किये हुए दुःख का परिहार करने में वह असमर्थ हो जाता है और इसका सब भार ईश्वर पर छोड़ देता है। यह आस्तिकता की ओट में वास्तविकता की ओर से आँख चुराना है। जो आँख नहीं चुराना चाहते, वे निर्लज्जता-पूर्वक वास्तविकता को पाशविक बनाकर उपस्थित करते हैं। पीड़ित वर्ग को इन दोनों ही घातक मनोवृत्तियों से सजग होकर प्रगतिशील होना है।

असलियत तो यह है कि जिनके कारण युद्ध-विग्रह होते हैं वे स्वयं वास्तविकता का बोध नहीं होने देते, क्योंकि इस बोधोदय से उनका प्रभुत्व अन्धकार की भाँति तिरोहित हो सकता है। हम देखते हैं कि भक्ति एवं अध्यात्म की बातें करके भी संसार का दुःख दूर नहीं हुआ और आज विगत महायुद्ध से भी विकराल महायुद्ध चल रहा है, शत शत ज्वालामुखियों के विस्फोट से आकाश-पाताल दहल रहा है। युगों की इन विभीषिकाओं का अन्त कहाँ है?

मनुष्य की व्यक्तिगत आत्मशुद्धि के लिए परमात्मा का ध्यान मङ्गलदायक हो सकता है, किन्तु सामूहिक प्रश्न को तो वह मानव-

समुदाय ही हल कर सकता है जिसने समाज की सामूहिक रचना की है। जरूरत तो यह है कि हम भगवद्भक्ति बनाये रखे, साथ ही विषम परिस्थितियों के बुनियादी कारणों की ओर भी ध्यान दे। इसके विपरीत हमने साहित्य के भावजगत् में अपने को उसी प्रकार भुला दिया जिस प्रकार कठिनाइयों से भयभीत होकर साधारणजन अपने को मादकता में विस्मृत कर देते हैं अथवा जीवन के असह्य हो जाने पर आत्महत्या कर लेते हैं। अब तक भावजगत् में हम आत्मविस्मृत भले ही रहे हों, किन्तु अब हमें आत्महत्या नहीं करनी है।

तो, द्विवेदी-युग का साहित्य छायावाद और गान्धीवाद तक बेखटके बढ़ आया, क्योंकि इससे उसकी मध्यकालीन परम्पराओं को नवीन प्रेरणा मिलती थी, ठेस नहीं लगती थी। किन्तु इसके बाद हमारे देश का ध्यान भी उन बुनियादी प्रश्नों की ओर जाने लगा है, जिनकी उद्भावना उन मनुष्यों द्वारा हुई थी जिन्होंने बाह्य विषम परिस्थितियों का निदान परमात्मा पर न छोड़कर अपनी ही विवेकात्मा से ढूँढ़ा था। धर्म के बजाय उन्होंने अर्थ को साधन बनाया। पहिले हम निरे भावुक थे, अब हम बौद्धिक दृष्टिकोण से परिचित होने लगे। सम्पन्नवर्गीय राजनीति धर्म को नहीं, अर्थ को लेकर चली आ रही है। धर्म की ओट में हम राजनीतिक अर्थ-चक्र को भूले हुए थे और पुनः पुनः विफलमनोरथ होने पर और भी धर्मकातर होते जाते थे। आज हम जानते हैं कि यदि

संसार से ऊबकर हम गिरि-कन्दरा में भी चले जायँ तो वहाँ भी कन्द-मूल बिना पैसे के सुलभ नहीं होंगे, व्यावसायिक सभ्यता ने वन-वीथियों को भी अपने नियन्त्रण में ले लिया है। जिस राष्ट्र के पास सबसे अधिक धन है आज वही आर्थिक संसार का शासक है। इस प्रकार हमारे जटाजूट और चोटियाँ अन्तर्राष्ट्रीय राज-नीति की शाखाओं से बँधी हुई हैं। जो केवल हवा-पानी पीकर जीने के अभ्यासी (योगी) हैं, वे भी सुरक्षित नहीं हैं, वायुयान और जलयान अपने आग्नेयास्त्रों से कोसों की दूरी से भी उनकी शान्ति को भङ्ग करने को प्रस्तुत हैं।

हम भरतखण्ड की आध्यात्मिक प्रजा हैं, राजनीति हमारा ध्येय नहीं। हम जानते हैं कि आत्मा का स्वास्थ्य परमात्मा से ही मिल सकता है—

'मीरा की तब पीर मिटेगी बैद सँवलिया होय।'

साथ ही हम यह भी नहीं भूलेंगे कि शारीरिक स्वास्थ्य (सामा-जिक जीवन) हमें समाज-विज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है। विषस्य विषमौषधम् के अनुसार आज के राजनीति-पीड़ित सामाजिक जीवन का स्वास्थ्य समाजवाद के अर्थोपचार में है। फलतः हमारे जीवन और साहित्य का स्वर एक नई दुनिया में बोलने लगा है।

[४]

अन्यत्र एक लेख में संकेत किया जा चुका है कि विदेशी सभ्यता के सम्पर्क से हमारे भावप्रधान जीवन में एक रियलिज्म

का भी प्रवेश होने लगा। यह रियलिज्म भारतेन्दु-युग के गद्य में अपने प्रारम्भिक रूप में प्रकट हुआ, सामाजिक और राष्ट्रीय त्रुटियों के सामयिक निदर्शन में। जीवन का यह रियलिज्म गद्य-प्रधान था, अतएव कविता में भी गद्य होकर आया। उधर हमारा पुरातन भावप्रधान जीवन वास्तविकता के सम्पर्क में भी जीवित रहा। आधुनिक काल में उसने किसी नये संसार के भावजगत् को नहीं, बल्कि पुरातन भावजगत् को ही नई अभिव्यक्ति और नई कल्पनाशीलता दे दी। काव्य में इसे ही हम रोमैंटिक क्लासिसिज्म या क्लासिकल रोमांटिसिज्म कहते हैं। वही भाव-जगत् अपना विकास करते हुए छायावाद की कविता में परिणत हो गया। उधर भारतेन्दु-युग से हमारे जीवन में जिस रियलिज्म ने प्रवेश किया था उसका भी देश-काल के साथ विकास होता गया और आज वह सोशलिज्म के रूप में है।

भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग में 'वाद' नहीं, विवाद था—भाषा-सम्बन्धी। वह विवाद अपने समय का विशुद्ध साहित्यिक प्रसङ्ग था। आज की तरह राजनीति का स्पर्श उसमें नहीं हो पाया था, क्योंकि वर्तमान राजनीति तब इतने स्पष्ट रूप में हमारे सामने नहीं आ पाई थी। किन्तु राजनीति भारतेन्दु-युग से ही हिन्दी-उर्दू के विवाद के रूप में राष्ट्रीय वैषम्य को अंकुरित कर रही थी, वह उसी समय से साहित्य में भी भाषा के नाम पर घरेलू फूट डाल रही थी। और आज स्पष्ट रूप से हिन्दी-हिन्दुस्तानी के

नाम पर वह भाषा-सम्बन्धी विवाद एक राजनीतिक उन्माद बन गया है। वह घरेन्दू फूट इस प्रकार फूटेगी, उस समय के राजनीतिक कुहरे में इसका किसी को ध्यान नहीं था। फूट की विशेषता ही यह है कि अन्धकार जितना ही घनीभूत रहता है उतना ही वह लुकी-छिपी रहती है और जागृति का प्रकाश जितना ही फैलता जाता है उसका भक्षण करने के दुस्साहस में उतना ही वह भी फैलती-फूलती है। आखिर कब तक ?

उस समय देश की राजनीति लिबरलों के हाथ में थी, अतएव उसे बाहर फूट पड़ने की जल्दी नहीं थी। द्विवेदी-युग तक लिबरल राजनीति का प्राधान्य था। द्विवेदी-युग स्वयं भी लिबरल था। किन्तु उसने बजाय राजनीतिक दृष्टि से भाषा-सम्बन्धी विवाद छेड़ने के, साहित्यिक दृष्टि से अपनी भाषा का निर्माण कर लेने का यत्न किया। उसने भाषा का व्याकरण बनाया। हाँ, वह राजनीति की ओर भी उन्मुख था। राजनीति में वह गान्धी की गति के साथ चल रहा था, इसी लिए अन्त में द्विवेदी-युग के साहित्य ने गान्धीवाद में ही अपनी परिणति ले ली।

भारतेन्दु-युग भी लिबरल था, किन्तु एक विवश लिबरल। उसकी सामयिक प्रवृत्तियाँ अपने समय से आगे थीं, किन्तु वे देश-काल की बन्दिशों से बन्दी थीं। मध्ययुग का रईसी बानक दूर फेंक कर यदि भारतेन्दु केवल आत्मबल से उठ खड़े होते तो हम स्पष्टतः उन्हें उसी समय साहित्यिक 'तिलक' के रूप में पाते।

अस्तु।

भाषा-सम्बन्धी विवादों के बाद हमारे साहित्य में कला और जीवन-सम्बन्धी 'वाद' आये। द्विवेदी-युग के बाद हम साहित्यिक 'वादों' से परिचित होते गये। हमारे साहित्य में ज्यों ज्यों मध्ययुग का प्रभाव कम होता गया, त्यों त्यों अनेक 'वाद' (जीवन की दिशाएँ) फैलते गये। 'वाद' हमारे जीवन में पहिले भी थे किन्तु वे विविध आध्यात्मिक चिन्तनों (मतों) के रूप में थे। आज वे सभी 'वाद' सारभूत होकर छायावाद और गान्धीवाद का नाम-रूप पा गये हैं। इनके अतिरिक्त, नये 'वाद' पश्चिम के साथ हमारे भौतिक सम्पर्क के परिचायक हैं। वे हमारे पिछले युगों के लिए कसौटी होकर आये हैं, जैसे आदर्शवाद के लिये यथार्थवाद। हमारे विगत युगों के सारवाही प्रतिनिधि छायावाद और गान्धीवाद हैं, अतएव नये 'वाद' मानो इन्ही के समीक्षक है।

जैसा कि ऊपर कहा है, सोशलिज्म रियलिज्म का आधुनिकतम विकास है। वही हमारे देश में गान्धीवाद के साथ एक विवाद बन गया है।

आधुनिक काल के प्रारम्भ में रियलिज्म ने गद्य पर अपना प्रभाव छोड़ा था, अब अपने इस विकास-काल में वह काव्य पर भी प्रभाव छोड़ रहा है। किन्तु जीवन क्या गद्य-प्रधान ही हो जायगा? काव्य क्या केवल स्वप्न हो जायगा?

[५]

द्विवेदी-युग तक आकर मध्ययुग ने खड़ीबोली (आधुनिकता) का व्यक्तित्व ग्रहण किया था। उस मध्ययुग का दैनिक जीवन नई सदी के परिचय में तो आ गया था, किन्तु उसका मानसिक संसार अपने क्लासिकल व्यक्तित्व में ही केन्द्रीभूत था। छायावाद ने उसे ज़रा रोमैंटिक बना दिया।

द्विवेदी-युग के बाद वर्तमान छायावाद का उत्कर्ष ही उस मध्य के स्वप्निल जीवन का पूर्ण विकास है। द्विवेदी-युग ने मध्ययुग को नया दिन दिया था, छायावाद ने नई रात दे दी। इस प्रकार मध्ययुग के रात-दिन अपनी चरमावधि पर पहुँचकर अब अतीत हो रहे हैं। जिस प्रकार आधुनिक रंगमंच पर कोई मध्यकालीन रूपक नवीन छाया-प्रकाश से उद्भासित होकर यवनिका के भीतर अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार मध्ययुग का जीवन हमारे यहाँ द्विवेदी-युग और छायावाद-युग की अभिव्यक्तियों से प्रकाशित होकर अब अदृश्य हो रहा है। आज भी साहित्य में उसका जो रूप-रंग और ध्वनि शेष है, वह उसकी क्षीण स्मृति मात्र है।

छायावाद के साथ १९ वीं सदी (परिवर्द्धित मध्यकाल) का अन्त हो रहा है। इसके बाद बीसवीं सदी का प्रारम्भ अब हो रहा है, इस प्रगतिशील युग से। पृथ्वी की एक पूर्ण परिक्रमा (अब तक की सम्पूर्ण ऐतिहासिक गति-विधि) के रात्रि-दिवस समाप्तप्राय हैं और अब नई परिक्रमा के रात्रि-दिवस प्रारम्भ हो रहे

है। राजनीति की भाषा में कहा जा सकता है कि छायावाद के बाद अब समाजवाद का युग आ रहा है। कालान्तर से इस नये युग का भी दैनिक और स्वप्निल जीवन बनेगा ही।

भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में आधुनिक काल का प्रारम्भिक रियलिज्म तो आ गया था, किन्तु ऊपर के संकेतानुसार उसका काव्यात्मक आइडियलिज्म मध्यकाल (भक्तिकाल) का था। वह जीवन की वास्तविकता (रियलिज्म) के समाधान में भी पुरानी समाज-व्यवस्था को ही सामयिक सुधारों से संरक्षित कर रहा था। किन्तु सोशलिस्टिक रियलिज्म ने क्रान्ति (आमूल-परिवर्त्तन) को ही अपना लोकसाधन बनाया है। क्रान्ति अभी अपने जागरण-काल (प्रारम्भिक रूप) में है। आज का क्रान्तिमुख साहित्य अब तक के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी दिशाओं में वैज्ञानिक दृष्टिकोण जाग्रत् कर रहा है; यों कहें, पूँजीवादी आडम्बर को हटाकर हमारे जीवन और साहित्य को स्पष्ट रूप में उपस्थित कर रहा है। सूर, तुलसी, मीरा, तथा गोखले, तिलक, गान्धी और रवीन्द्र के बजाय हमारे साहित्य में डार्विन, फ्रायड और मार्क्स आ रहे हैं। पिछले संसार की भाँति जब इस नवीन वैज्ञानिक जगत् में भी कला के प्रतिनिधियों का उदय होगा, तब इस वैज्ञानिक विश्व में भी काव्य का रस-सञ्चार होगा। मध्ययुग के भक्तिकाव्य के बाद जैसे छायावाद रोमैन्टिक होकर आया, वैसे ही समाजवाद में आज का छायावाद फिर नवीन रोमान्टिसिज्म ग्रहण करेगा।

मानसिक विकास की सतह के अनुसार, सदा की भाँति, इसके ग्राम्य और नागरिक रूप भी बना रहेगा। हम समझें कि जीवन और साहित्य में हम मर नहीं रहे हैं, बल्कि पुनर्विकास ग्रहण कर रहे हैं।

हाँ, क्रान्तिमुख (प्रगतिशील) साहित्य अभी वास्तविकता-प्रधान है, वह अभी आइडियलिज्म को नहीं चाह सका है। उसे अभी भावी युग के आइडियलिज्म को समझना-परखना है। पहिले कहा जा चुका है कि प्रगतिशील साहित्य में पन्तजी ही कुछ-कुछ आइडियलिज्म का भी आभास देते हैं। भविष्य के चित्र-फलक पर वे एक नूतन मनोहर सुसंस्कृत समाज का स्वप्न आँक रहे हैं। 'ज्योत्स्ना' में उस स्वप्न की एक झलक है।

हमारे क्रान्तिमुख साहित्य का अभी आरम्भ-काल है। समाज में जब यह एक मूर्त्त रूप पा जायगा, तब भविष्य के वैज्ञानिक जगत् में भी एक नवीन रोमान्टिसिज्म प्रकट होगा। अभी तो यह युग राजनीतिक संक्रान्ति का है। फलतः हमारा प्रगतिशील साहित्य गद्य-प्रधान है, काव्य में भी वह गद्य होकर आया है। वास्तविकता की ओर उन्मुख साहित्य गद्य-प्रधान होता ही है। इस गद्य-युग में भी छायावाद और गान्धीवाद का अस्तित्व है, रेगिस्तान में ओसिस की तरह। युग पहिले गद्य बनाता है फिर काव्य और जब तक नया काव्य नहीं बनता, तब तक समाज के भावप्रवण प्राणी पिछले काव्य से ही अपनी रसतृष्णा शान्त

है। राजनीति की भाषा में कहा जा सकता है कि छायावाद के बाद अब समाजवाद का युग आ रहा है। कालान्तर से इस नये युग का भी दैनिक और स्वप्निल जीवन बनेगा ही।

भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में आधुनिक काल का प्रारम्भिक रियलिज्म तो आ गया था, किन्तु ऊपर के संकेतानुसार उसका काव्यात्मक आइडियलिज्म मध्यकाल (भक्तिकाल) का था। वह जीवन की वास्तविकता (रियलिज्म) के समाधान में भी पुरानी समाज-व्यवस्था को ही सामयिक सुधारों से संरक्षित कर रहा था। किन्तु सोशलिस्टिक रियलिज्म ने क्रान्ति (आमूल-परिवर्त्तन) को ही अपना लोकसाधन बनाया है। क्रान्ति अभी अपने जागरण-काल (प्रारम्भिक रूप) में है। आज का क्रान्तिमुख साहित्य अब तक के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी दिशाओं में वैज्ञानिक दृष्टिकोण जाग्रत् कर रहा है; यों कहें, पूँजीवादी आडम्बर को हटाकर हमारे जीवन और साहित्य को स्पष्ट रूप में उपस्थित कर रहा है। सूर, तुलसी, मीरा, तथा गोखले, तिलक, गान्धी और रवीन्द्र के बजाय हमारे साहित्य में डार्विन, फ्रायड और मार्क्स आ रहे हैं। पिछले संसार की भाँति जब इस नवीन वैज्ञानिक जगत् में भी कला के प्रतिनिधियों का उदय होगा, तब इस वैज्ञानिक विश्व में भी काव्य का रस-सञ्चार होगा। मध्ययुग के भक्तिकाव्य के बाद जैसे छायावाद रोमैन्टिक होकर आया, वैसे ही समाजवाद में आज का छायावाद फिर नवीन रोमान्टिसिज्म ग्रहण करेगा।

मानसिक विकास की सतह के अनुसार, सदा की भाँति, इसका ग्राम्य और नागरिक रूप भी बना रहेगा। हम समझें कि जीवन और साहित्य में हम मर नहीं रहे हैं, बल्कि पुनर्विकास ग्रहण कर रहे हैं।

हाँ, क्रान्तिमुख (प्रगतिशील) साहित्य अभी वास्तविकता-प्रधान है, वह अभी आइडियलिज्म को नहीं चाह सका है। उसे अभी भावी युग के आइडियलिज्म को समझना-परखना है। पहिले कहा जा चुका है कि प्रगतिशील साहित्य में पन्तजी ही कुछ-कुछ आइडियलिज्म का भी आभास देते हैं। भविष्य के चित्र-फलक पर वे एक नूतन मनोहर सुसंस्कृत समाज का स्वप्न आँक रहे हैं। 'ज्योत्स्ना' में उस स्वप्न की एक झलक है।

हमारे क्रान्तिमुख साहित्य का अभी आरम्भ-काल है। समाज में जब यह एक मूर्त रूप पा जायगा, तब भविष्य के वैज्ञानिक जगत् में भी एक नवीन रोमान्टिसिज्म प्रकट होगा। अभी तो यह युग राजनीतिक संक्रान्ति का है। फलतः हमारा प्रगति-शील साहित्य गद्य-प्रधान है, काव्य में भी वह गद्य होकर आया है। वास्तविकता की ओर उन्मुख साहित्य गद्य-प्रधान होता ही है। इस गद्य-युग में भी छायावाद और गान्धीवाद का अस्तित्व है, रेगिस्तान में ओसिस की तरह। युग पहिले गद्य बनाता है फिर काव्य और जब तक नया काव्य नहीं बनता, तब तक समाज के भावप्रवण प्राणी पिछले काव्य से ही अपनी रसतृष्णा शान्त

करते हैं—चाहे वह निर्मल निर्झर हो, चाहे पंकिल सरोवर। भविष्य के वैज्ञानिक समाज में भी जीवन के भीतर कवित्व का स्थान मिलेगा। आज छायावाद और गान्धीवाद जीवन के अग्निपथ में कोमल वनस्पतियों की तरह झुलसते हुए भी वैज्ञानिक मस्तिष्कों को हृदय की हरीतिमा का निमन्त्रण दिये जा रहे हैं।

सन्' १४-१७ के महायुद्ध के बाद संसार में शान्ति और क्रान्ति दोनों ही आई थीं। शान्ति किसी नवीन राजनीतिक परिवर्तन के रूप में नहीं, बल्कि रण-परिश्रान्त विश्व की क्षणिक विश्रान्ति में। किन्तु क्रान्ति एक नवीन राजनीतिक परिवर्त्तन की ओर अग्रसर हुई थी। यों कहें, एक ओर पुराने राजनीतिज्ञ अपनी थकान मिटा रहे थे, दूसरी ओर सदियों का शोषित वर्ग आत्मोद्धार के लिए सजग हो गया था।

आज फिर महायुद्ध चल रहा है, विगत महायुद्ध का क्षणिक विश्राम नूतन भैरव-गर्जन से भङ्ग हो गया है। पुराने राजनीतिज्ञों के नये वंशजों ने ही उन्हें इस प्रकार आक्रान्त कर रखा है जिस प्रकार किसी वृद्ध सम्पत्तिशाली को उसका उद्धत उत्तराधिकारी। इस महायुद्ध को भी क्रान्ति बड़ी सजगता से देख रही है और अपना मार्ग ढूँढ़ रही है।

छायावाद में सन्' १४ के महायुद्ध के बाद की शान्ति है, समाजवाद में उस महायुद्ध के नेपथ्य में अवतीर्ण क्रान्ति। किन्तु क्या

प्रगतिशील साहित्य 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' ही रह जायगा? अरे, जड़-जगत् भी पत्रों-पुष्पों में अपना भाव-विकास करता है, फिर मनुष्य तो जड़ नहीं, चेतन है; चाहे वह किसी भी युग में हो। 'नटनागर कवि की कल्याणी' कविता युग-युग चिरञ्जीव रहेगी।

—:o:—

कथा-साहित्य का जीवन-पृष्ठ

[१]

हमारे पुराकालीन जीवन में व्यक्ति के मनोविकास के क्रम ये हैं---जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। ये मनुष्य की आध्यात्मिक अवस्थाएँ हैं। हमारे यहाँ व्यक्ति-पूजा इसी विकास की परम कोटि की सूचक है। यहाँ मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं, विकासशील जीव है। व्यक्ति-पूजा जीव के जीवन-विकास की पूजा है। किन्तु यह आध्यात्मिक पूजा जब केवल रूढ़ि-मात्र रह गई, मन्दिर की मूर्त्ति की भाँति ही जड़ हो गई एवं व्यक्ति-पूजा के रूप में व्यक्तिगत प्रभुत्ववाद को हम मस्तक झुकाने लगे, तब हमारे जीवन का दृष्टिकोण बदल गया; हम जड़वस्तुओं के मूल्य पर जीवन को आँकने लगे। इसी लिए राजा जो कभी अपनी साधनाओं में ईश्वर का प्रतिनिधि था, वह रह गया केवल शासक मात्र। फलतः जहाँ पहले आत्मवाद था वहाँ व्यक्ति-पूजा व्यक्तिवाद में, व्यक्तिवाद सम्पत्तिवाद (साम्राज्यवाद) में बदल गया। समग्र जीवन अर्थतान्त्रिक हो गया। इस भौतिक जीवन ने अपने दैनिक संघर्षों के भीतर से अपना भी विकास-क्रम प्रारम्भ किया। और आज की राजनीतिक अभिव्यक्ति की भाषा में उसके विकास की ये अवस्थाएँ हैं---जागरण, सुधार और क्रान्ति। इनके पूर्व की

अवस्था को हम सुषुप्ति कह लें, यह वह अवस्था है जहाँ आध्यात्मिक जीवन रूढ़ियों में विकृत प्रतीक रह गया है।

हमारा पूर्वकालीन साहित्य आध्यात्मिक विकास का साहित्य है। ऐतिहासिक संघर्षों में भी वह साहित्य सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि भक्तों के अमृतकण्ठों से निःसृत होता रहा, किन्तु रीतिकाल तक आते-आते मानों उस पूर्वकालीन साहित्य के लिए वातावरण ही नहीं रह गया था। रीतिकाल उस भौतिक जीवन के ऐश्वर्य का चटकीला रूप है जो आध्यात्मिक जीवन को रूढ़ियों में निबाह रहा था। जैसे एक ओर आध्यात्मिक जीवन रूढ़िग्रस्त हो गया वैसे दूसरी ओर रीतिकाल तक पहुँचकर भौतिक जीवन भी कोढ़ग्रस्त हो गया। और जब तक व्यक्तिवाद और साम्राज्यवाद के परिणाम-स्वरूप हमारे दैनिक जीवन में दुर्गन्ध नहीं आने लगी तब तक हम आध्यात्मिक रूढ़ियों की भाँति ही भौतिक रूढ़ियों (सामाजिक रुग्णताओं) से भी चिपटे हुए थे। इसके बाद जब से हमारी आँखे खुली हैं तभी से हमारे जीवन और साहित्य का जागरण-काल प्रारम्भ होता है। हमारे जीवन पर आध्यात्मिक और भौतिक रूढ़ियों के जो छद्मावरण पड़े हुए थे उन्हें हटाकर मानो हम समाज-रचना के मूल कारणों के परिचय में आने लगे। यहाँ यह स्वीकार कर लेना होगा कि यह जागृति समुद्र पार के संसार से आई। एक दिन जिस प्रकार मध्ययुग का अभारतीय समाज हमारे यहाँ अपना भौतिक जीवन लेकर आया था, उसी प्रकार आधुनिक

युग का अभारतीय समाज उस जीवन के परिणाम भी ले आया—पराधीनता, दरिद्रता, बेकारी और शोषण। इन परिणामों को देखने-समझने की सुमति हममें ज़रा देर से आई, जब दूसरे देश जगकर नये पथ पर अग्रसर हो चुके, तब उनकी देखा-देखी हम भी जगकर उठ बैठे। आध्यात्मिक जीवन में हम संसार में सबसे पहले जगे थे, किन्तु भौतिक जीवन में बहुत बाद जगे; कारण, हमारा जीवन बाहर के जीवन की प्रेरणा मात्र रह गया था।

[२]

रीतिकाल के बाद प्रारम्भिक आधुनिक काल हमारा जागरण-काल है। हमारे साहित्य में यह है भारतेन्दु-युग। भारतेन्दु-युग यद्यपि जागरण-काल है तथापि वह जागरण मध्ययुग को पार कर आते हुए आधुनिक युग के शिशुदृगों का जागरण है। हमारे जीवन में जितना ही घटाटोप अन्धकार था उतना ही इस जागरण-काल की अवधि विस्तृत होती गई है, अधिकाधिक प्रकाश पाने के लिए। यहाँ तक कि हम आज भी जागरण-काल में हैं। जब हम सामाजिक और राजनीतिक वास्तविकताओं से पूर्ण अवगत हो जायँगे तब हमारी जागृति भी पूर्ण हो जायगी, हमारे दृगों में जागृति की प्रौढ़ता आ जायगी।

प्रारम्भिक जागरण में हमने अपने सामने पिछले युगों का ही संसार पाया था, किसी नये युग का नया संसार नहीं। फलतः पिछले युगों की जो त्रुटियाँ हमें उन्नति में बाधक जान पड़ीं, हमने

उन्हें ही दूर करने की आवाज़ उठाई। एक शब्द में हम सुधार की ओर बढ़े। हमारे जीवन में जागृति और सुधार, ये दोनों प्रयत्न साथ-साथ चले। हाँ, शुरू में सुधार की गति मन्द और संकुचित थी, किन्तु ज्यों-ज्यों हममें जागृति तीव्र होती गई, त्यों-त्यों सुधार की ओर हमारे प्रयत्न भी अधिकाधिक क्रियाशील होते गये। हमारे साहित्य में भारतेन्दु और द्विवेदी-युग से लेकर गांधी-युग तक जागृति और सुधार का यह प्रयत्न चला। अन्तर यह कि शुरू में जो जागृति और सुधार एकजातीय सामाजिक घेरे में था, वह गांधी-युग में अखिल भारतीय जीवन में विशाल हो गया। यहीं आकर हमने यह भी देखा कि हमारे सामाजिक सुधार भी राजनीतिक सूत्र में साम्प्रदायिक हो गये हैं। पहले इस वास्तविकता से अनजान रहकर ही हम सुधार के क्षेत्र में प्रयत्नशील थे और एक तमस-मूढ़ सामाजिक प्रतिद्वन्द्विता में लगे हुए थे। हमारे सामने हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन, ईसाई और पारसी थे; भारतवर्ष नहीं। निःसन्देह गांधी-युग ने ही हमारे सामाजिक प्रश्नों को अखिल देश के जीवन-मरण के रूप में उपस्थित किया। उसी ने हमें अपनी समग्रता का बोध दिया। गांधी-युग में हम पूर्ण स्वाधीनता की माँग तक पहुँचे। किन्तु जिस प्रकार गांधी-युग के पूर्व के सुधारक-युगों में हम एक अविकच सार्वजनिक स्थिति में थे, उसी प्रकार आज हम गांधी-युग के आगे के युग (प्रगतिशील युग) की शिशु-स्थिति में भी आ गये हैं। आज

हम सुधारों की सीमा पार कर क्रान्ति की ओर भी जाने के लिए अधीर हैं।

यहीं रुककर जरा हम अपने साहित्य की भी गति-विधि देख लें। कहा जा चुका है कि जब हम जगे तो पिछले युगों का संसार ही हमारे सामने था; प्रगतिशील युग का प्रगतिशील संसार नहीं। अतएव उत्तराधिकार में हमें पिछले संसार की ही सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियाँ प्राप्त थीं।

*　　　*　　　*

रामायण, महाभारत और भक्ति के भजन हमारे पूर्वकालीन आध्यात्मिक जीवन के साहित्यिक चिह्न हैं। ज्यों ज्यों परवर्त्ती जीवन का प्रसार होता गया, त्यों त्यों इस प्रकार के साहित्य का ह्रास होता गया। हम देख सकते हैं कि रीतिकाल परवर्त्ती जीवन का चरम उत्थान है और वही उसका पतन भी। वह सन्ध्यास्त सूर्य का अन्तिम उत्थान-पतन है। परवर्त्ती जीवन के पतन में ही आधुनिक जीवन का प्रारम्भ होता है। रीतिकाल तक हम जीवन की वास्तविकताओं को व्यावहारिक जीवन में ही झेलते आ रहे थे, किन्तु विश्राम हम पूर्वकालीन जीवन से प्रेरित भाव-काव्य में ही ग्रहण करते रहे। अवाञ्छित वातावरण में रीतिकाल का काव्य पूर्वकालीन जीवन के अनुरूप स्वच्छ नहीं रह सका। आधुनिक काल के प्रारम्भ में जब हम अपने जीवन की कुरूपताओं की पहचान में आने लगे तब भी हमारे मानसिक विश्राम का

केन्द्र-बिन्दु रीतिकालीन भाव-प्रवणता ही थी। भक्ति-साहित्य हमारा भजन-पूजन बना हुआ था, शृङ्गार-साहित्य हमारा मनो-विनोदन। हम नये शासन के आघातों से बरबस जग तो रहे थे किन्तु हमारा आन्तरिक झुकाव मध्यकाल के जीवन और साहित्य की ओर ही था। वह हमारा सदियों का संस्कार था। समय के अनुसार हमारा बाह्य वेश-विन्यास बदलता गया, किन्तु हमारा मूल-संस्कार आज तक निर्मूल नहीं हुआ है। व्यावहारिक जीवन में हम ऐतिहासिक वास्तविकताओं को झेलते चले जा रहे हैं किन्तु मानसिक जीवन में हम आज भी मध्यकाल के रोमान्टिसिज्म में हैं। आज अभाव-जगत् में हम विंश शताब्दी में हैं, किन्तु भाव-जगत् में मध्यकाल में।

लेकिन आधुनिक काल ने भी हमें कुछ दिया है, वह है गद्य-साहित्य, जिसका विकास है कथा-साहित्य। पिछले युगों में हम वास्तविकताओं को झेलते थे और भावों का उपभोग करते थे। और आज, हम पिछले जीवन से सञ्चालित भावों का काव्य में उपभोग तो करते हैं, किन्तु साथ ही कथा-साहित्य में जीवन की वास्तविकताओं का सुख-दुःख भी देने लगे हैं, दैनिक जीवन को भी प्रकाशित करने लगे हैं; यद्यपि आज के कथा-साहित्य में भी प्रधानता काव्य के विगत रोमांटिसिज्म को ही मिली है। पिछले युगों में काव्य ने कथा में, कथा ने काव्य में जैसा स्थान बना रखा था, वह स्थान आज भी सर्वथा रिक्त नहीं हुआ है। यह नहीं कि

काव्य में वास्तविक जीवन ने प्रवेश नहीं किया। शुरू से ही हमारे भावों और विचारों के प्रकाशन का साहित्यिक साधन काव्य रहा है, अतएव जब हम सार्वजनिक रूप से वास्तविक जीवन को भी सामने रखने के लिए बाध्य हुए तो उसने काव्य में भी प्रवेश किया ही। राष्ट्रीय और प्रगतिशील कविताएँ इसी के विकास हैं। हाँ प्रारम्भ में वास्तविक जीवन अपने अनुरूप गद्य बनकर ही आया और उस गद्य का कलात्मक विकास हुआ कहानियों, उपन्यासों और नाटकों के रूप में।

यह नहीं कि आज के विकसित कथा-साहित्य के पूर्व गद्य मे अन्य कोई कथा-साहित्य आया ही नहीं। कविता और कहानी तो इस पृथ्वी पर हमारे जन्म के साथ ही उत्पन्न हुई हैं। हाँ, जीवन की विविध सतह के अनुरूप उनके व्यक्तित्व में अन्तर पड़ता गया है। दन्तकथाओं और लोकगीतों में हमारी कहानी और कविता का अत्यन्त भोला-भाला रूप है, यह हमारी पुराकालीन अबोध जनता का साहित्य है। इसके आगे काव्य और कथा में अध्यात्म और नीति का रूपक उस युग के साधकों का साहित्य है। उस पौराणिक काल के परे इतिहास-काल का काव्य और कथा, आध्यात्मिक जीवन के बाद के परवर्त्ती जीवन का साहित्य है। इसके भजन, पूजन, आराधन, मनोविनोदन में ऐश्वर्यों की दीप्ति है। यहाँ तक कि प्रणय के रूपकों में भक्ति भी उत्कट रोमांस बन गई है। यह उर्दू (मुग़ल-विरासत) की मेहरबानी है।

वह रोमांस उस सम्पन्न वर्ग की उपज है जो दूसरों की अतृप्तियों में ही अपनी तृप्ति का संसार बसाता आया है। वह शोषितों के रक्तमांस से निर्मित रोमांस है। वह मांसाहारी रोमांस है। अपने अज्ञान में साधारण जनता भी उसी को हसरत की निगाह से देखती आई है।

ऐतिहासिक क्रम से जीवन के जिन डिज़ाइनों का प्रभाव हम पर पड़ता गया, हमारा साहित्य भी उसी के अनुरूप बनता गया; मूलतः हमारा जीवन और साहित्य सम्पन्न वर्ग की कला के डिज़ाइनों में रूप-रङ्ग ग्रहण करता रहा। सन्-संवत् बदलता गया किन्तु जीवन का राजकीय मानचित्र एक साम्राज्यशाही से दूसरी साम्राज्यशाही के हाथों जैसा का तैसा बना रहा। अन्तर मुग़ल चित्रकला और यूरोपियन चित्रकला का पड़ता गया।

[२]

हमारे आधुनिक कथा-साहित्य पर पहला प्रभाव उर्दू (मुस्लिम रोमांस) का पड़ा। भारतेन्दु-युग के सर्वश्री देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी उसी उर्दू रोमांस से प्रभावित उपन्यासकार थे। इनसे पूर्व भी इन्शाअल्लाहखाँ की 'रानी केतकी की कहानी' तथा साधारण जनता की 'बैताल पचीसी' और 'किस्सा तोतामैना' में वही उर्दू रसिकता चली आ रही थी। हमारे परवर्ती जीवन में उसी रोमांस का रूप-रङ्ग था। सर्वश्री सदल मिश्र, लल्लूलाल तथा मुंशी सदासुख ने धार्मिक कथाएँ भी दी थीं, बिल्वपत्र का

तरह। किन्तु भारतेन्दु-युग के उक्त कलाकारद्वय ने हमारे प्रत्यक्ष जीवन की दुर्बलता को अँगूरी मादकता दे दी। इन उपन्यासकारों ने पृथ्वी पर इन्द्रलोक बसा दिया। अभी तक हमारे मानसिक विलास के लिए रीतिकाल की कविता थी और अब सर्वसाधारण को विलास का यह औपन्यासिक उपकरण भी मिल गया। इसे पाकर यौवन का रोमांस और भी मतवाला हो गया। आगे के साहित्य को इसी मतवालेपन से जनता को उबारना था। उसका कर्त्तव्य गुरुतर था, उसे अत्यन्त मूर्छित वातावरण में चेतना का संचार करना था। उन विगत उपन्यासों का स्थान तो कला के म्यूज़ियम में ही हो सकता है, जीवन के गृह-प्रांगण में नहीं।

हमारे कथा-साहित्य पर दूसरा प्रभाव बँगला का पड़ा। एक तरह से उर्दू और बँगला का सम्मिलित प्रभाव भारतेन्दु-युग से ही पड़ने लगा था। हाँ, देवकीनन्दन खत्री केवल उर्दू से प्रभावित थे तो गोस्वामीजी बँगला से भी। उन्होंने बंकिम के एकाध उपन्यासों का अनुवाद भी किया फिर भी उनका रुख सस्ते रोमांस की ओर था।

कथा-साहित्य को उर्दू से मिली मूर्च्छना का प्रारम्भिक उपचार बँगला ने ही किया। बँगला के साहचर्य से हमारे कथा-साहित्य को जीवन का दैनिक चित्रपट भी प्राप्त होने लगा। इसके दो पार्श्व थे—एक तो अतीत-कालीन (सांस्कृतिक), दूसरा वर्तमान-कालीन (गार्हस्थिक)। स्वयं भारतेन्दुजी ने भी दोनों ही प्रकार का

कथा-साहित्य थोड़ा बहुत दिया, यद्यपि संस्कारत: रीतिकाल की रसिकता को वे जीवन में भूल नहीं सके।

बँगला का प्रभाव पहले अनुवादों के रूप में आया; भारतेन्दु-युग में कम, द्विवेदी-युग में अधिक। बँगला के निकट सम्पर्क से आधुनिक कथा-साहित्य की प्रारम्भिक रूपरेखा से परिचित हो जाने पर हमारे साहित्य में मौलिक कहानी-लेखकों का भी प्रादुर्भाव हुआ। पहले हम 'अलिफ-लैला' के देश में थे, बँगला के सम्पर्क से हम अपनी माँ-बहिनों, भाई-बन्धुओं के समाज में आये।

उर्दू और बँगला का प्रभाव केवल प्रारम्भिक प्रेरणा न रहकर हमारे कथा-साहित्य को कुछ प्रौढ़ विकास भी दे गया है। इस प्रौढ़ विकास के दो यशस्वी कलाकार हुए—प्रेमचन्द और प्रसाद। प्रेमचन्द की टकसाली भाषा उर्दू की देन है, प्रसाद की भाव-प्रवण शैली बँगला की देन।

हमारे कथा-साहित्य पर तीसरा प्रभाव अँगरेजी का पड़ा। यों कहें कि हमारे जीवन में जब अँगरेजी शासन ने अपना दृढ़ स्थान बना लिया तब हम अँगरेजी साहित्य के सम्पर्क में भी आये। और जैसा कि स्वाभाविक है अपने से भिन्न प्रभाव को प्रारम्भ में हम अनुवादों द्वारा ग्रहण करते रहे, फिर उससे परिचित हो जाने पर मौलिक रचना भी करने लगे। यही हाल अँगरेजी के प्रभाव का भी हुआ। द्विवेदी-युग तक हमारी साहित्य

की आधुनिकता इतनी अपरिपक्व थी कि उस समय तक अँगरेज़ी के प्रौढ़ विकास को ग्रहण कर लेना हमारे लिए एक कठिन भोजन था। अतएव चाय और बिस्कुट की तरह कुछ हलके अँगरेज़ी उपन्यासों के अनुवाद करने में ही हम दत्तचित्त हुए। यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि हमारी मूल औपन्यासिक रुचि 'चन्द्रकान्ता' में निहित रही है, यह एक फ़ैन्सी युग की जनता की रङ्गीन रुचि है। और जब तक जनता में परिपूर्ण जागृति (जीवन-निरीक्षण) नहीं आ जाती तब तक उसके सुषुप्त जीवन में विविध रूप-रङ्गों में इस प्रकार के औपन्यासिक स्वप्न-विलास को भी स्थान मिलता रहेगा। यद्यपि आज की जनता की रुचि खादी की स्वच्छ सादगी की ओर चली गई है, तथापि उसका मन रीतिकाल की रङ्गीनी में रँगा हुआ है। फलतः अँगरेज़ी के प्रथम सम्पर्क में भी हम उस समाज के चटकीले रोमांस और भड़कीले जासूसी उपन्यासों की ओर आकर्षित हुए, अनुवादों द्वारा।

हमारे कथा-साहित्य पर चौथा प्रभाव सामाजिक और राष्ट्रीय आन्दोलनों का पड़ा। सामाजिक आन्दोलनों में ब्रह्मसमाज ने बँगला में और आर्य्यसमाज ने हिन्दी में स्थान बनाया। जिस प्रकार हमारे यहाँ सनातनधर्म का आर्य्यसमाज के साथ द्वन्द्व चलता रहा, उसी प्रकार बङ्गाल में ब्रह्मसमाज के साथ। इस द्वन्द्व का पक्ष-विपक्ष वहाँ के कथा-साहित्य में भली भाँति देखा जा सकता है। वहाँ ब्रह्मसमाज के वरेण्य कलाकार रवीन्द्रनाथ

हैं तो सनातन समाज के अग्रगण्य कलाकार शरच्चन्द्र। किन्तु हिन्दी के कथा-साहित्य में इस प्रकार का सामाजिक संघर्ष नहीं के बराबर है। स्थायी साहित्य की दृष्टि से प्रेमचन्द के 'सेवासदन' और 'प्रतिज्ञा' जैसे एकाध उपन्यास आर्य्यसमाजी चेतना के प्रतिनिधि है। हमारे कथा-साहित्य में आर्य्यसमाज को विशेष स्थान नहीं मिला। इसके कई कारण हैं। पहला कारण यह है कि हमारा हिन्दी प्रान्त कट्टर रूढ़ियों का दुर्भेद्य दुर्ग है। अँगरेजी के प्रभाव में प्रथम आ जाने के कारण बंगाल के शिक्षित वर्ग की कट्टरता बहुत कुछ कम हो गई थी। यहाँ तक कि स्वयं शरद् बाबू भी केवल धार्मिक पृष्ठ-पोषक न रहकर आधुनिक चरित्रकार भी हुए। किन्तु हिन्दी के साहित्यिक अधिकतर अपने परम्परागत समाज में अपनी कुलीनता बनाये रखकर ही अपने से भिन्न प्रभावों को ग्रहण करते हैं; 'राम झरोखे बैठ के सब का मुजरा लेयँ।'

दूसरा कारण यह कि कलागुरु रवीन्द्रनाथ की भाँति कोई प्रभावशाली राजपुरुष आर्य्यसमाज में कलाकार होकर नहीं आया।

तीसरा कारण यह कि ब्रह्मसमाज आर्य्यसमाज से सीनियर है, अतएव सनातनसमाज और ब्रह्मसमाज को द्वन्द्व का काफी अवसर मिला। किन्तु जब सनातनसमाज और आर्य्यसमाज का द्वन्द्व अपने क्लाइमेक्स पर पहुँचने को था उसी समय सन् '१७ का यूरोपीय महायुद्ध छिड़ गया। उस महायुद्ध ने हमारा ध्यान

दूसरी ओर बँटा दिया। हम राजनीति में अधिकाधिक दिलचस्पी लेने लगे। सामाजिक आन्दोलनों के अतिरिक्त हममें राजनीतिक आन्दोलनों का भी उत्साह उमड़ने लगा।

बंग-भंग के माध्यम से स्वदेशी आन्दोलन और स्वराज्य की माँग के रूप में असहयोग-आन्दोलन, ये दोनों वर्तमान भारतीय कथा-साहित्य के विशेष उन्नायक हैं। हाँ, आर्यसमाज की भाँति स्वदेशी आन्दोलन का भी हिन्दी के कथा-साहित्य में कम स्थान है। स्वदेशी आन्दोलन बंगाल की उपज होने के कारण वह मुख्यत बँगला के कथा-साहित्य में ही अधिक प्रकट हुआ। बंग-भग के सिलसिले में ही क्रान्तिकारी पार्टी का भी जन्म हुआ। बँगला के कथा-साहित्य में उसने भी स्थान बनाया, रवि बाबू का 'घरे-बाहिरे' और शरद बाबू का 'पथेर दाबी' उसी के सूचक हैं। हिन्दी मे एकाध अनुवाद और प्रेमचन्दजी की एकाध कहानियाँ उसके चिह्न हैं। असल में हमारे कथा-साहित्य में तो समय की गति के अनुसार प्रेमचन्दजी ही बढ़ते आ रहे थे, इसी कारण उनके साहित्य में आधुनिक काल की प्रत्येक गति-विधि का किसी-न-किसी सीमा में परिचय मिलता है—आर्यसमाज, स्वदेशी आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन। इसके बाद प्रगतिशील-युग में पहुँचते-न-पहुँचते उनका देहावसान हो गया। प्रेमचन्द जिस उर्दू की प्रेरणा लेकर हिन्दी में आये थे उस हिसाब से तो उन्हें दास्तानों की ही दुनिया में होना चाहिए था, किन्तु वे परिस्थितियों के अत्यन्त निम्नवर्ग

के भीतर से साहित्य में आये थे, इसी लिए जीवन के संघर्ष में निरन्तर गतिशील रहे, समय के पदचिह्नों पर अपनी साहित्यिक छाप छोड़ते गये।

प्रेमचन्द के समय तक असहयोग-आन्दोलन ही विशद रूप में आया था। असहयोग आन्दोलन ने हमारे जीवन और साहित्य का काया-पलट कर दिया। यह एकजातीय या एकप्रान्तीय आन्दोलन न होकर समग्र राष्ट्र के जीवन-मरण का आन्दोलन था। इस अखिलभारतीय आन्दोलन में हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, जैन, पारसी, आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, सबको अभिन्न होने का अवसर मिला। इसी आन्दोलन में राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा बढ़ी और अन्य भारतीय भाषाओं के लेखक भी हिन्दी में आये।

असहयोग-आन्दोलन के विशद प्रसार में हमारे छोटे-मोटे संकुचित द्वन्द्व इतने तुच्छ हो गये कि आज हमें वे उपहासास्पद लगते है, यद्यपि आज भी वर्तमान शासन-तन्त्र हमें उन्हीं द्वन्द्वों में उलझाये रखकर हमारे संगठन एवं एकता को अपनी राजनीति (पृथक्कीकरण) से खण्ड-खण्ड कर देना चाहता है। राष्ट्र का अंग-भंग किये जाने के राजनीतिक प्रयत्नों को देखकर आज हम यह स्पष्ट रूप से जान गये हैं कि असहयोग-आन्दोलन के पूर्व के हमारे वे संकुचित द्वन्द्व वर्तमान शासन-तन्त्र की निश्चिन्तता के साधन थे। आज वह निश्चिन्तता भी चिन्तित (सचेष्ट) हो उठी है।

असहयोग-आन्दोलन ने सबसे बड़ा काम यह किया कि उसने हमारी प्रवृत्तियों की दिशा बदल दी, गान्धीवाद के द्वारा हमारे जीवन और साहित्य में एक सुरुचि आई। यह युग मुमुक्षुओं का जागरण-काल (ब्राह्ममुहूर्त) है। भारतेन्दु-युग से जो मुमूर्ष जीवन जाग्रत होता आया उसे गान्धी-युग में प्रज्ञा का प्रकाश भी मिल गया। यों कहें कि मध्ययुग के आधिभौतिक जीवन ने जब राष्ट्रीय पुनर्जन्म लिया अथवा सबजेक्टिव से आबजेक्टिव हो गया तब पुराकाल का आध्यात्मिक समष्टिवाद (गान्धीवाद) उसके जीवन का सम्बल बना।

गान्धी-युग से पूर्व हम साहित्य के भीतर से केवल कला की प्रेरणा लेते थे, अब साहित्य के भीतर से जीवन की प्रेरणा लेने लगे। पहले हम केवल ग्रन्थ खोलते थे, अब ग्रन्थि खोलने की दीक्षा लेने लगे।

असहयोग-आन्दोलन ने जैसे समाज के सभी वर्गों पर प्रभाव डाला, वैसे ही साहित्य के सभी अंगों पर भी। कथा-साहित्य में यदि प्रेमचन्द इस आन्दोलन के प्रतिनिधि हुए तो काव्य-साहित्य में मैथिलीशरण।

इस आन्दोलन द्वारा न केवल हम अपने देश से बल्कि संसार से भी परिचित हुए, फलतः हम विश्व-साहित्य की ओर भी प्रेरित हुए। जैसा कि पहले कहा है, अँग्रेजी के प्रथम सम्पर्क में हमारी अपरिपक्व रुचि हलके उपन्यासों की ओर रुजू हुई थी, किन्तु

असहयोग आन्दोलन में परिपक्व होकर वह विश्व-साहित्य की गम्भीर प्रेरणाओं की ओर अग्रसर हुई। यहीं से हमारे कथा-साहित्य पर पाँचवाँ प्रभाव विश्व-साहित्य का पड़ता है। हमारे काव्य और कथा-साहित्य पर अँगरेजी का प्रभाव तो पड़ चुका था, अब अँगरेजी के माध्यम से हम फ्रेंच, जर्मन, रशियन और इटैलियन कथा-साहित्य के सम्पर्क में भी आये। अनुवादों द्वारा हिन्दी जनता बाहर के कलाकारों से भी परिचित हुई।

इस नवीन साहित्यिक सीमा से परिचित हो जाने पर हम मौलिक रचना के प्रयत्न में भी कुछ-कुछ संलग्न हुए।

[४]

यूरोप का मध्यकाल हमारे आधुनिक काल का प्रारम्भ है। १९ वीं सदी में अँगरेजी शासन के सम्पर्क में हम वहाँ से चले जहाँ यूरोप मध्ययुग में पहुँच चुका था। यूरोप का बाल्यकाल ही हमारा प्रथम जागरण बना। उसकी प्राचीनता ही हमारी आधुनिकता बनी। जागृति के उस बाल्यकाल में हमारे साहित्य का स्वर कुछ-कुछ बदला। जीवन को पहले हम 'लाइट मूड' में लेते थे, वह 'लाइट मूड' जो सम्पन्न वर्ग के वैभव-विलास का अवकाश था। किन्तु यूरोप का सम्पन्न वर्ग अपने 'लाइट मूड' में भी वास्तविकता की उपेक्षा नहीं कर सका था, वह जीवन की ड्यूटी में एक वैज्ञानिक की तरह दृढ़ था। उसका यही जातीय स्वभाव उन सार्वजनिक चेतनाओं का कारण बना जिनके द्वारा वहाँ के जीवन और

साहित्य में अनेक 'वाद' बने, जब कि हमारे यहाँ रूढ़त: आदर्श-वाद और व्यवहारत: भोगवाद था। किन्तु पश्चिम के सम्पर्क से हमारे जीवन में भी वास्तविकता का बोधोदय हुआ। हमारा प्रारम्भिक आधुनिककाल वही बोधोदय है। इस दिशा में हमारे देश का जो प्रतिनिधि सबसे आगे बढ़ा वह उतना ही पहले नवीन अभिव्यक्तियाँ दे सका। वर्त्तमान भारतीय साहित्य का अग्रगामी प्रतिनिधि है बंगाल। न केवल हिन्दी से, बल्कि अन्य प्रान्तीय भाषाओं से बंगाल उतना ही आगे रहा, जितना बंगाल से यूरोप।

यूरोप की वैज्ञानिक चेतना के कारण वहाँ रूढ़ियों के बन्धन हमसे पहले ही टूट गये, जब कि जीवन में वास्तविक शक्ति न होने के कारण हम कर्त्तव्य-भीरु बने रहे। हमारे जीवन में आज भी जितने अंश में सामाजिक और राजनीतिक बन्धन बने हुए हैं अथवा आज की कंगाली में भी जितने अंश में हम वैभव-विलासी अक-र्मण्य है उतने अंश में आज भी हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ सामन्तकालीन बनी हुई हैं।

फिर भी, आज हम विविध साहित्यिक 'वादों' से परिचित हो चले हैं। मोटे तौर से साहित्य में दो ही 'वाद' गण्यमान्य है—आदर्शवाद और यथार्थवाद। अन्यान्य 'वाद' एक-एक जाति के अनेकानेक भेदोपभेद की भाँति हैं। मनुष्य की मानसिक और शारीरिक प्रवृत्तियों के विकास की सतह के अनुसार इन विविध 'वादों' के विविध नाम है। यथा, आइडियलिज्म का नाम कभी

रहस्यवाद (या, अभी कल तक छायावाद) था तो आज उसका नाम गांधीवाद है, रियलिज्म का नाम कभी रीतिवाद (शृङ्गार-काव्य) था तो आज उसका नाम मार्क्सवाद है। बीच में अपने-अपने विकास की सतहों में इनके और भी अनेक नाम पड़ चुके है किन्तु यहाँ हम इनके विकास की सद्यःपरिणतियों को ही आँक रहे है।

समय की माँग के अनुसार 'वादों' के आधार बदलते गये हैं, जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें देखने के दृष्टिकोण भी बदलते गये हैं। यों कहें कि 'वाद' नहीं बदले, बल्कि उनका रूपान्तर होता गया है। आदर्शवाद जीवन की आवश्यकताओं को मूलतः मानसिक दृष्टि से देखता है, यथार्थवाद शारीरिक दृष्टि से। हमारे पिछले साहित्य में आदर्शवाद का उदाहरण है भक्ति-काव्य, यथार्थवाद का उदाहरण है शृङ्गार-काव्य। आज के साहित्य में आदर्शवाद का उदाहरण है गांधीवाद, यथार्थवाद का उदाहरण है मार्क्सवाद। समय की माँग के अनुसार दोनों के आधारों में भी परिवर्त्तन हुआ है—भक्ति-काव्य भावमूलक था, गांधीवाद कर्ममूलक है; रीतिकाल काममूलक था, मार्क्सवाद अर्थमूलक है। तदनुरूप ही इन वादों' के कला-विन्यास में भी परिवर्त्तन हुआ है।

गांधीवाद और मार्क्सवाद—आदर्श और यथार्थ के मर्यादित दृष्टान्त हैं। इनके अमर्यादित दृष्टान्त भी देखे जा सकते

हैं। आदर्शवाद (गांधीवाद) के अमर्यादित दृष्टान्त है वे लोग जिन पर कांग्रेस को अनुशासन-भङ्ग का नियम लागू करना पड़ा है। यथार्थवाद (मार्क्सवाद) के अमर्यादित दृष्टान्त हैं वे लोग जो समाजवाद के चोले में फासिस्टों और नाजियों की सी आत्म-लिप्सु महत्त्वाकांक्षाएँ छिपाये हुए हैं। वे उतने ही कुत्सित हैं जितना कि रामनामी ओढ़े हुए आत्मलोलुप धार्मिक। दोनों मनुष्य की खाल में छिपे हुए भेड़िये हैं।

जहाँ तक गांधीवाद और मार्क्सवाद का मौलिक मतभेद है, वहाँ समय के अनुसार हमें इन 'वादों' के समन्वय से नवीन वादों की सृष्टि करनी होगी, इन 'वादों' को मानसिक और शारीरिक सत्यों का ऐक्य देना होगा। अतएव, भविष्य के साहित्य में हम आइडियलिज्म और रियलिज्म को अलग-अलग नहीं देखेंगे, बल्कि इन दोनों को स्वीकार कर हम जीवन में आइडियलिस्टिक रियलिज्म अथवा रियलिस्टिक आइडियलिज्म की रचना करेंगे। यह वाद-विवाद का नहीं, सहयोग का निर्विवाद पथ है, जहाँ उदारतापूर्वक हम एक दूसरे को समझने का यत्न करेंगे। हिन्दी में इस प्रयत्न का आरम्भ हो गया है। पन्तजी रियलिस्टिक आइडियलिज्म की ओर उन्मुख हैं, ('ज्योत्स्ना' इसी का पूर्ण रूपक है); जैनेन्द्रजी आइडियलिस्टिक रियलिज्म की ओर उन्मुख हैं, गांधी और शरद् को एक में मिलाकर; यद्यपि उनका रियलिज्म यदा-कदा वीभत्स हो जाता है। सियारामजी ने भी गांधी और शरद् को

एक साथ ग्रहण करने का प्रयत्न किया है, किन्तु दोनों के भीतर से उन्होंने केवल आइडियलिज्म की ही प्रेरणा ली है। एक परम्परागत संसार के ही आस्तिक गृहस्थ होने के कारण जीवन में वे रियलिज्म को देख ही नहीं पाते। वह उन्हें अवांछित है।

यहाँ हम एक और उदीयमान कहानीकार श्री वीरेन्द्रकुमार जैन को स्मरण कर सकते हैं। वे उस नारी-हृदय के चित्रकार हैं जिसे रवीन्द्र ने अर्द्ध सत्य और अर्द्ध स्वप्न कहा है। अर्द्ध स्वप्न नारी के निगूढ़तम हृदय को बड़ी सरल कोमलता से वीरेन्द्र ने ज्योतिर्मय कर दिया है। रियलिज्म के ऊपर मानो गीतिकाव्य का उज्ज्वल आवरण डालकर उसने नारी-हृदय के सत्य (यथार्थ) को भी प्रकट किया है, किन्तु उस सत्य के भीतर छिपी हुई स्वप्न-निगूढ़ नारी अपनी दुर्बलता में भी महामहिम हो गई है। यों कहें कि रवीन्द्र के गीतिकाव्य में छनकर शरद् की कहानी-कला और भी बारीक होकर प्रकट हुई है। वीरेन्द्र की पात्रियाँ उसकी आत्मा की विकल बालिकाएँ हैं, वे 'देवदास' की 'पार्वती' है, जो हृदय के भीतर बहते हुए कोमल से कोमलतम मूक अदृश्य आँसुओं में 'आत्मपरिणय' रचती हैं। हिन्दी-कथा-साहित्य में रोमान्स की यह कला एक नई कली होकर फूटी है। वीरेन्द्र की कहानियों में रोमांस सार्थक हो गया है। वह मांसाहारी (शारीरिक सौन्दर्य-भक्षी) रोमांस नहीं देता, वह देता है जीवन का अमृत-रस।

अब तक के कथा-साहित्य को हम 'वादों' की इस परिधि में देख सकते हैं—(१) रोमांटिसिज्म, (२) आइडियलिज्म और (३) रियलिज्म। किन्तु मुख्यतः हैं ये दो ही 'वाद'—(१) रोमांटिसिज्म और (२) रियलिज्म। अन्य 'वाद' इन्हीं के भेदोपभेद हैं। विकास के जिस स्वरूप ने जीवन और साहित्य में विशेष स्थान बनाया उसे विशेष नाम दे दिया गया। इस प्रकार हम रोमांटिसिज्म के अन्तर्गत मिस्टिसिज्म, हेलेनिज्म, आइडियलिज्म इत्यादि सुकोमल 'इज्म' ले सकते हैं; रियलिज्म के अन्तर्गत सुधारवाद, नाजीवाद, फासिस्टवाद और समाजवाद को। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि रियलिज्म स्वयं कोई स्वतन्त्र उद्भावना नहीं है, बल्कि वह रोमांटिसिज्म के ही किसी अङ्ग-विशेष को अपने लक्ष्य की पाशविकता अथवा मनुष्यता की सीमा के अनुसार ग्रहण करने की एक प्रेरणा है, कोमलता को कठोरता पर कसने की प्रक्रिया है। एक शब्द में, रियलिज्म रोमांटिसिज्म की कसौटी है।

रोमांटिसिज्म और रियलिज्म हमारे जीवन के आरम्भ से ही साथ-साथ हैं। शिक्षितों की कला में ही नहीं, साधारण जनता की कला में भी इन्हें स्थान प्राप्त है। हाँ, समय के अनुसार इनके रूप-रङ्ग पुराने और नये होते गये हैं।

अभी रोमांटिसिज्म के सभी विभेद आ भी नहीं पाये थे, हमने सिर्फ़ उसकी वर्णमाला ही शुरू की थी कि हमारे साहित्य

में रोमांटिसिज्म दिन-प्रति-दिन कम होने लगा। इसलिए नहीं कि वह क्लासिकल हो गया है, बल्कि इसलिए कि वह वह सम्पन्नवर्ग की दुर्बलताओं का अवगुण्ठन बन गया है।

नवीनताओं के बीच तो क्लासिसिज्म की भी अपनी एक शोभा है, जैसे जीवन में विगत स्मृति की। ताजे दिनों के बीच अतीत और भी मनोहर लगने लगता है। किन्तु आज क्लासिकल रोमांटिसिज्म हमें मनोहर इसलिए नहीं लग रहा है कि एक ओर तो वह सम्पन्नवर्ग का वरदान है और दूसरी ओर शोषित वर्ग का अभिशाप—

"उनका शृङ्गार चमकता मेरी करुणा के रोने से।"

वरदान के अभाव में शोषितवर्ग अभिशाप को ही वरदान मानकर अपने को छलता आया है। किन्तु आज सोशलिस्टिक रियलिज्म के तीव्र प्रकाश में हमें छायावाद—सौन्दर्य और प्रेम के विगत वैभव-विलास का, तथा गान्धीवाद (भक्ति और त्याग) शोषकों का ईश्वर की ओर से आत्मबचाव का कवच जान पड़ने लगा है। छायावाद और गान्धीवाद स्वयं अपने में निर्दोष हैं, केवल सम्पन्नवर्ग के सर्वग्रासी हाथों से इनका उद्धार कर भविष्य के जीवन में हमें इन्हें शोषितवर्ग का स्वाभाविक स्वास्थ्य देना है, न कि अभिशाप के रूप में कृत्रिम वरदान। हाँ, सोशलिस्टिक रियलिज्म के बाद कभी सोशलिस्टिक रोमांटिसिज्म भी आवेगा ही, उसी में शोषितों का भावी स्वास्थ्य है।

आज छायावाद के बाद कविता में और गांधीवाद के बाद कहानियों में सोशलिस्टिक रियलिज्म अपना स्थान बनाता जा रहा है। क्रांतिकारी पार्टी के मुक्त राजबन्दियों द्वारा हमारे साहित्य को सोशलिज्म का परिचय मिला है, यद्यपि उनमें भी कई दल हो गये हैं—कोई दल क्रांति के साथ संस्कृति के सम्पर्क में भी है तो कोई दल केवल क्रान्ति के ही विभिन्न स्टेजों का हिमायती—कोई स्टालिनवादी है, कोई ट्राटस्कीवादी, कोई लेनिनवादी। आज एक ओर गांधीवादियों के भीतर द्वन्द्व उत्पन्न हो गया है (अहिंसा के प्रश्न पर महात्माजी का कांग्रेस से पार्थक्य इसका सूचक है), तो दूसरी ओर समाजवादियों के भीतर भी अनेक द्वन्द्व हैं। यह असल में राष्ट्र की भावी जीवन यात्रा के लिए मानसिक कवायद हो रही है जिसमें प्रत्येक एक दूसरे की कमजोरियों को दिखला-दिखलाकर चुस्त दुरुस्त होने की चुनौती दे रहा है। आज मानो हम भी भावी विश्वक्रांति के संगठन के लिए चञ्चल हो उठे है।

तो, हमारे साहित्य को जब मुक्त राजबन्दियों ने सोशलिस्टिक रियलिज्म दिया तब छायावाद और गांधीवाद की परिधि के भी कतिपय कलाकार इस दिशा में आये। आज साहित्य में प्रगतिवाद का तुमुल रव गूँज उठा है, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि कोलाहल अधिक है, गंभीर ध्वनि कम; मानो समुद्र अतल-हीन होकर ज्वार ले रहा है। रियलिज्म ने युग के सतृष्ण यौवन को गालियाँ अधिक सिखा दी हैं, वह राजनैतिक होली खेलने लगा है।

उसमें सम्पन्न वर्ग के प्रति विद्वेष अधिक है, दीन-दलितों के प्रति अनुराग कम, वह अनुराग जिसके कारण ही गान्धीवाद अजेय है। गान्धीवाद के भीतर से अतल-चिन्तन लेकर प्रगतिशील साहित्य को गम्भीर स्वर केवल पन्तजी ही दे रहे हैं। अन्य प्रगतिवादी जब कि केवल रियलिस्ट हैं, पन्त आइडियलिस्ट भी— संस्कृति के स्वप्नों में। अभी तक आप कविता में ही अपनी युग-वाणी दे रहे थे, अब उपन्यासों की ओर भी उन्मुख हैं। यह ठीक है कि आज के पन्त में वह हार्दिक तरलता नहीं है, किन्तु वह तरलता सूखकर रेगिस्तान नहीं हो गई है, बल्कि जमकर ग्लेशियर हो गई है, यह मानो जीवन-प्रवाह के पुनः गति-सन्धान के लिए पन्त का आत्मनियन्त्रण है। इसके बाद जब कभी फिर पन्त का आत्मद्रवण होगा तो हमारे साहित्य में सोशलिस्टिक रोमान्टिसिज्म भी उनके द्वारा आयेगा।

[५]

हमारे साहित्य में सोशलिस्टिक रियलिज्म अभी लेखों, कहानियों और कविताओं में ही आ पाया है, उपन्यासों में नहीं। गान्धीवाद ने हमारे उपन्यास-साहित्य को प्रेमचन्द दिया, किन्तु समाजवाद ने अभी तक गोर्की को नहीं दिया। इसका कारण यह कि हमारे देश में समाजवाद के नेता अपेक्षाकृत सम्पन्नवर्ग के ही लोग हैं। गान्धी की तरह उन्होंने हमारे जीवन के रहन-सहन में कोई अपूर्व परिवर्त्तन नहीं किया है। वे लिबरलों के राजनैतिक

बुद्धिविलास के रोमैन्टिक रूप हैं। उनमें साधना नहीं है। यदि प्रेमचन्द जीवित होते तो वे ही हमारे साहित्य के गोर्की भी हो जाते, जब कि वे टाल्स्टाय होकर चले गये।

सच तो यह है कि अभी हमारे जीवन-प्रवाह की दिशा पूर्ण रूप से परिवर्त्तित नहीं हुई है, केवल परिवर्त्तन का अनुभव हम करने लगे है। आज भी हम गत युगों की सामाजिक व्यवस्थाओं से ही सम्बद्ध है। अभी हम सुधारों की सतह ही पार कर रहे हैं। हाँ, क्रान्ति के पथ पर अग्रसर होने के लिए गान्धीवाद और समाजवाद का द्वन्द्व भी हो रहा है।

वर्तमान महायुद्ध के बाद संसार जब प्रकृतिस्थ होगा, तब वह नवजीवन ग्रहण करने के लिए इन्हीं दोनों 'वादों' को समझना चाहेगा, अन्यान्य 'वाद' युद्ध के साथ ही विध्वस्त हो जायँगे। मनुष्य के सामने प्रश्न रह जायगा—उसके जर्जरित जीवन के तन-मन की भूख-प्यास का। गान्धीवाद और समाजवाद के रूप में भविष्य में जो विश्वव्यापी जीवन-प्रश्न आनेवाला है, उसे हमारा देश इन संकट के दिनों से ही सुलझा रहा है। आगे जब समग्र संसार इस प्रश्न की ओर आयेगा तब इसका एक हल भारत पहले ही से तैयार रखेगा।

आन्दोलनों के साथ-साथ हमारे जीवन की हलचल चलती है। जीवन में जो स्वर बहुत भर जाता है वही साहित्य में आकर सन्तुलन पाता है। गान्धीवाद हमारे जीवन में आ चुका है अतएव

उसका साहित्य बन चला है। किन्तु समाजवाद अभी हमारे विचारों में ही है, जीवन मे नहीं आया है। हाँ, आज भारत ही नहीं, बल्कि समग्र संसार रूसी क्रान्ति की पूर्व स्थिति में है। विश्व-जीवन में अब जो परिवर्त्तन होगा वह विश्व-साहित्य को एक साथ कर देगा। तब, विश्व-साहित्य के विकास की पिछली सतहें चाहे जितनी भिन्न रही हों, आगे वह भिन्नता नहीं रह जायगी। सबजेक्टिव जीवन में विविध होकर भी आबजेक्टिव जीवन में हम एक ही धरातल पर खड़े होंगे।

आज विभिन्न वादों में सबकी समस्या एक है, अतएव भविष्य का विश्वजीवन एक ही समाधान और एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ेगा। वीणा के अलग-अलग तारों की भाँति मनुष्य का सबजेक्टिव संसार भिन्न-भिन्न होने पर भी आबजेक्टिव संसार में सबके जीवन के तार एक ही अभिन्न लय में झंकृत होंगे। सब-जेक्टिव संसार हमारे साहित्य को रोमांटिसिज्म देगा, आबजेक्टिव संसार रियलिज्म। ये दोनों एक दूसरे के विपक्षी न होकर जीवन की गति-विधि के सूचक होंगे। सबजेक्टिव संसार जब संकट-ग्रस्त होकर चीत्कार कर उठेगा तब रियलिज्म आज की तरह ही आगे बढ़कर रोमांटिसिज्म का उद्धार करेगा।

———

प्रसाद और 'कामायनी'

[१]

कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध—इतनी विविध कृतियों को सँजोकर प्रसाद हमारे साहित्य में एक विस्तृत स्थान बना गये हैं। वे कवि और विचारक थे। किन्तु उनके विचारक में भी उनका कवि बोलता है, जिसके कारण उनके विचारों में एक कलात्मक आकर्षण आ गया है। प्रसाद का कवि उनके 'स्कन्द-गुप्त' नाटक के मातृगुप्त की भाँति ही जीवन की गम्भीर हलचलों में चला है। उसकी विशेषता यह है कि वहाँ भी वह अपने कवि-व्यक्तित्व को अपनाये हुए है।

प्रसाद बुद्धकालीन संस्कृति के अनुरागी थे। उस युग का संसार उनके नाटकों में उनका स्वप्निल मनोलोक बनकर बसा हुआ है। उपन्यासों में उनके मनोलोक की प्रतिच्छाया वह बहिर्लोक है जिसमें उन्होंने अपने पुरातन जगत् की सामयिक अभि-व्यक्ति दी है।

हम देखते हैं कि इस बहिर्लोक में प्रसाद एक उदार 'सनातन धर्म' (धार्मिक आदर्शवाद) के कलाकार थे। उनकी कला में जीवन का यथार्थ भी है—धार्मिक परम्पराओं के विकृति-निदर्शन में। विकृति-विमोचन के लिए उन्होंने सनातनधर्म को बुद्धिज्म

की विशाल भारतीयता दे दी है। यों कहें कि प्रसाद अपने सामयिक विकास में हिन्दू-महासभा के प्राणी थे। जिस प्रकार बौद्ध होते हुए भी स्व० भिक्षु उत्तमा हिन्दू महासभा के अङ्ग बन गये थे, उसी प्रकार प्रसाद-साहित्य में बुद्धिज्म सनातन धर्म को विस्तीर्णता देने के लिए सम्बद्ध हो गया है।

निःसन्देह आदर्शवादी के रूप में प्रसाद धार्मिक समाज-सुधारक थे। उनका सुधार कुछ-कुछ आर्यसमाजी तरीक़ों का लगता है, किन्तु वे आर्यसमाजी नहीं थे। बुद्धिज्म के भीतर जो धार्मिक उदारता है वही उन्हें देश-काल के अनुसार हिन्दूधर्म में सामयिक सुधारों की ओर भी ले गई।

असल में वे पुरातन संस्कारों के सचेष्ट साहित्यिक थे। उनके संस्कार मध्ययुग के सम्पन्न वर्ग के भावुक-संस्कार थे। पिछले राजसी युगों की भाँति ही वे अपनी कृतियों में रोमांस-प्रिय हैं। नवाबों और उमरावों की तरह साधारण जीवन की कहानियों में भी वे रस लेते हैं। इसमें उन्हें अवकाश का विश्राम मिलता है। इसके साथ ही, भाव-प्रवण होते हुए भी, वे वास्तविकता की ओर से विमुख नहीं हैं। यों कहें कि वे अपने ऐश्वर्य और सौन्दर्य-जगत् के स्थायित्व के प्रति सजग है, जैसे शासक अपनी साम्राज्य-रक्षा के लिए। अतएव, पिछले युगों के धार्मिक नरेश जिस प्रकार अपनी राजनीति और समाजनीति में समय को समझकर चलते थे उसी प्रकार प्रसादजी भी।

अपने नाटकों में प्रसादजी मध्ययुग में हैं, उपन्यासों द्वारा वे वर्तमान युग की ओर भी उन्मुख हुए हैं, मानो स्वप्न-जगत् से वस्तु-जगत् की ओर। 'कङ्काल' में उन्होंने हिन्दू-धर्म का नवीन सार्वभौम आदर्श दिया है तथा उसकी सुरक्षा के लिए हिन्दू-समाज को वर्तमान यथार्थ चित्र देकर सजग भी कर दिया है। यथार्थ के चित्रण में उन्होने चरित्रों को कला का आधुनिक दृष्टिकोण देने का प्रयत्न किया है, इस दिशा में वे शरद के क्षेत्र में हैं। किन्तु 'कङ्काल' में प्रसादजी सुधारक अधिक है, प्रेरक कम। प्रसाद जो कुछ कहना चाहते हैं उसे रङ्गमञ्च पर कहकर चले जाते हैं, किन्तु शरद घरों के भीतर प्रवेश करते हैं और वहाँ के जीवन में उलट-फेर कर जाते हैं। और प्रेमचन्द ?—

प्रेमचन्द सार्वजनिक सुधारों में फारवर्ड हैं, प्रसाद और शरद की तरह; किन्तु व्यक्तित्व के विकास में वे आप्तनीतियों के ही पृष्ठ-पोषक हैं। यों कहें, सार्वजनिक जगत् में वे शरद और प्रसाद के साथ है, किन्तु व्यक्तिगत जगत् में गान्धी के साथ। इधर यथार्थ की दिशा में समकक्षी होते हुए भी प्रसाद और शरद में भी एक अन्तर पड़ जाता है। प्रसाद के यथार्थोन्मुख व्यक्ति समाज से पराजित हो जाते हैं, शरद के व्यक्ति समाज को हिला जाते हैं। इसका कारण यह कि प्रसाद स्खलित चरित्रों के प्रति सहानुभूतिशील तो हैं किन्तु उनके कर्तृत्व पर उन्हें स्वयं विश्वास नहीं है, जब कि शरद की सहानुभूति ऐसे चरित्रों पर इसलिए है कि वे ही समाज की वास्तविक

शक्ति है। प्रसाद की सहानुभूति यह कह सकती है—'छेड़ो मत यह करुणा का कण है।' किन्तु प्रसाद जिसे दया का पात्र समझते हैं, शरद उसे शक्ति का केन्द्र समझते हैं और प्रेमचन्द आदर्श की विडम्बना। प्रेमचन्द यथार्थ को अपने आदर्शों में पुनर्जन्म देकर उसकी मूल समस्याओं को ओझल कर देते है, जब कि शरद उसकी मूल समस्याओ को ही सामने ला देते हैं। हाँ, प्रेमचन्द साधारण पात्रों को ही असाधारण व्यक्तित्व में परिणत करते है, तो प्रसाद असाधारण पात्रों द्वारा ही अपने आदर्श की प्रतिष्ठापना करते हैं। चाहे वह आचार्य-वर्ग का हो, चाहे धनाढ्य वर्ग का। यहाँ पर परोक्ष रूप से प्रसाद महत्ता के उपासक हैं। वे समाज पर प्रभाव डालने के लिए लोक-दृष्टि से सम्मान्य पुरुष चाहते है, जैसे 'कङ्काल' में गोस्वामी कृष्णशरण और 'तितली' में इन्द्र और शैला।

प्रसाद यदि पुरातन आदर्शों का आधुनिक प्रतीक चाहते हैं तो प्रेमचन्द आधुनिक चरित्रों में पुरातन आदर्श; और शरद पुरातन आदर्शों के प्रति श्रद्धालु होकर भी वर्तमान के उपेक्षितों को ही अधिक चाहते हैं। पुराने भारतीय समाज के ये तीन कलाकार हमारे साहित्यिक त्रिकोण हैं। तीनों सामाजिक जीवन के भीतर अपने स्खलित चरित्रों के लिए स्थान बनाना चाहते हैं, किन्तु तीनों की प्रेरणाओं के ढङ्ग अलग-अलग है। प्रसादजी यथार्थवाद को एक विज़िटिङ्ग कार्ड के रूप में उपस्थित करते है, प्रेमचन्द आदर्शवाद को प्रवेश-पत्र के रूप में और शरद मानव-

वाद को अधिकार-पत्र के रूप में। यह नहीं कि शरद ने आदर्श की उपेक्षा कर दी है। किन्तु प्रसाद और प्रेमचन्द के आदर्श देवताओं के हैं, मनुष्यों के नहीं; शरद के आदर्श मनुष्यों के हैं। उनका मनुष्य अपनी पङ्किलता में ही पङ्कज है। शरद की पंकिलता दलदल की कीचड़ नहीं, बल्कि जीवन के अतल की वह तलछट है जो मनुष्यता के विकास की खाद बन जाती है। जहाँ आत्मचेतना नहीं, केवल जड़ता ही जड़ता है, पंकिलता वहीं दलदल बन जाती है। ऐसी पंकिलता शरद को भी अभीष्ट नहीं।

अब तक हमारे साहित्य में जीवन का विकास ही विचारणीय रहा है, अब जीवन के साधन भी विचारणीय हो गये हैं। फलतः साहित्य में वर्ग-चेतना भी सजग हो गई है। किन्तु चाँदी-सोने और ताँबे के विषम वर्गीकरण के सन्तुलित हो जाने पर भी जिस प्रकार संसार में खोटे और खरे सिक्कों की जाँच-पड़ताल होती रहेगी, उसी प्रकार खोटे और खरे मनुष्यों की भी। उस जाँच-पड़ताल में शरद जैसे कलाकारों के उपन्यास ही चरित्र की कसौटी बनेंगे। इस चरित्र-कला मे शरद वर्गहीन लेखक है; उनका मनुष्य धनियों में भी है, निर्धनों मे भी। वे 'मनी' नहीं, मन देखते है। किन्तु प्रेमचन्द और प्रसाद वर्गवादी लेखक हैं—प्रेमचन्द को मनुष्यता निर्धनता में खिलती है, प्रसाद की मनुष्यता सम्पन्नता में। आज जो वर्ग-युद्ध सजग हो रहा है उस दिशा में भी अपने-अपने अन्तिम दृष्टि-बिन्दु ये तीनों कलाकार दे गये हैं; शरद 'पथेर दावी'

में, प्रेमचन्द 'गोदान' में, प्रसाद 'कामायनी' में। 'पथेर दावी' का दृष्टिकोण हम यथास्थल उपस्थित कर आये हैं, 'गोदान' पर आगे दृष्टिपात किया जायगा। यहाँ हम प्रसादजी को ही उपस्थित करना चाहते हैं।

अपने नाटकों में प्रसाद पुराकाल में थे, 'कङ्काल' और 'तितली' से वर्तमानकाल में आये हैं। 'कङ्काल' में वे एक साम्प्रदायिक परिधि में थे, 'तितली' में राष्ट्रीय जागृति की ओर उन्मुख हुए, किन्तु 'कामायनी' में वे फिर अपने नाटको के ही मनोलोक में लौट गये। अतएव, वर्तमानकाल के भीतर 'तितली' ही उनकी लोक-प्रगति की सीमा है। प्रसादजी वर्ग-वैषम्य के निराकरण के लिए कोई नवीन आर्थिक पहलू नहीं दे सके। गान्धी-युग के प्रभाव से प्रेमचन्द की भाँति ही वे ग्राम-संघटन की ओर बढ़े है, किन्तु 'कङ्काल' का धार्मिक (साम्प्रदायिक) संस्कार वहाँ भी नहीं छोड़ सके हैं। शैला (अँगरेज़ रमणी) और इन्द्र (हिन्दुस्तानी युवक) के विवाह (अन्तस्सामाजिक सम्बन्ध) द्वारा हिन्दू संस्कृति की प्रतिष्ठापना तथा ग्राम-संघटन में वैभव का सद्व्यय, यही 'तितली' नामक उपन्यास का 'थाट' है। यह आर्य्यसमाज और कांग्रेस का संयुक्तीकरण है। प्रसादजी पूरे कांग्रेसी (गान्धीवादी) नहीं थे। पं० मदनमोहन मालवीय जितने अंश में कांग्रेस के साथ है, उतने ही अंश में प्रसादजी भी। राजनीतिक लक्ष्य के लिए वे कांग्रेस के साथ हैं, किन्तु सामाजिक लक्ष्य में उनकी

कुछ अपनी धार्मिक धारणाएँ हैं। मालवीयजी अपनी सामाजिक सीमा में अछूतोद्धार कर सकते हैं, हद से हद अवान्तर-जातीय विवाह को स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु 'प्रसाद' इससे भी आगे अन्तस्सामाजिक सम्बन्ध की ओर चले गये हैं। जिस बुद्धिज्म ने सुदूर देशों मे फैलकर भारत को विशाल भारतीयता दी थी, उसी की अन्त:प्रेरणा से प्रसादजी सामाजिक विस्तार में उतनी दूर तक जाने को अग्रसर हुए। जैसा कि कहा है, प्रसादजी आर्य्यसमाजी नहीं थे, वे भी मालवीयजी की भाँति ही सनातनधर्मी थे, किन्तु सनातनधर्म को वे बुद्धिज्म के द्वारा एनलार्जमेन्ट दे देना चाहते थे। वे मालवीयजी के धार्म्मिक क्षेत्र के रोमैन्टिक कलाकार थे, कांग्रेस के गान्धी-क्षेत्र के नहीं। गान्धी-युग की कांग्रेस के साथ एक तटस्थ-आत्मीयता उन्हें इसलिए अभीष्ट है कि उसके रचनात्मक कार्य्यों में उन्हें पार्थिव सुरक्षा मिलती है और उसके दार्शनिक सिद्धान्तो में अपनी धार्मिक संस्कृति को श्रेष्ठता-पूर्वक उपस्थित करने का सुअवसर मिलता है। बुद्धिज्म के कारण गान्धीवाद प्रसाद को स्वभावत: मान्य है, अन्तर यह कि प्रसाद उसे साम्प्रदायिक व्यक्तित्व देते हैं जब कि गांधीवाद उसे साम्प्रदायिक सीमा से बाहर, लोक-धर्म के रूप में उपस्थित करता है। गांधीवाद में संसार के सभी देशों की सभी जातियों को बिना किसी साम्प्रदायिक विभेद के स्थान मिल जाता है, जब कि मालवीयजी को केवल हिन्दूज्म अभीष्ट है और प्रसाद के कलाकार को बुद्धिज्म।

बुद्धिज़्म में शान्त रस का एक मनोहर कवित्व है, इसलिए कवि प्रसाद को ही नहीं, बल्कि जिनमें (यथा, जवाहरलाल में) कुछ भी आध्यात्मिक आस्था शेष है, उन्हें भी बुद्ध का व्यक्तित्व आकर्षक लगता है।

तो, प्रसाद को बुद्धिज़्म के कारण गान्धीवाद का दार्शनिक पक्ष प्रिय है, और पार्थिव सुरक्षा के लिए उसका भौतिक पक्ष (रचनात्मक कार्य्यक्रम)। दार्शनिक पक्ष में वे मालवीयजी के हिन्दूज़्म से आगे जाते हैं; किन्तु भौतिक पक्ष में वे गान्धीजी से आगे नहीं जाना चाहते, क्योंकि इससे उनके नाटकों के पुराकालीन राजकीय चित्रों का स्वप्न-भङ्ग हो जाता है। गान्धीजी भी पुराकालीन स्वप्नदर्शी हैं, किन्तु प्रसाद पृथ्वी पर बौद्ध साम्राज्य देखना चाहते हैं, गान्धीजी 'राम-राज्य'। गान्धीजी के राम-राज्य में ऐश्वर्य के उस रोमान्स को स्थान नहीं है, जो 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों में है, उनके राम-राज्य में केवल अतीन्द्रिय प्राणी निवास करते हैं। किन्तु गान्धी-युग की कांग्रेस से आगे जो नवीन समाजवादी युग उद्बुद्ध हो रहा है, वह न तो प्रसाद के बौद्ध साम्राज्य को चाहता है और न गान्धीजी के 'राम-राज्य' को। वह तो पार्थिव मनुष्य के पार्थिव वैषम्य को ही मिटा देना चाहता है। आध्यात्मिकता की यदि आवश्यकता होगी तो नव-निर्माण के बाद उसकी भी प्राण-प्रतिष्ठा हो जायगी, इस दायरे में जवाहरलाल की तरह ही कुछ समाजवादी साहित्यिक जागरूक हैं।

इस सन्धि-सीमा में गान्धीवाद समाजवाद के प्रति सहानुभूतिपूर्ण है और समाजवाद गान्धीवाद के प्रति सहृदय।

प्रसादजी समाजवाद से सन्तुष्ट नहीं थे। आर्थिक विद्रोह उन्हें अभीष्ट नहीं था। मानवता के नाम पर वे दया-दाक्षिण्य के समर्थक थे। उनके इस दृष्टिकोण को समझने के लिए हम 'स्कन्दगुप्त' और 'राज्यश्री' नामक उनके ऐतिहासिक नाटक देख सकते हैं। दोनों नाटकों में राजपद और राज्यवैभव की विडम्बना दिखाई गई है, किन्तु यह आर्थिक और सामाजिक सत्य न होकर, जीवन की भारग्रस्त विकलता है, खीझ है, झुँझलाहट है; वैभव का निश्चिन्त उपभोग न कर पाने के कारण। यह तो आर्थिक वैषम्य का निदान नहीं हुआ।

आज समाज जिस आर्थिक असन्तोष को लेकर चल रहा है, उसका एक स्पष्ट संकेत 'राज्यश्री' में है। उसमें शान्तिभिक्षु आज के आर्थिक वैषम्य का शिकार है। किन्तु प्रसादजी ने उसे चोर और डाकू के रूप में उपस्थित किया है, आगे चलकर उसका नाम पड़ा है 'विकट घोष'। असन्तोष में विकट घोष तो होता ही है। वह जीवन-रिक्त जनता की अतृप्त आकांक्षाओं का प्रतीक है। प्रसादजी ने 'राज्यश्री' से उसे भी 'दान' दिलवाना चाहा है, साथ ही उसे तहज़ीब सीखने को आगाह भी कराया है। क्या प्रकारान्तर से प्रगतिशील युग के प्रति प्रसादजी का यही रिमार्क है!

[२]

अब हम देखें, प्रसादजी 'कामायनी' में कहाँ गये हैं—

आदिम प्रलय-काल (जलप्लावन) के बाद इस काव्य का पटोद्घाटन होता है। इस जल-प्लावन के पूर्व पृथ्वी पर देववर्ग का अनियन्त्रित प्रभुत्व था। प्रसादजी के कथनानुसार, "देवगण के उच्छृङ्खल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टि में अन्तिम अध्याय लगा और मानवीय भाव अर्थात् श्रद्धा और मनन का समन्वय होकर प्राणी को एक नये युग की सूचना मिली।"—इस कथन-सूत्र में प्रसाद ने इस काव्य के रूपक-संकेत को स्पष्ट किया है। प्रसादजी जरा तटस्थ होकर कहते हैं—"यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में सहायक हो सकता है।" किन्तु प्रसादजी का यह भूमिका-भाग अपने काव्य से तटस्थ नहीं है, निःसन्देह यह काव्य उक्त निर्दिष्ट रूपक ही है, रूपक न मानने पर वर्तमान काल के पात्रोंकी तरह ही 'कामायनी' के पात्र भी व्यक्ति मात्र रह जाते हैं, अपनी इकाई में उस पुरातन युग के उद्वेलनों के प्रतीक नहीं। इनके अस्तित्व की सार्थकता अतीत के प्रतीक होने में ही है। हाँ, यह काव्य मानव का मनोवैज्ञानिक 'इतिहास' न होकर मनोवैज्ञानिक 'उद्भव' है। यह मानवता का एक स्वर्गीय स्वप्न छोड़ जाता है, आगे मानव-जीवन का इतिहास इसके अनुसार चला या नहीं,

इतिहास की परिणतियों ने क्योंकर आज की भीषण समस्याओं का स्वरूप धारण कर लिया, यह इस काव्य का प्रतिपाद्य विषय नहीं। प्रसाद ने तो इसमें एक मनःस्वप्न देख लेना चाहा है, वही उनका ऐतिहासिक अतीत और भविष्य है। वर्तमान काल तो मानवता के उद्भव के पूर्व की ही प्रलयङ्कर स्थिति है, मानो मेदिनी की प्रसव-पीड़ा। इस प्रकार यह काव्य अतीतकालीन होकर भी युग-युग के नव-नव आवर्त्तन-प्रवर्त्तनों का सौरचक्र बन गया है, मानों इसी गति-विधि से इतिहास में सर्ग और प्रलय आते-जाते हैं।

इस काव्य द्वारा प्रसादजी ने अपने विश्वासों और धारणाओं की निश्चित सूचना दे दी है, यह भी सूचित हो जाने दिया है कि वर्तमान को उन्हें किसी नये ढङ्ग से देखने की आवश्यकता नहीं है। प्रसाद की यह पुरातनता उन कला-प्रेमियों की सी है जो पुरातत्त्व के अवशेषों के एकत्र-दर्शन से वर्तमान की भाराक्रान्तता को आत्मविस्मृत करते हैं। स्वयं वे उस युग में होते तो आज का वर्तमान उस युग के भविष्य का स्वप्न-चित्र बनकर उनकी जीवन-दृष्टि को विश्राम देता रहता, जैसे कि अतीत के भीतर भविष्य का स्वप्न-सुख उन्हें विश्राम देता है। इस कोटि के कला-प्रेमी भीषण से भीषण वास्तविकता को किसी चित्र में बड़ी निश्चिन्तता से देख सकते हैं, किन्तु दैनिक जीवन में किसी लावण्य-लोक में ही खुलकर साँस ले सकते हैं। उनका इतिहास-प्रेम

श्रीमन्तों का स्वप्न-सुख है। पुरातत्त्व के ध्वंसावशेषों को देखते-देखते थक जाने पर वे या तो खँड़हरों का नक़शा खोलकर बैठ जायँगे या यदि भाव-प्रवण हुए तो उसी युग के भाव-शिल्पों में विहरेंगे। ऐतिहासिक नाटकों के नाटककार और 'कामायनी' के काव्यकार 'प्रसाद' जी की कहानियों में उस पुरातनवादी जीवन का ऐसा ही रूपान्तर है। इस कोटि के कलाप्रेमियों में यदि करुणा है भी तो कल्पना, सौन्दर्य और प्रणय के महोत्सव में बख़शिश के रूप में, जिसे करुणा का वास्तविक पात्र शायद ही पा सके।

तो, अब हम इस काव्य की कथा-वस्तु देखें, यद्यपि इस काव्य में कथानक न होकर कथा का भावात्मक संकेत है। संकेत कहीं-कहीं इतना सूक्ष्म है कि ज़रा सा भी चित्त-विक्षेप होने पर सारा काव्य अस्पष्टता के कुहरे में डूब जाता है। एक तो यों ही यह काव्य माइकेल के 'मेघनाद-बध' की भाँति क्लिष्ट है, तिस पर प्रसङ्ग की सूक्ष्म-सूत्रता इसे और भी गहन बना देती है।

इस काव्य के रूपकमय पात्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१. मनु—देव-वर्ग के अन्तिम उद्भ्रान्त प्रतिनिधि, जिन्हें जल-प्लावन के बाद अपने युग की विभीषिका में मानवता का आदर्श पाने के लिए साधना करनी पड़ी।

२. किलात और आकुलि—जल-प्लावन के बाद असुरों के अवशेष। आसुरिक भावों के पुरोहित या प्रतिनिधि। मनु के लिए शारीरिक पशुता के प्रोत्साहक।

३. श्रद्धा—जल-प्लावन के बाद सृष्टि की अवशिष्ट नारी। मानवता की देवी। हृदय की प्रतिनिधिन।

४. इड़ा—मनु की यज्ञ-दुहिता। बुद्धि की प्रतिनिधिन।

५. मनु का पुत्र (मानव)—जो श्रद्धा का गर्भजात है। मनु की विद्रोही प्रजा का समुचित राजकुमार।

६. नागरिक—उस युग में वर्तमान युग की असन्तुष्ट प्रजा के प्रतीक।

इन पात्रों की चरित्र-रेखाएँ इस प्रकार हैं—

मनु प्रलय के तूफानों को झेलकर वैसे ही अशान्त किन्तु एकान्त-शून्य हो गये हैं। वे देववर्ग के उच्छृङ्खल भोग-विलास के अवशिष्ट प्रतिनिधि हैं। उनका पौरुष पाशविक है। ईश्वर के प्र तिनिधि आज के नरेशों की भाँति देववर्ग कभी निरंकुश हो गया होगा, उसी के पापों का बाड़व-विस्फोट जल-प्लावन बना। उसी के अनुरूप उसके प्रतिनिधि मनु हैं। वे चरम यथार्थवादी हैं। वे एकदम अज्ञान आदिमों की तरह नहीं हैं, क्योंकि उनमें उनके पूर्व की एक विकसित सृष्टि का संस्कार शेष है, इसी लिए वे बुद्धि-शून्य नहीं हैं।

उनके एकान्त-शून्य में श्रद्धा ने मानो नियति की कल्याणी प्रेरणा होकर प्रवेश किया, अन्धकार में इन्दुकला सी। जीवन में वह भी एकाकिनी थी। प्रलय के बाद उष्णता और शीतलता के प्रतीक ये ही देवोपम नर-नारी बच गये थे। इन्हीं को लेकर पुनः दैवी सृष्टि होती है। दोनों का मिलन एकाकी जीवन को मनोरम बना देता है। किन्तु दो भिन्न अन्तःप्रदेशों की भाँति दोनों के स्वभाव और व्यक्तित्व में अन्तर है—श्रद्धा यदि देवत्व की आत्मा है, तो मनु देवत्व की दुरात्मा या विडम्बना। श्रद्धा में यदि नारी का मातृत्व अंकुरित है तो मनु में पुरुष का नग्न विलास। श्रद्धा अपने गर्भ में एक शिशु (मानो भावी युग के मानव) को धारण कर गृह-लक्ष्मी की भाँति अपनी गृहस्थी में लग जाती है, किन्तु मनु का मन केन्द्रच्युत ग्रह की भाँति फिर शून्य में उद्भ्रान्त होकर भ्रमण करता है—

"देख देखकर मनु का पशु जो
व्याकुल चंचल रहती—
उनकी आमिष-लोलुप रसना
आँखों से कुछ कहती।"

ऐसी ही तामसिक स्थिति में मनु को कर्मयज्ञ करने की प्रेरणा होती है। देवत्व की उस विडम्बना को असुरों की विडम्बना का सहयोग मिल जाता है। आकुलि और किलात (असुरों के अवशिष्ट प्रतिनिधि) उद्भ्रान्त मनु को और भी बहका देते हैं, इस

प्रकार वे असुर पुरोहित अपने प्रतिनिधित्व को सार्थक कर लेते हैं। यह कर्म-यज्ञ दैवी न होकर आसुरिक है। दैवी कर्म-यज्ञ तो श्रद्धा की गृहस्थी में चल रहा है। इस प्रकार प्रलय के बाद, सृष्टि के दैव और दुर्दैव अंश एक दूसरे से मिलकर भी अपने व्यक्तित्व की भिन्नता में एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। यहीं से श्रद्धा और मनु के व्यक्तित्वों का अनैक्य प्रकट होता है। मनु अपने को अपनी आत्मलिप्सा में ही सीमित कर लेना चाहते हैं, शेष सृष्टि को अपने ही प्रभुत्व-विकास का साधन बना लेना चाहते हैं। वे तामसिक वासनाओं की नित्यनूतन नवीनताओं के विकट उपासक हैं—

"जो कुछ मनु के करतलगत था
उसमें न रहा कुछ भी नवीन,
श्रद्धा का सरल विनोद नहीं
रुचता अब था, बन रहा दीन।"

जीवन के मिथ्या अभावों में आत्मविस्मृत होकर—

"पुरोडाश के साथ सोम का
पान लगे मनु करने,
लगे प्राण के रिक्त अंश को
मादकता से भरने।"

ठीक शरद के 'देवदास' की तरह। किन्तु देवदास की अशान्ति शान्ति के लिए है, मनु की अशान्ति उद्भ्रान्ति के लिए। आगे

मनु जिस श्रद्धा को छोड़ जाते हैं उसी श्रद्धा (महामहिम नारी) को पाने के लिए देवदास की अशान्ति है। श्रद्धा मनु को समझाती है—

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु !
हँसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ।
सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोड़ोगे,
इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुँह मोड़ोगे।

श्रद्धा उस अहेरी बनचारी को अहिंसा (मानवी कोमलता) का पाठ देती है, अपनी गृहस्थी की ओर संकेत कर कहती है—

मैने तो एक बनाया है
चलकर देखो मेरा कुटीर

× × ×

मैं बैठी गाती हूँ तकली के
प्रतिवर्त्तन में स्वर विभोर—
'चल री तकली, धीरे-धीरे
प्रिय गये खेलने को अहेर।
जीवन का कोमल तन्तु बढ़े
तेरी ही मंजुलता समान,
चिरनग्न प्राण उनमें लिपटें
सुन्दरता का कुछ बढ़े मान।'

किन्तु मनु का उद्धत मन उस गृहिणी की सीख के सूत्र में नहीं बँध पाता। मनु का तो संकल्प-विकल्प यह है—

मेरा सुन्दर विश्राम बना
सृजता हो मधुमय विश्व एक,
जिसमें बहती हो मधुधारा
लहरें उठती हों एक-एक।

× × ×

यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिए मुझे मेरा ममत्व,
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व।

× × ×

तुम अपने सुख से सुखी रहो
मुझको दुख पाने दो स्वतन्त्र,
'मन की परवशता महादुःख'
मैं यही जपूँगा महामन्त्र।

निदान, वह अपनी गृहलक्ष्मी श्रद्धा को छोड़ जाता है।

मनु के कर्म-यज्ञ के हविष्य से एक सन्तति उत्पन्न होती है—इड़ा, मानो उनके इतने दिनों की तामसिक साधना की सिद्धि। किन्तु यह सिद्धि है, इसलिए दुर्बुद्धि न होकर 'बुद्धि' हो गई है। मनु की 'दुर्ललित वासना' अपनी उस कन्या (इड़ा) पर भी आसक्त हो जाती है। 'बुद्धि' (इड़ा) उस दुर्बुद्धि से अपने को बचाकर उसे एक आत्मनियन्त्रित प्रजापति होने के लिए प्रेरित करती है। किन्तु मनु की स्वेच्छाचारिता बुद्धि से नियन्त्रित न होकर उसे भी अपनी दुर्बुद्धि का साधन बनाकर जीवन-पथ में निर्बन्ध चलना चाहती है। श्रद्धा (सहृदयता) से बिछुड़कर मनु ने एक लम्बी अवधि के बाद एक यान्त्रिक सभ्यता का राजतन्त्र परिचालित कर लिया था। सहृदयता (श्रद्धा) बहुत पीछे छूट चुकी थी, अब बुद्धि (इड़ा) को पाकर मनु उसकी भी मर्यादा नहीं ग्रहण कर सके। श्रद्धा यदि हृदय-नीति है तो इड़ा राजनीति है, मनु (मन) निरंकुश नृपति। हृदय-नीति (श्रद्धा) ने मनु के साहचर्य से प्रकृति के सात्त्विक अंशों को प्रस्फुटित करना चाहा था, राजनीति (इड़ा) ने प्रकृति

के राजसिक अंशों को, किन्तु मनु ने सबका अतिक्रम कर तामसिक साम्राज्य-विस्तार का ही यत्न किया। हृदय-नीति ने तकली और अहिंसा अपनाई, राजनीति ने यन्त्र-तन्त्र और आयुध-यान का प्रसार किया, किन्तु मनु ने इन सबको अपनी ही लालसाओं के उपभोग में केन्द्रित कर लेना चाहा, जिसके कारण इड़ा (राजनीति) को भी कहना पड़ा—

मनु सब शासन स्वत्व तुम्हारा सतत निबाहें,
तुष्टि—चेतना का क्षण अपना अन्य न चाहें!
आह प्रजापति, यह न हुआ है कभी न होगा
निर्बाधित अधिकार आजतक किसने भोगा?

मनु की निरंकुशता से प्रजा में विद्रोह भड़क उठा। एक दिन श्रद्धा ने मनु को हृदय-धर्म की सीख दी थी, अब इड़ा राजनीति की ओर से मनु को सावधान करने लगी—

मनु! देखो यह भ्रान्त निशा अब बीत रही है
प्राची में नव उषा तमस को जीत रही है।

किन्तु मनु राजनीति (इड़ा) की भी उपेक्षा कर बोल उठते हैं—

क्रन्दन का निज अलग एक आकाश बना लूँ,
उस रोदन में अट्टहास हो तुमको पा लूँ।

× × × ×

यह सारस्वत देश तुम्हारा तुम हो रानी,
मुझको अपना अस्त्र बना करती मनमानी।
यह छल चलने में अब पंगु हुआ समझो,
मुझको भी अब मुक्त जाल से अपने समझो।

× × × ×

मैं शासक, मैं चिर स्वतंत्र, तुम पर भी मेरा—
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा।

और वासना के हाथों ज्योंही मनु ने उसे आलिंगन का बन्दी बनाया, त्योंही विद्रोही प्रजा सिंहद्वार तोड़कर भीतर घुस आई। जिन असुर पुरोहितों (किलात और आकुलि) के प्रोत्साहन से मनु की उद्भ्रान्ति और भी भ्रान्त हो गई थी, वे भी विद्रोही दल में जा मिले थे, विद्रोहियों से मिलकर वे मानो देव-सृष्टि के अवशिष्ट प्रतिनिधि को समाप्त कर अपना जातीय प्रतिशोध पूरा कर लेना चाहते थे। मनु और विद्रोहियों में घोर संघर्ष हुआ। पौराणिक अस्त्र-शस्त्रों के रूपक में कवि ने आज के वैज्ञानिक महायुद्ध का संक्षिप्त संकेत-चित्र उपस्थित कर दिया है, दिखलाया है कि प्रकृति के जिन राजसी उपकरणों को एकत्र कर हम शासन की रक्षा करते हैं उन्हीं से शासन का संहार भी हो जाता है। इस संघर्ष में मनु आहत और हतचेत होकर गिर पड़े। विद्रोही लौट गये। विद्रोही मनु (राजा) के विरोधी थे, किन्तु इड़ा (राजनीति) के नहीं। इड़ा को वे अपनी स्वामिनी मानते थे।

इधर श्रद्धा भी मनु के वियोग में चिन्तित थी। नारी में जो उसकी दयनीय किन्तु उज्ज्वल दुर्बलता (आत्मसमर्पण) है, वह श्रद्धा को मनु की कल्याण-कामना के लिए अधीर बनाये रही। नारी के जीवन का यह कैसा अभिशाप है कि जो उसे न चाहे उसी को चाहना पड़ता है; प्रसाद ने अभिशाप की इस विवशता को कितनी खरी भाषा में व्यक्त किया है—

आँसू से भींगे अंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा,
तुमको अपनी स्मित-रेखा से
यह संधिपत्र लिखना होगा।

नारी के जीवन का यह जो प्रखर सत्य है, इसे गुप्तजी ने 'यशोधरा' में नारी की सजल गरिमा से करुण सुन्दर बना दिया है—

अबला-जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

एक दुःस्वप्न देखकर दीर्घकाल के बाद मनु का कुशल-क्षेम पाने के लिए अपने पुत्र के साथ श्रद्धा उनकी खोज में निकल पड़ती है और ठीक उस समय उनके समीप पहुँचती है जब मनु मुमूर्ष पड़े हुए थे। नारी-हृदय की सम्पूर्ण स्नेह-कातरता से वह मनु को आमण्डित कर लेती है। इड़ा पहिले विस्मित होती है, किन्तु उस मर्मस्पर्शी व्यक्तित्व को देखकर अभिभूत हो जाती है। पूर्व

प्रसङ्ग जान लेने पर वह श्रद्धा की अनुवर्त्तिनी हो जाती है, मानो बुद्धि हृदय की सत्ता अङ्गीकार कर लेती है। श्रद्धा उसे बताती है, 'अपनापन चेतन का सुखमय' (चैतन्य का आत्मबोध) खो जाने के कारण सृष्टि में अशान्ति उत्पन्न हुई है। इधर हतचेतन मनु जब सचेत हुए तब नारी के इस आत्मत्याग से पराजित हो एक मौन-ग्लानि में डूब गये। प्रकृतिस्थ होने पर मानो अपने इतने दिनों के जीवन का प्रायश्चित्त करने के लिए बिना किसी के जाने अज्ञात दिशा में फिर से नई साधना के लिए चल गये। किन्तु श्रद्धा भी निश्चिन्त नहीं रह सकी, शुभकामना की तरह वह पुनः मनु की खोज मे निकल पड़ी। वह इड़ा की परिवर्तित मति को पहिचान-कर उसके विश्वास पर अपने कुमार (भावी युग के नव-मानव) को उसी के पास छोड़ जाती है, ताकि दोनों भाई-बहिन प्रजा का पालन-सञ्चालन करते रहें। यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि इड़ा, मनु के पुत्र की परिणीता हो जाती है या सहोदरा—

"कह इड़ा प्रणत ले चरण धूल
पकड़ा कुमार-कर मृदुल फूल"

यदि इड़ा परिणीता है तो कुमार को स्वयं इड़ा का पाणि-ग्रहण करना चाहिए था, न कि इड़ा कुमार का कर पकड़ती। किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि बुद्धि (इड़ा) के विनयन और हृदय (कुमार) के स्पन्दन के सहयोग से प्रसाद राजनीति का नव-सञ्चालन चाहते हैं। यहाँ 'राज्यश्री' नाटक के सम्राट् हर्ष-

वर्द्धन और बहिन राज्यश्री के सम्मिलित व्यक्तित्व का आभास मिलता है।

इसे हम यथार्थवाद की जागरूकता और आदर्शवाद की सहृदयता का योग भी कह सकते हैं अथवा परुष-सुकुमारता के साथ सुकुमार परुषता का सान्निध्य। नारी और पुरुष के जीवन में नारीत्व और पुरुषत्व का पाश्चात्य जीवन में जो अतिरेक है, यह उसके भारतीय सन्तुलन का निर्देश भी जान पड़ता है।

आख़िर मनु श्रद्धा को पुनः मिल जाते हैं, मानो तापसी को तपस्वी मिल जाता है। मनु अब एक नूतन व्यक्तित्व से ज्योतिष्मान् थे। चन्द्र और ज्योत्स्ना की भाँति मनु और श्रद्धा के व्यक्तित्व अभिन्न हो जाते हैं। इस तादात्म्य के चिदानन्द आलोक में दोनों के लिए अखिल सृष्टि एक दिव्य सुषमा से प्रफुल्ल हो उठी। यही इस काव्य का प्रतिपाद्य 'हृदय-सत्ता का सुन्दर सत्य' है।

दोनों को लौटते न देखकर इड़ा और कुमार भी प्रजामण्डल के साथ नये धर्म-राज्य का माङ्गलिक साज सजकर दर्शनों के लिए चल पड़ते हैं। वहाँ पहुँचकर वे सभी उसी महानन्द में निमग्न हो जाते हैं, जिसमें घुलकर श्रद्धा और मनु अद्वैत हो गये थे।

इस प्रकार यह काव्य सुखान्त हो गया है। प्रसाद के नाटकों में जो एक आध्यात्मिक अनुभूति है, वही अनुभूति इस काव्य में स्वर्गीय हो गई है।

इस काव्य की कुञ्जी प्रसाद की 'कामना' में है, जैसे पन्त के 'गुञ्जन' की कुञ्जी 'ज्योत्स्ना' में। 'कामना' में प्रसाद ने जीवन का जो रूपक दिया है, 'कामायनी' उसी का विस्तृत काव्य-रूप है।

यह काव्य आदि मानव के जीवन-विकास का रूपक है। प्रलय के बाद के प्रथम मनुष्य (मनु) के मनोभावों के संघर्ष और उसकी शुभ परिणति का काव्य है। जीवन की रागात्मक प्रवृत्तियों के संकलन के बाद मानसिक अशान्ति का समाधान उसने किस प्रकार पाया, इस काव्य में इसी रूपक का क्रमिक चित्र है। अपने यहाँ के पुरातन विश्वासों के अनुसार यह काव्य चला है। आदि मानव और उसके जीवन-विस्तार की कथा सभी देशों और सभी जातियों में अपनी अपनी धारणाओं के अनुसार है। कवियों ने जिस रूप में आदि मानव की कथा अपनाई है, वैज्ञानिक सिद्धान्तों का रूप उससे भिन्न है। दन्तकथाओं और आधुनिक आख्या-यिकाओं में जितना अन्तर है, उतना ही आप्त विश्वासों और वैज्ञानिक दृष्टिकोणों में। इस क्षेत्र में वैज्ञानिक यदि प्राणितत्त्व का विकास दिखलाता है तो कवि मनस्तत्त्व का। यों कहें, एक यदि जीव-शास्त्र देता है तो दूसरा जीवन-शास्त्र। अतएव कवि के कृतित्व को हम इन दृष्टिबिन्दुओं से देख सकते है—एक तो जीवन-पक्ष, दूसरे साहित्य-सम्बन्धी कला-पक्ष। कला-पक्ष यदि काव्य का शरीर है तो जीवन-पक्ष उसका प्राण।

'कामायनी' का सम्पूर्ण जीवन-निष्कर्ष इसके 'रहस्य' नामक खण्ड में है। इस काव्य की परिणति यह है—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में श्रद्धा-युत मनु बस तन्मय थे।

इस प्रकार 'कामायनी' के कवि की दृष्टि में इच्छा, क्रिया और ज्ञान के सम्मिलन में ही जीवन की पूर्णता है। यही जीवन की 'समतलता' है, जो कवि का अभीष्ट निरूपण है। जीवन की इस समतलता में ही जीव की समरसता का भी उद्रेक होता है। एक में जीवन का आचार-विधान है, दूसरे में जीवन का स्वभाव-विधान। ये दोनों मनुष्य के आत्मविकास के ही अभिन्न स्तर हैं। लोक-विकास इसी आत्मविकास का सामूहिक सङ्गठन बन जाय, 'कामायनी' के कवि का यह स्वर्गीय स्वप्न है। जीवन के इस समन्वय से सृष्टि की एकता का भी बोध होता है। उसी आध्यात्मिक एकात्मबोध की भूमिका में स्थित होकर कवि मानो मनु की दिव्य साधना के स्वर में स्वर मिलाकर उद्बोधित करता है—

सब भेद भाव भुलवाकर
दुख सुख को दृश्य बनाता,
मानव ! कह रे, 'यह मैं हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता।

यहाँ यह प्रश्न ही नहीं रह जाता कि प्रसादजी आदर्शवादी थे या यथार्थवादी। स्पष्ट ही जीवन में वे एक आध्यात्मिक

आदर्शवाद के आस्तिक पुजारी थे। यह आदर्शवाद प्रसाद के मनोजगत् का 'क्लाइमेक्स' है, किन्तु वस्तुजगत् में उनके कवि का स्वरूप 'कामायनी' की इन पंक्तियों में है—

मैं भी भूल गया हूँ कुछ
हाँ स्मरण नहीं होता, क्या था!
प्रेम, वेदना, भ्रान्ति या कि क्या
मन जिसमें सुख सोता था!

× × ×

पहेली-सा जीवन है व्यस्त
उसे सुलझाने का अभिमान—
बताता है विस्मृति का मार्ग
चल रहा हूँ बनकर अनजान।

यही खड़ी बोली के कला-युग (छायावाद) में दिया हुआ उनका अन्यमनस्क साहित्य है। प्रसाद की अन्य कविताओं, कहानियों, उपन्यासों और नाटकों में उनकी यही चित्तवृत्ति है। 'मनु' के चरित्र-निदर्शन में यह अपने पूरे एन्लार्जमेन्ट के साथ उपस्थित हुई है, किन्तु अन्त में वे मनु को उस प्रज्ञा का प्रकाश दे गये हैं, जिसे उन्होंने आत्मशान्ति के लिए अन्तिम पाथेय के रूप में रख छोड़ा था।

अपने समय की अनुभूतियों की इकाई में प्रसाद ने उस युग के फ्रेम में वर्तमान काल को भी उपस्थित किया है, जिससे कुछ

सामयिक प्रश्नों (यथार्थवाद, यन्त्रवाद, शासनवाद, वर्गवाद तथा इनके परिणाम) पर उनके स्वगत विचारों का परिचय मिलता है। इसके लिए हम 'कामायनी' के ये पृष्ठ (५१ से ५९ तथा १४०, १७१, १८६, १९९, २००) देख सकते है।

अब हम कला-पक्ष लें।

पहिली बात तो यह कि प्रसाद की कविताओं का बैकग्राउन्ड सांकेतिक रहता है, उसे भावुकों को अपने मन से तैयार कर लेना पड़ता है, यथा, प्रसाद के नाटकों के लिए रंगमंच।

जिस प्रकार प्रसाद के भाव एक सांकेतिक बैकग्राउन्ड पर चलते है उसी प्रकार उनकी भाषा भी एक सांकेतिक पद-विन्यास पर चलती है। आचार्य शुक्लजी ने निराला की भाषा के लिए लिखा है—उसमें 'समास-गुम्फित पद-वल्लरी' और 'क्रियापद का लोप' है। यही बात प्रसाद की भाषा के लिए भी कही जा सकती है। अन्तर यह है कि निराला की भाषा में बँगलापन है, प्रसाद की भाषा में हिन्दीपन। यत्र-तत्र पन्त की भाषा में भी 'समास-गुम्फित पद-वल्लरी' है, किन्तु निराला और प्रसाद की भाषा में क्रियापद के लोप से जो वाक्य-जटिलता आ जाती है, वह पन्त की भाषा में नहीं, यथा—

(१) स्मिति-स्वप्न अधर-पलकों में,
उर-अंगों में सुख-यौवन।

(२) डोलने लगी मधुर मधुवात
हिला तृण, व्रतति, कुंज, तरु-पात,
डोलने लगी प्रिये ! मृदु-वात
गुंज - मधु-गन्ध-धूलि-हिम-गात ।
(३) अनिल-पुलकित स्वर्णांचल लोल
मधुर नूपुर ध्वनि खगकुल-रोल,
सीप-से जलदों के पर खोल ।
उड़ रही नभ में मौन ।

पन्त की इस भाषा में पद-संकेत नहीं, बल्कि चित्र-संकेत हैं । प्रसाद और निराला अपने पद-संकेत में चित्र को दुर्लंध्य कर देते हैं तो पन्त के चित्र-संकेत चित्र को और भी सजीव सुन्दर । निराला की कुछ कतिपय प्रारम्भिक कृतियों में भी यह चित्र-संकेत है । प्रसादजी में जब कि शुरू से ही पद-संकेत की विचित्रता है, निरालाजी में उनके प्रौढ़-काल में । सयानापन कवि को बौद्धिक बना देता है, हार्दिक नहीं । रवि बाबू इसके अपवाद है । हाँ, प्रसाद की अपेक्षा निराला अधिक बौद्धिक हैं, जब कि अपने प्रारम्भिक कवि-जीवन में प्रसाद की अपेक्षा अधिक हार्दिक । पद-संकेत की अपेक्षा चित्र-संकेत तो कवि के शिशु-सहज मन से ही सम्भव है । पन्त में यह सहज मन था । जीवन और कला में एक मनोरम सहजता ही पन्त के कवि की साधना थी । आज पन्त का कवि भी जटिल हो गया है जीवन की दिशा में; अब

कि प्रसाद और निराला जटिल हैं कला की दिशा में। हाँ, प्रसाद और निराला के पद-संकेतों में नाटकीय वक्रता भी है।

प्रसाद, निराला और माखनलाल ये तीनों कवि द्विवेदी-युग की भाषा और काव्य-कला के विकास हैं। प्रसाद को हम पाठकजी का विकास कह सकते हैं, निरालाजी को गुप्त और हरिऔध का, माखनलालजी को 'सनेही' जी का। छायावाद की भाषा और काव्यकला के विकास हैं पन्त और महादेवी। अतएव यह स्वाभाविक है कि द्विवेदी-युग के विकासों की अपेक्षा ये दोनो अधिक प्राञ्जल कलाकार हैं। अस्तु।

'कामायनी' में मनु का चरित्र-चित्रण ही प्रस्फुट है, जिसके नाम पर यह काव्य है उसका चरित्र-चित्रण अस्फुट है। मनु का चरित्र इसमें इतना प्रधान है कि इस काव्य को 'कामायनी' न कह-कर 'मन्वन्तर' कह सकते हैं। कामायनी (श्रद्धा) का अन्त-र्व्यक्तित्व इसमें बिन्दु-विसर्ग मात्र है। उसके अन्त:सौन्दर्य को प्रस्फुटित करने के बजाय इसमें नारी के माध्यम से बाह्य सौन्दर्य्य को अधिक स्थान मिल गया है। सच तो यह है कि प्रसादजी मानुषिक सौन्दर्य, विशेषत: रमणीय सौन्दर्य और तज्जन्य रोमांस के कवि थे। उनका प्राकृतिक सौन्दर्य-चित्र भी मानुषिक सौन्दर्य से ही संश्लिष्ट है। रीतिकाल में प्राकृतिक सौन्दय यदि उद्दीपन का उपकरण मात्र था तो प्रसाद-काव्य में वह मानुषिक सौन्दर्य का चित्रपट बन गया है। प्रसाद और पन्त हमारे साहित्य में

सौन्दर्य के महाकवि हैं किन्तु पन्त हैं प्राकृतिक सौन्दर्य के कवि। पन्त के सौन्दर्य-चित्रों में प्रकृति ही मनुष्य बन गई है, प्रसाद के सौन्दर्य-चित्रों में मनुष्य ही प्रकृति बन गया है।

'कामायनी' में प्रसाद का वही मानुषिक चित्राङ्कण खूब उभरा है। 'कामायनी' के अनेक स्थलों पर उनकी कविता, चित्र-कला की तूलिका बन गई है। यथा, शरद, रजनी, मृत्यु और श्रद्धा की शोभा-समष्टि में। कवि होने के कारण प्रसादजी चित्र-कार की भाँति तूलिका का बाह्य सञ्चालन करके ही नहीं रह गये हैं बल्कि सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों को भी आकार दे गये हैं।

आचार्य शुक्लजी ने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में प्रसादजी के कवि-स्वरूप का थोड़े में परिपूर्ण चित्र यों उपस्थित कर दिया है—"जीवन के प्रेम-विलास-मय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे 'उस प्रियतम' के संयोग-वियोगवाली रहस्य-भावना में—जिसे स्वाभाविक रहस्य-भावना से अलग समझना चाहिए—रमते प्रायः पाये जाते हैं। प्रेमचर्या के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं (अश्रु, स्वेद, चुम्बन, परिरम्भण, लज्जा की दौड़ी हुई लाली इत्यादि), रङ्गरलियों और अठखेलियों, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जमती थी। इसी मधुमयी प्रवृत्ति के अनुरूप प्रकृति के अनन्त क्षेत्र में भी वल्लरियों के दान, कलिकाओं की मन्द मुसकान, सुमनों के मधुपात्र पर मँडराते मलिन्दों के गुञ्जार, सौरभहर समीर की लपक-झपक,

पराग-मकरन्द की लूट, उषा के कपोलों पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुराग-मय परिरम्भ, रजनी के आँसू से भीगे अम्बर, चन्द्रमुख पर शरद घन के सरकते अवगुण्ठन, मधु-मास की मधुवर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी। अतः इनकी रहस्यवादी रचनाओं को देख चाहे तो यह कहें कि इनकी मधुचर्या के मानस-प्रसार के लिए रहस्यवाद का पर्दा मिल गया अथवा यों कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूदकर असीम पर जा रही।"

अपनी उक्त स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुरूप ही प्रसादजी 'कामायनी' में एक काव्यानन्द छोड़ गये हैं, श्रद्धा या कामायनी के अन्तर्व्यक्तित्व से जीवन की गम्भीर प्रेरणा नहीं।

असल में प्रसादजी जीवन के पुराने साम्राज्यवादी फ़्रेम में ऐश्वर्य्य का रोमान्स दे गये हैं। वे हमारे साहित्य के गोर्की या प्रेमचन्द नहीं थे, जिन्होंने एक जर्ज्जरित राष्ट्र का अभाव-पीड़ित सुख-दुख दिया था। साथ ही, प्रसाद जी तुर्गनेव या शरद भी नहीं थे, जिन्होंने प्रसाद की सीमा के ऐश्वर्य्य के रोमान्स को जीवन का समाजवादी फ़्रेम भी दे दिया है। आज की सीमा में इन्हें भी समाजवादी नहीं कहा जा सकता किन्तु पुरानी सीमा में हम इन्हें आरम्भिक समाजवादी कह सकते हैं। और प्रसाद तो हमारे कला-जगत् में अब तक के इतिहासों के ही प्रसाद (रंगीन निष्कर्ष) रहे हैं, जिसके विरुद्ध आज नूतन इतिहास संघर्ष कर रहा है।

हाँ, अपनी इस अन्तिम काव्य कृति ('कामायनी') में प्रसाद ने गान्धीवाद को अपनी 'श्रद्धा' समर्पित कर दी है। श्रद्धा के हाथों में तकली (जीवन का सात्त्विक स्वावलम्बन) और हृदय में अहिंसा (समष्टि के प्रति एकात्मबोध या अद्वैत) स्थापित कर उसे गान्धीयुग की गरिमा दे दी है। गान्धीवाद की ओर प्रसाद की यह आस्था उनके बौद्धकालीन अन्त:संस्कार का सुपरिणाम है।

सब मिलाकर यह काव्य वर्तमान छायावाद का उपनिषद् है, पिछले युग के कवित्व का अन्तिम स्तूप है। नवीन युग इसके आगे है। वह युग गान्धीवाद के प्रति भी प्रश्नोन्मुख है। उसका प्रश्न वही है जो 'कामायनी' ने किसी दिन अपने चिन्तन में किया था—

जीवन का सन्तोष अन्य का
रोदन बन हँसता क्यों!
एक एक विश्राम प्रगति को
परिकर-सा कसता क्यों!

इस प्रश्न का समाधान प्रसाद ने श्रद्धा के गान्धीवादी व्यक्तित्व में करा दिया है, रागात्मक वैषम्यों को आध्यात्मिक सामञ्जस्य देकर। किन्तु 'भौतिक विभागों' के वैषम्य का प्रश्न आज भी बना हुआ है। गृहनीति और अन्तर्राष्ट्रीय नीति में जितना अन्तर है उतना ही गान्धीवाद और प्रगतिवाद में। अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय

नीति को भी गृहनीति में ही आना होगा, किन्तु इसके पूर्व उसे अपनी समस्याओं को प्रगतिवाद से सुलझा लेना है। प्रगतिवाद ही गृहनीति को वह स्वस्थ जीवन देगा जिसके द्वारा प्रकृतिस्थ होकर गान्धीवाद के प्रति वह 'श्रद्धा' की श्रद्धालु आत्मा पा सकेगी।

——

प्रेमचन्द और 'गोदान'

[१]

साहित्य-क्षेत्र में प्रेमचन्दजी के आने का सबसे बड़ा कारण उनकी पीड़ित आत्मचेतना है। साहित्य में अमर होकर उनकी वेदना ही वरदान हो गई। यदि वे सम्पन्नता के पालने में सुख की लहरियाँ लहराते आते तो साहित्य में वे अपना पूर्व नाम 'नवाबराय' ही सार्थक कर पाते। तब हम उनके सम्पूर्ण साहित्यिक प्रयत्नों में 'फिसानेआजाद' ही सुनते रह जाते। मुग़ल सल्तनत की जिस विरासत (उर्दू) की मूर्च्छना (टूटती हुई नवाबी) के भीतर से वे आज के जाग्रत् संसार में आये थे, उसकी रंगीनियाँ उनके शैशव की स्वप्निल पलकों में भले ही कभी तितलियों-सी नाच गई हों, किन्तु प्रेमचन्द के शैशव को असमय ही सयाना हो जाना पड़ा—परिस्थितियों के काँटों पर चलने के लिए। उर्दू का प्रभाव उनकी पलकों पर हिप्नोटिज्म बनकर नहीं छाया।

प्रसाद और प्रेमचन्द हमारे साहित्य में दो भिन्न परिस्थितियों के सामाजिक उदाहरण हैं। यदि कृति के भीतर कृतिकार को देखा जा सकता है तो हम प्रसाद को उनके 'चन्द्रगुप्त' नामक नाटक और प्रेमचन्द को 'गोदान' नामक उपन्यास में बड़ी आसानी से देख सकते हैं। प्रसादजी मध्ययुग के यदि राज-संस्करण थे तो

प्रेमचन्द प्रजा-संस्करण। राजतन्त्र बदलते गये, किन्तु जिस प्रजा के जीवन में कोई बाह्य परिवर्तन नहीं हुआ, प्रेमचन्द उसी प्रजा के चित्रकार हैं। यही नहीं, प्रेमचन्द भी स्वयं वही प्रजा हैं। यह प्रजा मुग़ल-काल से अब तक अपने आँसुओं में ही जीती आई है। प्रेमचन्द उन्हीं आँसुओं के कलाकार हैं। उर्दू-साहित्य के भीतर से वे अवश्य आये हैं किन्तु उनकी कला उर्दू की कला से उतनी ही भिन्न है जितनी मुग़ल चित्रकला से वर्तमान भारतीय चित्रकला। वर्तमान भारतीय चित्रकला कह देने से भी प्रेमचन्द की कला का स्पष्ट चित्र सामने नहीं आ सकता, क्योंकि वह छायावाद की तरह ही मुख्यतः भावात्मक है, अभावात्मक नहीं। अतएव, प्रेमचन्द की कला को हम नवीन राष्ट्रीय चित्रकला कह सकते हैं, जिसका आभास कनु देसाई में मिलता है।

और प्रसाद की कला?—प्रसाद प्रेमचन्दजी से बहुत पीछे के युग से आ रहे थे। उनकी कला को हम अजन्ता की चित्रकला कह सकते हैं जो अब अतीत की कहानी मात्र है। प्रेमचन्द ने अपनी कला का जो नवीन वातावरण दिया, उसे 'कंकाल' और 'तितली' में प्रसाद ने भी अपने ढंग से ग्रहण करने का प्रयत्न किया। प्रकारान्तर से यह प्रयत्न रवि बाबू द्वारा शरद बाबू की प्रतिभा की स्वीकृति है।

प्रसाद का मूल है संस्कृत-साहित्य, प्रेमचन्द का मूल है उर्दू-साहित्य। प्रसाद ने अपने विकास के लिए देश-काल से

केवल कला की प्रेरणा ली है, जिससे अजन्ता की चित्रकला ठाकुर-शैली की चित्रकला बन गई है। किन्तु प्रेमचन्द ने वर्तमान देश-काल से कला और जीवन दोनों ही लिया है। वर्तमान देश-काल से नगरों में परिवर्तन हो गया है, तरह-तरह की वेश-भूषा और तरह-तरह की इमारतों के रूप में। किन्तु देहातों में यह भिन्नता नहीं आ पाई है, वहाँ का जीवन आज भी अपनी एकरूपता में पूर्ववत् है। वह अपनी परिवर्त्तन-हीन जड़ता मे बाहर से देवमूर्त्तियों की भाँति ही निश्चल है। हाँ, उसका परिवर्त्तन बाहर से नहीं, भीतर से देखा जा सकता है, उसके अन्तःस्रोत में घुल-मिलकर। समय-समय पर उसने भीतर ही भीतर जीवन के अन्तःस्रोतों के कितने ही बहाव ग्रहण किये हैं। आस्तिकता के नेतृत्व में वह किसी भी नये प्रवाह को ग्रहण कर लेता है, जैसे राम और कृष्ण का सुधा-स्रोत। फलतः वह आज भीतर ही भीतर गान्धीवाद को भी ग्रहण कर रहा है। प्रेमचन्द उसी जीवन की गति-विधि के परिचायक हैं।

प्रसाद यदि पुराकालीन राजपथ के पथिक हैं तो प्रेमचन्द आज तक की देहाती पगडंडियों के बटोही। अतएव यह ठीक है कि "भविष्य में शायद भारतीय ग्रामों का इतिहास इनके उपन्यासों और कहानियों से ही पढ़ा जाय।"

अपने पथ पर चलकर प्रसाद ने पुराकाल का अध्यात्म भी दिया है, बल्कि वही उनका पाथेय बन गया है, किन्तु प्रेमचन्द

को अध्यात्म उतना अभीष्ट नहीं था जितना ऐहिक कुशल-क्षेम। प्रेमचन्द ने लौकिक प्रसंगों को अलौकिक प्रसंगों की ओट में नहीं हो जाने दिया है।

हाँ, जिस उर्दू के भीतर से वे हमारे साहित्य में आये थे, न केवल उसके कारण बल्कि वैज्ञानिक युग से पूर्व जिस समाज में उन्होंने जन्म लिया था उससे प्राप्त संस्कारों के कारण भी कुछ अन्धविश्वासों को उन्होंने कुतूहल-पूर्वक अपना लिया है, 'काया-कल्प' और 'रंगभूमि' में चमत्कारिक प्रसंग इसके उदाहरण है। जैसे हम किंवदन्तियों में रस लेते है वैसे ही प्रेमचन्दजी ने इन प्रसंगों में रस लिया है। किन्तु सामाजिक रीति-नीति में वे अन्धविश्वासी नहीं हैं। चमत्कारिक प्रसंगों में तो प्रेमचन्द जीवन-पथ पर चलते-चलते थककर मानों बच्चों की तरह कुछ कौतुक-प्रिय हो गये हैं। उनके प्रौढ़ व्यक्तित्व में बाल-सुलभ कौतुक-प्रियता कूट-कूटकर भरी थी। उनके उन्मुक्त हास्य मे मानों उनका शैशव ही प्रौढ़ता की शक्ति लेकर मुखरित होता था।

बाल-सुलभ कुतूहल के कारण ही वे बच्चों के खेल और रसिकों की महफिल का भी लुत्फ ले लेते थे। 'फिसाने आज़ाद' का अनुवाद भी दे देते थे। यहाँ तक कि दो क्षण चाटवाले की दूकान पर भी बैठ जाते थे। उनके भीतर उर्दू का चुलबुलापन बना हुआ था। किन्तु यह सब कुछ झाड़-पोंछकर वे अपनी

सजग स्थिति में आ जाते थे, उनका सयानापन शेख़ सादी, गान्धी और टाल्स्टाय की बुज़ुर्गी को अदब देता था।

उर्दू की ख्वाबी दुनिया से प्रेमचन्द क्योंकर वस्तुजगत् में आये, इस प्रश्न के उत्तर में दो बातें सामने आती हैं—एक तो उनकी अपनी अभावग्रस्त परिस्थिति, दूसरे उस परिस्थिति की प्रेरणा से वर्तमान की ओर झाँकने के लिए समाचारपत्रों का अनुशीलन। यदि उनकी परिस्थिति भावों के ऐश्वर्य्य से ही सुसम्पन्न होती तो वे ख्वाजा हसन निज़ामी से आगे नहीं जा पाते। तब वे सम्पन्नवर्ग की विडम्बनाओं को बड़ी स्पष्टता से उपस्थित नहीं कर पाते और न सामाजिक रीति-नीति को सामयिक प्रकाश दे पाते। केवल उर्दू की सीमा में रहकर प्रेमचन्द मुग़ल-काल में होते, जैसे संस्कृत और प्राकृत की सीमा में प्रसाद हिन्दू और बौद्धकाल में थे। किन्तु प्रेमचन्द जिस युग में उत्पन्न हुए थे उसी युग के पीड़ित कलाकार हो गये। अपने ही जैसे पीड़ित राष्ट्र के परित्राण के प्रयत्नों के प्रति वे सजग रहे। जीवन के शुक्लपक्ष की ओर वे निरन्तर जागरूक रहे। जब गान्धी और टाल्स्टाय से परिचय नहीं था तब वे उर्दू के दायरे में शेख़ सादी की ओर मुख़ातिब थे। यही कारण है कि हम उन्हें शुरू से ही आदर्शवाद की ओर अग्रसर पाते हैं। सामयिक जागृतियाँ उनके आदर्शवाद को प्रकाश-पट दे देती थीं। पहिले उन्हें सामाजिक जागृति मिली थी जिसे उन्होंने 'सेवा-सदन' में दिया। इसके बाद ज्यों-ज्यों

राष्ट्रीय जागृति घनीभूत होती गई वह उनकी कृतियों में प्रधान होती गई।

उनकी परिस्थिति उन्हें जीवन की नई सतह देने में सहायक हुई और अभिव्यक्ति (कला) को उर्दू की बँधी-बँधाई सीमा से बाहर ले आने में समाचारपत्रों की प्रारम्भिक प्रेरणा। यदि समाचारपत्रों का साहचर्य न प्राप्त हुआ होता तो प्रेमचन्द उर्दू शैली के क़िस्सा-गो मात्र रह जाते। निःसन्देह प्रेमचन्द का नवीन साहित्य का अध्ययन समाचारपत्रों से ही शुरू होता है, इसके बाद उस अध्ययन को अँगरेज़ी के माध्यम से अपनी ही जीवन-सतह के अन्य साहित्यो से स्थायित्व मिला। विशेषतः टाल्स्टाय ने, आगे चलकर गान्धी ने, उन्हें अधिक अपील किया। समाचारपत्रों का वातायन प्रेमचन्द ने अपने उत्तरोत्तर विकास मे भी नहीं छोड़ा, उनके सभी उपन्यासों का संसार समाचारपत्रो के पृष्ठों में देखा जा सकता है।

उर्दू से प्रेमचन्द ने सिर्फ़ एक ही सिफ़त ली, व्यावहारिक जीवन में मँजी हुई उसकी भाषा। उसी भाषा को उन्होंने हिन्दी की संस्कृत-जन्य स्निग्धता दे दी है। यों कहें कि उर्दू के मुख पर हिन्दी का आलेप कर उन्होंने भाषा को एक नवीन शोभा दे दी है। उनकी इस भाषा को राजनीतिक हिन्दुस्तानी न कहकर साहित्यिक राष्ट्रभाषा कह सकते हैं। प्रेमचन्द ने साहित्यिक भाषा भी लिखी है और आम बोलचाल की भाषा भी, किन्तु कहीं भी उनकी

भाषा में हिन्दुस्तानी का अनगढ़पन नहीं है। हिन्दुस्तानी के पक्ष में दिये हुए उनके भाषणों को हम अपवाद मानते हैं। असल में प्रेमचन्द स्वयं राजनीतिक हिन्दुस्तानी का रूप-रंग स्थिर करने में असमर्थ थे। भाषा-सम्बन्धी आज के राजनीतिक विवादों में प्रेमचन्द अपने को उस अन्वेषी की तरह भूल गये जिसके घर में स्वयं वह दीपक है जिसकी माँग बाहर हो रही है। और प्रेमचन्द स्वयं अपने को उस भाषा के आदर्श के रूप में कैसे पेश कर सकते थे, यह तो दूसरों की समझदारी का काम था। सच तो यह कि हिन्दुस्तानी के नाम पर भाषा की एक ग़लत हुलिया लेकर साम्प्रदायिक विद्वेषी स्वयं उसे ठीक रूप में न देखना चाहते हैं, न दिखाना चाहते हैं। उर्दू के भीतर से प्रेमचन्द का हिन्दी के गद्य में आगमन, काव्य में कबीर के आगमन की भाँति ही साम्प्रदायिक विद्वेष का कोई अवसर नहीं रहने दे जाता। फिर भी साम्प्रदायिक विद्वेष बना है, मानव-स्वभाव की एक विषाक्त दुर्बलता का सार्वजनिक प्रतीक बनकर। इतिहास की नई मार्जनी से आज हमारे जीवन में जो परिष्कार हो रहा है उसी का कर्तव्य-भार भारी कर देने के लिए हमारी सामाजिक विकृतियाँ राजनीतिक क्षेत्र में नाना रूप में प्रकट हो रही हैं। ख़ैर, देर या सबेर उनका अन्त तो होगा ही।

महात्माजी ने एक बार भाषा की सरलता की दृष्टि से 'चन्द्र-कान्ता सन्तति' की भाषा का दृष्टान्त दिया था। प्रेमचन्द उसी

भाषा के नूतन विकास हैं, प्रेमचन्द से उसे साहित्यिक गरिमा मिल गई है। उन्नत जनता प्रेमचन्द की भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करेगी। अन्तःप्रान्तीय आदान-प्रदान से वह उसी भाषा का शब्द-भण्डार और बढ़ा देगी। यदि हमारा सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय हो गया तो आदान-प्रदान का क्षेत्र और भी विस्तृत हो जायगा। तब आज की हिन्दी-उर्दू का संकीर्ण प्रश्न सिन्धु में विन्दु होकर लुप्त हो जायगा। आज तो हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में न केवल अन्तःप्रान्तीय साहित्य बल्कि विश्व-साहित्य के लिए भी माध्यम होने जा रही है, युग की चेतनाओं से वह शक्ति-संचय कर रही है और किसी भी अवरोध से वह गति-हीन नहीं होगी।

हम जब प्रेमचन्द की भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में आगे रखते हैं तो यह नहीं समझ लेना चाहिए कि हमारे साहित्य की भाषा उसी में सीमित हो जायगी। हाँ, अपने अन्तःप्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय विकास के साथ वह जनसाधारण के लिए साहित्य का माध्यम अवश्य बनेगी, किन्तु साहित्य की भाषा विविध कलाकारों की विविधता भी पाती रहेगी।

गद्य में प्रेमचन्द ने राष्ट्रभाषा का एक रूप दे दिया है, इधर हिन्दी के गीतिकाव्य में जो नये-नये कवि आ रहे हैं, वे कविता को भी भाषा की सहज स्वाभाविकता दे रहे हैं। इनके आदर्श वे उर्दू कवि हैं जो सहज हिन्दी लिख रहे हैं। गीतिकाव्य की

भाषा में सरलता लाने के लिए प्रयत्नशील सर्वश्री बच्चन, नरेन्द्र और सुमन का उल्लेख पीछे हो चुका है। सुमन उस सरलता में शक्ति ला रहे हैं। भावों में बच्चन अभी पिछले स्वप्नों की खुमारी से जग रहे हैं, सुमन जग चले हैं, नरेन्द्र उस खुमारी से अभी जग ही रहे थे कि कारागार-प्रवासी हो गये।

हम देखते हैं कि हिन्दी के गद्य और पद्य में भाषा परिवर्त्तन का एक द्वार खोल रही है, जिसके द्वारा साहित्य की कला दैनिक जीवन में प्रवेश कर रही है। प्रश्न यह है कि पन्त, महादेवी, निराला और प्रसाद की भाषा कहाँ रहेगी? सच तो यह कि नई भाषा के कवि और लेखक जनता के कलाकार रहेंगे और पन्त, महादेवी, इत्यादि, कलाकारों के कलाकार। जनता के कलाकार ही अपने माध्यम से जनता के मानसिक क्षितिज को प्रमुख कलाकारों के साहित्य तक पहुँचाएँगे। प्रमुख कलाकार जनता के लक्ष्य रहेंगे, माध्यमिक कलाकार उपलक्ष्य। इनमें भी जिनमें सबसे अधिक कलात्मक प्राञ्जलता होगी, उन्हीं को जनता के कलाकार ग्रहण करेंगे। आज गद्य में प्रेमचन्द को और काव्य में पन्त और महादेवी को जनता के कलाकारों ने अपना लिया है।

तो, अब हम फिर प्रेमचन्द की ओर मुड़ें। प्रेमचन्द की परिस्थितियाँ रेगिस्तान की तरह शुष्क और संतप्त थीं किन्तु उसमें भी काव्य की हरियाली ओसिस की तरह खिल पड़ी है। उनके

जीवन के इस पार्श्व की ओर सहृदय समीक्षक प्रकाशचन्द्र गुप्त की इन पंक्तियों से ध्यान जाता है—"गोदान लिखने में प्रेमचन्द की कला पूर्ण रूप से जाग्रत थी। घटनाओं पर, मानव-चरित्र पर वही अटल अधिकार। भाषा में कुछ और भी रस और कविता का आभास आ गया है। ग्राम्य जीवन के प्रति कुछ अधिक उल्लास दीखा, जैसे हिन्दी की नवीन काव्यधारा में कुछ वे भी रँग गये हों।"

प्रकाशचन्द्रजी प्रश्न करते हैं—"जीवन के हेमन्त मे इस वृद्ध साहित्य-सेवी के हृदय में वसन्त का यह गान कहाँ से फूट निकला ?" इसका उत्तर यह कि प्रेमचन्द नागरिक नहीं, ग्रामीण थे। साहित्य के नागरिक संस्करण में वे ग्रामीण सरसता के भी प्रतिनिधि थे। प्रत्येक कहानीकार के भीतर एक कवि भी जाग्रत रहता ही है, फिर प्रेमचन्द में तो स्वभावतः शैशव का तारल्य था। 'वसन्त का यह गान' उनके जीवन के हेमन्त में ही नहीं, जीवन के प्रारम्भ से ही है। उनके ग्राम्य जीवन में अभाव और दारिद्रय है, किन्तु वह प्राकृतिक वैभव से वञ्चित नहीं है। खेतों की हरियाली, आमों की बगिया, सावन की नदिया रूखे-सूखे ग्रामीण जीवन को सरसब्ज किये रहती है। इसी लिए ग्राम्यजन उमगकर फाग खेल लेते हैं, हुलस कर दीपावली मना लेते है। ग्रामगीतो की दुनिया भला कवित्व-शून्य कैसे रह सकती है! वह दुनिया कवित्व को हृदय में गुप्त धन की तरह सँजोये हुए चल रही

है। यद्यपि उसका जीवन सुरक्षित नहीं है, मुस्लिम-काल में यदि वह मुग़लों और पठानों से धर्मत्रस्त था तो आज राजनीतिक सभ्यता से अर्थग्रस्त है, तथापि प्रकृति अपनी नित-नूतन ऋतुओं से उसके हृदय को दुलराती रहती है।

ग्राम्य जीवन में जो कुछ भाव और अभाव है, प्रेमचन्द ने उसे बिना किसी दुराव के सामने रख दिया है। यदि वे नगरों में ही पलकर बड़े हुए होते तो प्राकृतिक कवित्व उनसे बहुत दूर छूट जाता। जीवन के मेज़ पर शायद एकाध गुलदस्ता ही दिखाई देता, मानो भावुकता का कृत्रिम कवित्व।

[७]

प्रेमचन्दजी की कृतियों के दो पार्श्व हैं—(१) सामाजिक और (२) राजनीतिक। दोनों पार्श्व जागृति की दिशा में चले हैं। राजनीतिक जागृति से पूर्व जो सामाजिक जागृति आई, हमारे कथा-साहित्य में प्रेमचन्द ही उसके प्रथम साहित्यकार हुए। राजनीतिक जागृति के आने पर उसके भी प्रथम साहित्यकार वे ही हुए। सामाजिक जागृति में प्रेमचन्द आर्य्यसमाज के साथ चले, राजनीतिक जागृति में गान्धी-युग की कांग्रेस के साथ। इस तरह वे उन्नीसवीं सदी और २० वीं सदी, इन दो युगों के कलाकार थे—हाँ, १९ वीं सदी के अन्तिम चरण के, बीसवीं सदी के द्वितीय चरण के।

इन दो प्रगतियों के द्योतक उनके उपन्यासों के दो खण्ड इस प्रकार किये जा सकते हैं—

(१) सामाजिक—'सेवा-सदन', 'वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'कायाकल्प', 'निर्मला', 'गबन'।

(२) राष्ट्रीय—'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्म्मभूमि'।

सामाजिक उपन्यास उनके राष्ट्रीय उपन्यासों की बुनियाद हैं। हमारा सार्वजनिक जीवन जिन सामाजिक संस्कारों का सुपरिणाम या दुष्परिणाम है, या यों कहें लोकदृष्टि के सामने हम जिन सामाजिक साँचों में ढलकर आते हैं, प्रेमचन्द के सामाजिक उपन्यास उन्हीं साँचों के दिग्दर्शक हैं। वे हमारे जीवन का फाउन्ड्री डिपार्टमेन्ट दिखलाते है, जिसके टाइप के ही व्यक्ति हमारे सामने से दिन-रात गुजरते रहते हैं। किन्तु प्रेमचन्द के ये उपन्यास दिग्दर्शक ही नहीं, संशोधक भी हैं। गलत साँचो (संस्कारों) अथवा ग़लत टाइपो (व्यक्तियों) को रद्द करके वे निर्म्माण का नया मॉडल भी देते है। यों कहें कि, निरीक्षण और सुधार उनके उपन्यासों के अन्तर्बाह्य नेत्र हैं। सुधार प्रेमचन्द ने किसी ख़ास धार्मिक संस्कृति को सामने रखकर नहीं सुझाये हैं, बल्कि उन्होंने देश-काल की पार्थिव आवश्यकताओं का ही सामयिक निर्देश कर दिया है। किसी एक संस्कृति या धर्म को न लेकर हितोपदेश के लिए उन्होंने जीवन के नीति-सूत्रों को आदर्श का बन्धन बनाकर उपस्थित किया है।

हाँ, उन्होंने जीवन का वेदान्त नहीं, बल्कि जीवन का व्याकरण दिया है।

जर्जरित हिन्दू-समाज का कायाकल्प करने के लिए आर्य्य-समाज जो नवीन सामाजिक चेतना लेकर आया, सामाजिक सुधारों के लिए प्रेमचन्द ने उसे अपना लिया। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि हिन्दू-समाज के भीतर वे नवशक्ति तो चाहते थे किन्तु शक्ति को भी दुर्बलता की तरह ही संकीर्ण नहीं बना देना चाहते थे। अतएव, आर्य्यसमाज से उन्होंने हिन्दू-समाज के लिए नवसृजन ही लिया, अन्य समाजों के लिए उसका संहारात्मक उद्वेग नहीं। वे उसके मण्डन के साथ थे, खण्डन के नहीं। आगे चलकर उनके इसी रुख को राष्ट्रीय जो हो जाना था।

जब तक प्रेमचन्दजी के सामने राष्ट्रीय भारत नहीं आया तब तक वे सामाजिक सुधारों में सामाजिक पैमाने पर चल रहे थे, जब राष्ट्रीय भारत सामने आया तो उनके राष्ट्रीय उपन्यासों में उनका सामाजिक अंग देशव्यापी समस्या का एक अन्तरंग बनकर सम्मिलित हो गया। यह राष्ट्रीय भारत महात्मा गान्धी का अपूर्व प्रतिष्ठान है। प्रेमचन्द इस प्रतिष्ठान में आर्य्यसमाज के परिष्कृत-तम प्रतिनिधि होकर सम्मिलित हो गये थे। यहाँ उनके जीवन का व्याकरण (नीति-सूत्र) महात्मा गान्धी के वेदान्त (आध्यात्मिक आदर्शवाद) की अभिव्यक्ति पा गया। प्रेमचन्द के शेख सादी और टाल्स्टाय की परिणति उसी में हो गई।

अपने उपन्यासों में प्रेमचन्दजी ने समाज और राष्ट्र का जो प्रतिनिधित्व किया है, वही अपनी कहानियों में भी। उनके उपन्यास यदि प्रबन्धकाव्य हैं तो कहानियाँ मुक्तक हैं। उनकी कहानियाँ भी सामाजिक और राष्ट्रीय खण्डों में विभाजित की जा सकती हैं, अपने-अपने दायरे के उपन्यासों के साथ ये बड़ी नौकाओं के पीछे छोटी नौकाओं की भाँति सम्बद्ध है।

उनके उपन्यासों और कहानियों का एक तीसरा खण्ड भी निश्चित किया जा सकता है, उन रचनाओं का जो केवल गार्हस्थिक या पारिवारिक हैं। उनमें कोई सार्वजनिक समस्या नहीं, बल्कि दैनिक जीवन के अभाव-अभियोग, हर्ष-विषाद और राग-विराग के द्वन्द्व हैं। 'कायाकल्प' इसी कोटि की रचनाओं का बृहत्काय है। असल में प्रेमचन्द मूलतः हिन्दी के शरच्चन्द्र थे, दोनों एक ही जमीन की उपज थे, ठेठ गँवई-गाँव की खाद से। किन्तु जिस प्रकार मूल संस्कार बनाये हुए एक ही गोद की सन्तानों में आकार-प्रकार, रूप-रंग और गति-विधि का अन्तर पड़ जाता है उसी प्रकार प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र के उत्तरोत्तर विकास में अन्तर पड़ता गया है। शरच्चन्द्र मुख्यतः परिवार और उसके सार्वजनिक रूप समाज के प्रतिनिधि थे, किन्तु प्रेमचन्द समाज के भी सार्वजनिक रूप राष्ट्र की ओर बढ़ गये थे। फिर भी सम्पूर्ण जीवन को देखने का मूल-दृष्टिकोण दोनों का एक ही है—ग्रामों के निम्नवर्ग तथा उन्हीं के नागरिक संस्करण मध्यवर्ग के भीतर से।

शरद् का मुख्य प्रयत्न आज की सामाजिक विकृतियों के प्रति मनोवैज्ञानिक दृष्टि जगाकर सनातन-समाज की संस्कृति की उज्ज्वलता का प्रकाशन और उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना है। किन्तु प्रेमचन्द का प्रयत्न यहीं तक सीमित नहीं, वे शरद के कृतित्व के ऊपर सार्वजनिक वातावरण का शेड लगा देते हैं, हमारा पारिवारिक और सामाजिक जीवन जैसा है वह इस शेड के भीतर से वैसा ही धूमिल या उज्ज्वल आलोक बाहर फेंकता है। हाँ, प्रेमचन्द सार्वजनिक वातावरण का शेड ही लगाकर नहीं रह जाते, वे इस शेड का सदुपयोग करना भी सिखाते है, सुधारों द्वारा। यहाँ वे पारिवारिक और सामाजिक जीवन के सौन्दर्य्य के प्रति सहानुभूति बनाये रखकर उससे उसी प्रकार तटस्थ हो जाते हैं जिस प्रकार सनातन-समाज से आर्य्यसमाज। हाँ, आर्य्यसमाज जब कि मूलसमाज से केवल तटस्थ रहता है, प्रेमचन्द तटस्थ-आत्मीयता रखते हैं। प्रेमचन्द सार्वजनिक जगत् की जिन-जिन सामयिक दिशाओं की ओर बढ़ते गये वहाँ वे यही तटस्थ-आत्मीयता बनाये रहे। केवल तटस्थ रहकर वे सुधारक ही हो सकते थे, समाजदग्ध प्राणी नहीं। आर्य्यसमाज सनातनसमाज से जब कि नाखून की तरह कटकर अलग हो गया था, प्रेमचन्द उसी के आँसू की तरह निकलकर सार्वजनिक जगत् को देखने-दिखाने लगे। इसी लिए वे भारत का हृदय दे सके। यों, जिस परिवार के प्राणी शरच्चन्द्र थे, उसी परिवार के प्राणी प्रेमचन्द भी। हाँ,

शरद् के आँसू बाहर नहीं निकले. वे घरों के एकान्त कक्ष में ही अपने मूक स्पन्दन से सामाजिक जीवन को उद्वेलित करते रहे।

एक ही गृह के दो बन्धुओं में से जिस प्रकार एक गृह-व्यवस्था का भार वहन करता है, दूसरा उसी गृह के संस्कार लेकर सार्वजनिक जीवन में भाग लेता है, ठीक उसी प्रकार साहित्य में शरद् और प्रेमचन्द ने घर और बाहर का प्रतिनिधित्व किया है।

आर्य्यसमाज की जागृति से पूर्व के सामाजिक जीवन से चलकर गान्धी-युग की कांग्रेस तक पहुँचकर 'गोदान' में प्रेमचन्द फिर उसी करुण गृहस्थी में लौट गये, जहाँ से वे बाहर चले थे। एक विकल विहग की भाँति जीवन के सम्बल की खोज में सार्वजनिक जगत् के विस्तीर्ण आकाश में उन्होंने यात्रा की थी, किन्तु जब फिर अपने बसेरे की ओर लौटे तो देखा कि बाहरी दुनिया की इतनी हलचलों के बावजूद भी इस गृहस्थी में अभाव हो अभाव है; जाग्रत दिवस का स्वर्ण प्रकाश प्रासादों के शिखरों को झिलमिलाता हुआ होरी की कुटिया में अन्धकार (पुञ्जीभूत ट्रेजडी) ही छोड़ता चला गया है।

[३]

'गोदान' प्रेमचन्दजी के उपन्यासों का तीसरा खण्ड है, अकेले अपने में ही पूर्ण। यह उनकी कला की अन्तिम पूर्णिमा है। उनके अब तक के कृतित्व का सारांश है। केवल इसे देख लेने पर हम अब तक के प्रेमचन्द को पा जाते हैं।

इसमें प्रेमचन्दजी ने हमारी अब तक की गार्हस्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रगति का 'सर्वे' किया है जिसका निष्कर्ष निकलता है—एक निःसहाय सूनी ट्रेजडी। अब तक जो कुछ देखा-सुना है उसे और न देखने-सुनने के लिए होरी की आँखें सदा के लिए मुँद जाती हैं। 'गोदान' में होरी स्वयं प्रेमचन्द ही तो हैं।

प्रेमचन्दजी अपने अन्य उपन्यासों में कोई न कोई कार्य्यक्रम लेकर उपस्थित हुए हैं, किन्तु 'गोदान' में उन्होंने कोई कार्य्यक्रम नहीं दिया है और न उन्होंने कोई मार्ग-प्रदर्शन ही किया है। अब तक का समग्र जीवन—क्या गार्हस्थिक, क्या सामाजिक, क्या राजनीतिक, क्या नागरिक, क्या ग्रामीण—जैसा है उसे उन्होंने इसमें जस-का-तस उपस्थित कर दिया है। हाँ, चरित्र-चित्रण का रुख बदल गया है, किन्तु भाषा और शैली वही टकसाली है जिससे हम प्रेमचन्दजी के अन्य उपन्यासों में परिचित होते आये हैं।

इस उपन्यास के धरातल पर एक ही राष्ट्र के भीतर सबके जीवन के प्रवाह अलग-अलग स्रोतों में बह रहे हैं, उनमें कोई साम-ञ्जस्य नहीं है, वे एक दूसरे से विशृङ्खल हैं, एक दूसरे से खण्डित हैं। पश्चिम में जैसे सबके क़दम एक गति में सधे हुए हैं, वैसे हमारे नहीं। इस विविध चित्रखण्ड में देहात—एक शब्द में 'होरी'—ही वह केन्द्रबिन्दु है जहाँ से हम अपने चारों ओर के अन्य वातावरणों को परख सकते हैं। क्लब, पार्टी, पिकनिक,

नाटक, कौंसिल, आफिस, कालेज, मिल, ये सब नागरिक वातावरण की सरसराहट मात्र हैं। केन्द्र-बिन्दु पर खड़े होकर हम देखते हैं—"पीठ पीछे समय, सभ्यता, समाज अपनी अविरल तीव्रगति से निकले जा रहे हैं।"

यदि सचमुच हमारा कोई समाज और राष्ट्र है तो वह 'गोदान' के केन्द्र-बिन्दु में है। इसी पर वैभव और नागरिक जीवन का दारमदार है। नागरिक जीवन का भार देहात उसी तरह ढो रहा है जिस प्रकार मिर्जा के शिकार को वह गरीब वनवासी।

स्वयं ग्रामवासी होने के कारण प्रेमचन्दजी ने ग्रामीण जीवन को बड़ी बारीकी से देखा-दिखाया है। उन्होंने दिखलाया है कि ग्रामीण भी निरे सन्त नहीं हैं। उनका श्रमिक जीवन सरल अवश्य है किन्तु उनकी व्यावहारिकता भी अपने अभावों की राजनीति (जो शोषण का अनिवार्य्य परिणाम है) लेकर वक्र हो गई है। वे उनका कृष्ण और शुक्ल दोनों पक्ष लेकर चले हैं। कहीं तो वे कृष्ण पक्ष मे घिर गये हैं, कहीं शुक्ल पक्ष में खिल गये हैं। इसमें बड़े ही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्व दीख पड़ते हैं। इतने स्पष्ट रूप से ग्रामीण जीवन को उन्होंने किसी अन्य उपन्यास में नहीं उपस्थित किया है। अन्यत्र कहा जा चुका है कि प्रेमचन्दजी के आदर्श देवताओं के रहे हैं, किन्तु 'गोदान' में उन्होंने पहिली बार मनुष्य को उसके हाड़-मांस में उपस्थित किया है, शरद की तरह उसे उसकी दुर्बलताओं

में ही दिव्य व्यक्तित्व दे दिया है। यह व्यक्तित्व देहात के भीतर होरी-दम्पती के रूप में है। प्रेमचन्द ने नगरों में भी कुछ अच्छे व्यक्तित्व देखे हैं, यथा, मिर्ज़ा ख़ुर्शेदअली, डा० मेहता, मालती, गोविन्दी। किन्तु ये समाज के वे सब्जेक्टिव चरित्र हैं जिन्होंने जीवन की डायरी से कुछ 'हिन्ट्स' लेकर अन्त में अपने जीवन को सन्तोष दे लिया है। ये अपनी इकाई में अब तक की लोकप्रगति की ऐतिहासिक सूचना नहीं है। होरी-दम्पती ही वह ऐतिहासिक सूचना है जिसमें अब तक की लोकप्रगति अपना खोखलापन दिखला गई है। यह दम्पती इतिहास का करुण उच्छ्वास है।

प्रेमचन्दजी ने अपने अभीष्ट पात्र होरी में अर्थ और धर्म का द्वन्द्व दिखलाया है। होरी का धर्म पराजित नहीं होता किन्तु अर्थ दारिद्र्य बनकर उसे ग्रस लेता है। धर्म के प्रतीक से प्रेमचन्दजी ने प्राचीन आदर्शों को श्रेयस्कर बने रहने दिया है, और आर्थिक समस्या को युग का मुख्य प्रश्न बनाकर आगे कर दिया है।

आज के अर्थग्रस्त जीवन में आत्मा के उत्थान के साधन—शिक्षा, संस्कृति, भगवद्भक्ति, दान-पुण्य, स्नेह-सहयोग, ये सब रूढ़िमात्र रह गये हैं, एक बँधे हुए अभ्यास की तरह। एक मात्र आर्थिक प्रश्न सबकी छाती पर साँप बनकर बैठा हुआ है। क्या नागरिक जीवन, क्या ग्रामीण जीवन, क्या राष्ट्रीय जीवन, क्या अन्तर्राष्ट्रीय जीवन, उसी एक विषधर के विष से जर्ज्जरित है।

वह विष कहीं वैभव की मदिर मूर्च्छना बन गया है तो कहीं दारिद्र्य की दारुण यन्त्रणा।

होरी आज की पूँजीवादी विषमता में एक निःसहाय पुकार है। उसकी ट्रेजडी में सारा उपन्यास आर्थिक प्रश्न की ओर एकोन्मुख हो गया है। कल तक प्रेमचन्द इस प्रश्न को कांग्रेस के राष्ट्रीय कार्य्यक्रम के माध्यम से हल करते रहे। किन्तु 'गोदान' में प्रेमचन्दजी ने इसका कोई हल नहीं दिया। उन्होंने तो सिर्फ दिखला दिया है कि आज भी हमारे जीवन की गति-विधि क्या है। जब तक पुरानी राजनीतिक समाज-व्यवस्था बनी हुई है तब तक यह प्रश्न हल होने का नहीं। गाँवों में उसी तरह होरी और धनिया पिसते रहेंगे; नगरों में रायसाहब, मिस्टर खन्ना, मिस्टर तंखा उसी तरह शराफ़त के चोंगे में अपनी छिपी पशुता को सम्मान्य बनाये रखेंगे। किन्तु इस युग का अर्थचक्र कुछ ऐसा सर्वग्रासी है कि उससे न तो दानवता के उपासक ही सुखी हैं और न मानवता के उपासक। आर्थिक आवश्यकताओं के घेरे में हमारा तमाम जीवन एक विडम्बना बन गया है। पूँजी का विषम वर्गीकरण एक दूसरे को मनुष्यता की सतह पर मिलने का अवसर ही नहीं देता। परस्पर मिलते हैं तो अपने-अपने स्वार्थों के ट्रिक लेकर।

प्रेमचन्द यही सब दिखलाकर विदा हो जाते हैं। जीवन के स्वस्थ विकास के लिए जिस व्यक्तित्व को समुचित सामाजिक

वातावरण की आवश्यकता है, उसे होरी-दम्पती के रूप में छोड़ जाते हैं। उसे ही लेकर हमें युग की समस्याओं पर सोचना-विचारना है। उसे हम आत्मा और शरीर (जीवन और जीवन के साधन) के प्रश्न-रूप में अङ्गीकार कर सकते हैं।

'गोदान' प्रेमचन्दजी के जीवन की सबसे बड़ी हाय है। अब तक उन्होंने चरित्र को व्यक्तिगत साधना के रूप में देखा था। मिर्जा, मेहता, मालती, गोविन्दी, अब भी इसी रूप में इस उपन्यास में सम्मिलित हैं, प्रेमचन्दजी की पुरानी चित्र-कला के नमूने होकर। हाँ, पहिले उनका दृष्टिकोण केवल नैतिक था, किन्तु अब 'गोदान' में आर्थिक हो गया है। 'गोदान' शब्द तो अब तक की नैतिकता, धार्मिकता, दार्शनिकता का एक प्रतीक मात्र रह गया है। इस उपन्यास का आर्थिक पक्ष संकेत करता है कि आज धर्म के लिए पथ कहाँ रह गया है!—"धनिया यन्त्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लाई और पति के ठण्डे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली, महाराज! घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।" इस प्रकार आज की आर्थिक ट्रेजडी में धन ही जीवन का मोक्ष बन गया है, प्राणी नगण्य हो गया है। वह अर्थ और धर्म दोनों ही द्वारा शोषित है।

असल में 'गोदान' से प्रेमचन्द युग की वास्तविकता की ओर आ रहे थे। नैतिक जीवन की आस्था अब भी उनमें शेष थी

किन्तु उसकी संकटग्रस्तता को भी उन्होंने देख लिया था। प्रेमचन्द जी की नैतिक श्रद्धा को सन्तोष गान्धीवाद से मिलता रहा है, किन्तु आर्थिक विषमता को वे एक विकट समस्या के रूप में प्रगतिशील युग के द्वार पर छोड़ गये हैं। यदि वे जीवित होते तो गान्धीवाद और समाजवाद के बीच कदाचित् एक सन्धि-शृङ्खला बन जाते।

निराला

पीछे हम दो कलाकारों से मिल आये हैं—प्रसाद और प्रेमचन्द। ये दोनों कलाकार कला के क्षेत्र में दो भिन्न युगों के प्रतिनिधि हैं—अतीत और वर्तमान। इनके अतिरिक्त हमारे सामने दो कलाकार और आते हैं—निराला और जैनेन्द्र। निराला और जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द के वातावरण से प्रेरित होकर अपनी कथा-कृतियों में वर्तमान युग की रचना भी देने का प्रयत्न किया है। इस दिशा में इन दोनों कलाकारों ने यत्किञ्चित् राष्ट्रीय और मुख्यतः सामाजिक रचनाएँ दी हैं और बजाय प्रेमचन्द के शरच्चन्द्र की ओर इनका झुकाव अधिक है। निराला की 'निरुपमा' स्पष्ट रूप से शरद्‌बाबू की 'दत्ता' (हिन्दी में 'विजया') की प्रतिच्छाया है। शरद्‌बाबू की मूलकृति पढ़ लेने पर 'निरुपमा' बिलकुल फीकी लगने लगती है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि निराला ने वही दिया जो शरद्‌बाबू ने। 'निरुपमा' तो एक संकेत-बिन्दु होकर निराला के सामाजिक धरातल को सूचित करती है। ज़मीन वही है, क़दम उनके अपने हैं—'अप्सरा', 'प्रभावती', 'अलका', 'कुल्ली भाट', इत्यादि। यही बात हम जैनेन्द्र के लिए भी कह सकते हैं। निराला और जैनेन्द्र दोनों ने शरद और प्रेमचन्द की तरह सदियों के भीतर से आते हुए

संस्कारों के समाज को लिया है किन्तु शरद उसे नवीन मनोवैज्ञानिक दर्शन दे गये, प्रेमचन्द गान्धीवादी दर्शन। भारतीय संस्कृति दोनों के भीतर है किन्तु शरद में उसका सामयिक रूपान्तर हो गया है, गान्धीवाद में उसका मूल नैतिक रूप ही रह गया है।

निराला और जैनेन्द्र ने दोनों को अलग-अलग न लेकर कुछ अपने मन के समन्वय किये है। निराला शरद और विवेकानन्द को लेकर चलते हैं, जैनेन्द्र शरद और गान्धी को। साथ ही, निराला और जैनेन्द्र छायावादी भी हैं। दर्शन की दिशा में छायावादी होना स्वाभाविक है। इनकी दार्शनिकता में कवित्व है, अपने-अपने मन के समन्वय में रविबाबू के माध्यम से।

निराला और जैनेन्द्र ने वर्तमान युग में अपनी उपस्थिति अवश्य दी है। किन्तु वे मुख्यतः पुरोमुख हैं, उसी दिशा के 'फिलासफर' हैं। दार्शनिकता इनका भोजन बन गई है—दैनिक जीवन से लेकर साहित्य तक में। अन्तर यह है कि दार्शनिकता ने निराला को क्षत्रिय बना दिया है, जैनेन्द्र को ब्राह्मण। अथवा यों कहें, ये हमारे साहित्य में शाक्त और वैष्णव हैं। निराला यदि विवेकानन्द के वेदान्त के साहित्यिक हैं तो जैनेन्द्र गान्धीवाद के साहित्यिक। पिछले धार्म्मिक कथाकारों की भाँति ही उसी परम्परा में जैनेन्द्र नूतन कथाकार है वे मुख्यतः आइडियलिस्ट हैं, कभी-कभी रियलिस्ट होने के प्रयत्न

में अपना बीभत्स मूड भी दे देते हैं। शरद् के आइडियलिज्म को उन्होंने गान्धीवाद की गुरुता दे दी है, किन्तु शरद् के रियलिज्म को वे अपना नहीं सके हैं, केवल उसकी वकालत करते हैं। कथाकृतियों में ही नहीं, स्वयं शरच्चन्द्र पर लिखा हुआ जैनेन्द्र का लेख इसका स्वतः प्रमाण है। असल में जैनेन्द्र में जीवन के भीषण प्रसंगों से आतंकित दार्शनिक शरणागति मात्र है।

मध्ययुग के ये दार्शनिक साहित्यिक (निराला और जैनेन्द्र) आज के कराल युग में अतीत की रक्षा के लिए अपनी-अपनी शैली में सचेष्ट हैं। निरालाजी अतीत के ऐश्वर्य्य की ओर उन्मुख हैं, जैनन्द्रजी उस युग के त्याग की ओर। निराला उस युग के राज-समाज की पंक्ति में हैं, जैनेन्द्र उस युग के सन्त कवियों की संगति में। इसी लिए जब कि निरालाजी गान्धी-युग से भी पीछे के व्यक्ति हैं, जैनेन्द्रजी गान्धी-युग के प्राणी। साहित्य में हम देखते है कि निरालाजी प्रसाद के सहवर्गीय हैं, जैनेन्द्रजी प्रेमचन्द के सहयोगी। भाषा, शैली और विचार में प्रसाद और निराला बहुत कुछ एकाकार हो जाते हैं, किन्तु जैनेन्द्रजी प्रेमचन्द से भिन्न हो जाते हैं। उन्होंने प्रेमचन्द के भीतर व्याप्त मुख्यतः गान्धीवाद की दार्शनिक आत्मा को ही साहित्य में अग्रसर किया है। गद्य में जैनेन्द्र का वही स्थान है, जो अपने काव्यों, लेखों, संस्मरणों में महादेवी का। प्रसाद, निराला, महादेवी और जैनेन्द्र, इन सबमें करुणा को स्थान

प्राप्त है। किन्तु प्रसाद और निराला की करुणा में दया-दाक्षिण्य है, महादेवी और जैनेन्द्र की करुणा में समर्पण। प्रसाद और निराला में सहानुभूति है, महादेवी और जैनेन्द्र में समवेदना।

तो, निरालाजी प्रसाद के साथ हैं, जैनेन्द्रजी प्रेमचन्द (काव्य-भूमि में महादेवी) के साथ हैं। निरालाजी गान्धी-युग में नहीं रह सके तो जैनेन्द्रजी प्रगतिशील युग में। कारण, विश्व-व्याप्त समस्या के समाधान के इनके साधनों में भिन्नता है। किन्तु प्रेमचन्द गान्धी-युग में ही नहीं ठहर गये। 'गोदान' से वे गान्धी-युग के सामने एक मूक प्रश्न भी छोड़ गये। जैनेन्द्र और महादेवी जब कि मुख्यतः आध्यात्मिक हैं, प्रेमचन्द आध्यात्मिक उतने नहीं थे जितने कि ऐहिक। अवश्य ही प्रेमचन्द ने जीवन में नैतिकता को अंगीकार किया है किन्तु पार्थिव जीवन की पाशविकता को मानव-सौन्दर्य देने के लिए। मानव उनके सामने 'गोदान' में आया, इसके पूर्व उनके सामने दानव और देवता ही थे। इनसे भिन्न 'मानव' का भी एक अपना अस्तित्व है, यह उन्होंने पुरानी परिपाटी के संस्कारों में नहीं जान पाया था, अतएव वे मानव को देवता बनाकर ही उपस्थित करते आये। किन्तु 'गोदान' में उन्होंने जाते-जाते मानव को देख लिया। उसमें मानवता का जो मूक प्रश्न वे छोड़ गये हैं, उस ओर प्रगतिशील युग बढ़ रहा है। किन्तु यह प्रगतिशील युग केवल राजनैतिक मानव को लेकर चल रहा है,

सांस्कृतिक मानव को नहीं। 'गोदान' से पूर्व प्रेमचन्द जिस मानव को देवता बनाकर उपस्थित करते रहे उसे शरद शुरू से सांस्कृतिक मानव बनाकर उपस्थित करते रहे। प्रेमचन्द का वह दैवी मनुष्य गान्धी की परिधि की ओर जा रहा था, शरद का सांस्कृतिक मानव रवीन्द्र की परिधि की ओर। 'गोदान' में प्रेमचन्द ने शरद के सांस्कृतिक मानव का मृत्यु-विवर्ण मुख दिखला दिया। कहा जा चुका है कि शरद वर्गहीन लेखक थे, प्रेमचन्द वर्गवादी (पीड़ितवर्गीय) लेखक। प्रेमचन्द ने 'होरी' के रूप में दिखला दिया है कि किस तरह शरद का सांस्कृतिक मानव भी अभाव-ग्रस्त परिस्थितियों में पड़कर वर्ग-वैषम्य का शिकार हो सकता है। होरी के जीवन पर क्या प्रकाश पड़ता है, इसे हम पन्तजी की 'पीताम्बर' नामक कहानी में देख सकते हैं। क्या होरी, क्या पीताम्बर, क्या इस श्रेणी का कोई भी पात्र, सभी अपनी मुखाकृतियों में अब तक के इतिहास के इजहार बन गये है। प्रेमचन्द ने जिस मानव को चित्रवत् उपस्थित किया है, पन्त ने उसी को 'युगवाणी' दी है। यों कहें कि प्रेमचन्द के कलाकार ने प्रगतिशील युग को अपनी मौन उपस्थिति दी है तो पन्त के कवि ने मुखरित होकर। प्रगतिशील युग को अपनी उपस्थिति देकर भी इन दोनों कलाकारों ने निरे राजनैतिक मानव का नहीं, बल्कि सांस्कृतिक मानव का प्रतिनिधित्व किया है। इनका मानव गान्धीवाद और मार्क्सवाद के समन्वय से नव निर्माणोन्मुख है।

हम देखते है कि पिछली पीढ़ी के साहित्यिक दायरे को छोड़कर हमारे नये साहित्य में प्रगतिशील युग के निर्देशक कलाकार के रूप में प्रेमचन्द और पन्त आये हैं। प्रेमचन्द गान्धीवाद की ओर से, पन्त छायावाद की ओर से। एक प्रकार से इन दो कलाकारों में गान्धी और रवीन्द्र ने नवीन अभिव्यक्ति ग्रहण कर ली है।

अब हम निरालाजी से साक्षात्कार करें।

प्रसाद की तरह ही निरालाजी की प्रतिभा भी प्रायः बहुमुखी है। नाटक और चम्पू को छोड़कर, साहित्य के शेष वे सभी अङ्ग निरालाजी ने दिये हैं जो प्रसादजी ने। दोनों का मूल संस्कार संस्कृत-साहित्य में है। निराला का विकास मुख्यतः बँगला के माध्यम से हुआ, प्रसाद का विकास मुख्यतः द्विवेदी-युग की खड़ी-बोली से। निराला का माध्यम खड़ीबोली के सम्पर्क में आया, प्रसाद का माध्यम बँगला के सम्पर्क में। इसी लिए दोनों की भाषा और शैली में बाह्यान्तर है, किन्तु अभ्यन्तर दोनों का एक है। दोनों कवि और विवेचक हैं। दोनों की आधार-भूमि अतीतकालीन है। दार्शनिक दोनों है, किन्तु एक की दार्शनिकता पर बुद्धिज्म की छाप है, दूसरे की दार्शनिकता पर हिन्दूज्म की। ये पूर्व-मध्यकाल और उत्तर-मध्यकाल के कलाकार हैं। दार्शनिक होते हुए भी इनमें ऐहिक आकर्षण अधिक है; इनकी आत्मा (दार्शनिकता) शरीर (पार्थिवता) से संचालित होता है, जब कि महादेवी और जैनेन्द्र की पार्थिवता दार्शनिकता से। वे निर्गुण

की ओर हैं। निर्गुण ने जैसे सगुण रूप पा लिया था, वैसे ही प्रसाद और निराला की दार्शनिकता ने ऐहिक स्वरूप ले लिया है। फलतः इनके काव्य में शारीरिक विभूतियों की प्रधानता है; प्रसाद में सौन्दर्य्य-प्रधान, निराला में शक्ति-प्रधान। निराला की अपेक्षा प्रसाद में स्वभावतः कोमलता-मधुरता अधिक है।

हमारे साहित्य में मध्यकालीन सीमा के भीतर से वर्तमानकाल में आनेवाले कवियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल इस प्रकार बनता है—हरिऔध, मैथिलीशरण, प्रसाद, निराला। एक ही युग के कवि होते हुए भी इनके साहित्य में अपनी-अपनी आकृति-प्रकृति का अन्तर है। जैनेन्द्र और महादेवी को भी हम उसी युग में रख सकते हैं, किन्तु उक्त प्रतिनिधि-मण्डल तथा इन दोनों में लक्ष्य की दिशाओं का पार्थक्य है। प्रतिनिधि-मण्डल के कवि मध्ययुग की विशेष सामाजिक सीमाओं की ओर उन्मुख हैं, किन्तु जैनेन्द्र और महादेवी के लिए देश, काल और समाज, असीम सृष्टि के माध्यम मात्र हैं।

उधर प्रतिनिधि-मण्डल के कवि अतीत की सांस्कृतिक गुफाओं में प्रवेश करते गये, इधर प्रेमचन्द और पन्त वर्तमान के संघर्ष की ओर बढ़ते गये। इस ओर-छोर के बीच जैनेन्द्र और महादेवी मध्य-बिन्दु हैं।

[२]

हमारे वर्तमान काव्य-साहित्य में निराला का वही स्थान है, जो रीतिकाल में आचार्य्य-कवि केशवदास का। वे यदि उस युग

के रीतिशास्त्री थे तो निराला छायावाद के। जिस तरह हम मध्ययुग के काव्यों का वर्गीकरण कर रीति-काल को अलग कर लेते हैं उसी तरह छायावाद-काल के काव्यों का भी वर्गीकरण किया जाय तो निरालाजी छायावाद की कविता में नवीन रीतिकाल के उद्भावक सिद्ध होंगे। वर्तमानकाल में आचार्य केशवदास के प्रतिनिधित्व को उन्होंने आधुनिकता दे दी है, यही उनकी विशेषता है। बँगला के माध्यम से आधुनिक विश्वकाव्य की कला-प्रगति से परिचित होने के कारण यह प्रतिनिधित्व रोमैन्टिक हो गया है। हिन्दी, बँगला और अँगरेजी, इन तीन संस्कारों से संयुक्त होकर निराला का वह काव्य-व्यक्तित्व बना है।

प्रकाश बाबू के शब्दों में, निःसन्देह निराला 'टेकनीशियन' हैं। उन्होंने छन्द, भाषा और अलंकार में नये-नये प्रयोग किये हैं, जिसमें सांकेतिक पदावली और मुक्त छन्द लोगों में कुतूहल उत्पन्न करते है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में—"निरालाजी की शैली कुछ अलग रही। उसमें लाक्षणिक वैचित्र्य का उतना आग्रह नहीं पाया जाता, जितना पदावली की तड़क-भड़क और पूरे वाक्य के वैलक्षण्य का।"

छन्द और भाषा निरालाजी की बिलकुल निजी चीज रही। उनकी कविता को किसी भी शब्दकोष या व्याकरण से नहीं समझा जा सकता, क्योंकि शब्दों और वाक्यों का उन्होंने इतना स्वतन्त्र प्रयोग किया है कि उनकी शैली अटपटी मालूम होती है। शब्दों

। उन्होंने प्राय: प्रतीकत्व लिया है (यथा, भर, पर, पल, रग पर ग), वाक्यों को बँगला का बन्धान दिया है, छन्दों को अँगरेजी ा स्वर। फलतः हिन्दी-संस्कारों के भावुकों को निराला की कविता समझने के लिए एक विशेष अभ्यास की आवश्यकता आ पड़ती है। जो इसके लिए अपने को प्रस्तुत नहीं करना चाहते उनके लिए निराला की कविता अवाञ्छनीय हो जाती है। एक बार किसी ने निराला की कविता की दुरूहता की उपमा ब्राउनिंग की रचनाओं से दी थी। जिज्ञासा किये जाने पर निराला ने कहा था, ब्राउनिंग की अपेक्षा मिसेज ब्राउनिंग की रचना उन्हें ज्यादा पसन्द है। इससे हम निरालाजी की कलाभिरुचि का एक सूत्र पा जाते हैं।

खड़ीबोली के इस युग के सभी कवियों ने अपने अपने संस्कारों से प्राप्त जीवन के भीतर से कुछ विशेष कवित्व दिया है—हरिऔधजी ने 'प्रिय-प्रवास', गुप्तजी ने 'साकेत', पन्तजी ने 'परिवर्त्तन', निरालाजी ने 'तुलसीदास', महादेवीजी ने गीतिकाव्य। इन काव्यों में निरालाजी का 'तुलसीदास' जितना दुरूह है, उतना कोई अन्य काव्य नहीं; साथ ही पन्तजी का 'परिवर्त्तन' जैसा उज्ज्वल प्राञ्जल है, वैसा कोई अन्य काव्य नहीं। एक दूसरी दिशा में हम देखते है कि 'परिवर्त्तन' में पन्त ने छायावाद की काव्यकला को जितना निखार दिया है, उतना ही महादेवी ने गीतिकाव्य में मर्म्मस्पन्दन भर दिया है। कला

का चमत्कार निराला में है, कला का सौन्दर्य्य पन्त में, कला का प्राण महादेवी में। और 'प्रसाद' में ?—यह सब कुछ अलसाया हुआ है।

[३]

'तुलसीदास' निराला ने ऐसे समय में लिखा जब दुर्भाग्यवश देश में साम्प्रदायिक विद्वेष का अन्धअहि फुफकारने लगा। किन्तु निराला के इस काव्य से राष्ट्रीय प्रगति को कोई क्षति नहीं होगी, कारण, एक तो यह काव्य इतना दुर्बोध है कि निरालाजी की व्याख्या से ही समझ में आ सके तो आये, दूसरे यह काव्य साम्प्रदायिक परिधि से बहुत ऊँचे एक मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक स्तर पर उठा है।

'तुलसीदास' अन्तर्मुख प्रबन्ध-काव्य है, इसलिए कि इसका कथानक बाह्य न होकर अन्तर्गुह्य है। कथानक कहानी की भूमि पर न चलकर कविता की भूमि पर चला है। यह कथा-बन्ध नहीं, भाव-बन्ध है। इसकी निबन्ध-शृंखला ने इसे प्रबन्ध-काव्य बना दिया है। 'कामायनी' भी इसी अर्थ में प्रबन्ध-काव्य है। छायावाद-शैली के काव्य मुख्यत: भाव-परक होते ही है, क्योंकि वे अन्त:कथा कहते हैं। जीवन के व्यापारों से नहीं, बल्कि जीवन की अनुभूतियों से रसोद्रेक करते हैं। अनुभूतियों के बड़े सूक्ष्म धरातल पर यह काव्य ('तुलसीदास') पद-निक्षेप करता है। इसको ग्रहण करने के पूर्व पहिले अपने को भी

सकी सतह के अनुकूल बना लेना पड़ता है, क्योंकि यह केवल भावों का नहीं, प्रज्ञा का कवित्व है। भाव इसमें आयतन मात्र हैं, जैसे कथा—भाव के लिए।

एक चिन्तन (आदि), एक अन्तर्द्वन्द्व (मध्य), एक प्रत्यावर्त्तन (अन्त) लेकर यह काव्य पूरा हो जाता है। इस निबन्ध-श्रृंखला (क्रम-बद्धता) में कवि की कला-कुशलता खिल पड़ी है। तुलसीदास के मानसिक उतार-चढ़ाव का यह काव्य सफल चलचित्र है। किसी फ़िल्म में यह तुलसीदास के व्यक्तित्व-निरूपण में प्राण डाल सकता है।

निःसन्देह इस काव्य का चित्रमय भाव-बन्ध अच्छा है, किन्तु शब्द और वाक्य-बन्ध जटिल है। एक तो भाव इतने सूक्ष्म सांकेतिक, तिस पर भाषा इतनी गहन, मानो आत्मा का बीहड़ शरीर। पद-पद पर पुस्तक के अन्त में दी हुई टीका देखनी पड़ती है, जिससे मेरे-जैसे साधारण पाठकों को कवि की गतिविधि का कुछ आभास मिल जाता है। हिन्दी में इतना क्लिष्ट काव्य कोई नहीं, न 'प्रियप्रवास' न 'साकेत', न 'कामायनी'। आखिर निरालाजी रामचन्द्रिकाकार केशवदास के आधुनिक प्रतिनिधि ही तो ठहरे।

यह काव्य निरालाजी की कला-कुशलता की कमिडी भी है और ट्रेजडी भी। ट्रेजडी स्वयं निराला की ओर से नहीं, पाठकों की ओर से। एक बार किसी तरह पढ़ लेने पर दुबारा पढ़ने को जी नहीं चाहता। यहाँ हमें निराला की प्रबन्ध-शैली

की अन्य कृतियों का स्मरण आता है—'सरोज-स्मृति', 'पञ्चवटी-प्रसंग', 'राम की शक्ति-पूजा'। इनमें से किसी एक की अभिव्यक्ति (शैली) में यह काव्य इतना दुर्गम नहीं रह जाता।

निरालाजी सहज और जटिल दोनों ही प्रकार की कला के कलावन्त है, जैसे हरिऔधजी सहज और जटिल भाषा के। एक ओर उनका 'भिक्षुक' है, दूसरी ओर स्वयं यह 'तुलसीदास'। इन दोनों के मध्य में उनकी कुछ कविताएँ वीथिका भी बन गई हैं; अधिकांशतः 'परिमल' की कविताएँ, अंशतः 'अनामिका' की कविताएँ। इनमें न तो निरी सहजता है और न निरी जटिलता, बल्कि एक मनोहर मार्दवा है। और 'गीतिका ?'—वह तो 'तुलसीदास' की पादुका है। प्रबन्ध-काव्य में निराला जितने जटिल हो सकते हैं उसका उदाहरण है 'तुलसीदास', गीतिकाव्य में जितने जटिल हो सकते हैं उसका उदाहरण है 'गीतिका'।

यह भी ज्ञात होता है कि उनकी रचनाएँ उनकी विभिन्न मनःस्थितियों (मूड्स) के संयोजन से विभिन्न रूप-रंग और आकार-प्रकार धारण करती है। उनकी यह मनःस्थितियाँ कभी तो भिन्न-भिन्न रचनाओं में अलग-अलग व्यक्त होती है, कभी एक ही रचना में गुँथ जाती हैं। फलतः किसी एक ही कविता का कोई पार्श्व जटिल हो गया है, कोई पार्श्व सहज; कहीं शुरू में, कहीं अन्त में। यथा, 'राम की शक्ति-पूजा' शुरू में जटिल है, किन्तु वह सर्वांशतः एक सी नहीं है।

[४]

निरालाजी शुरू से ही क्लिष्ट कवि नहीं रहे हैं, उनका आरम्भ सहज मन से हुआ था। 'अनामिका' का प्रथम संस्करण इसका उदाहरण है। 'परिमल' तक उनका सहज मन ही गम्भीर होता गया। 'परिमल' के बाद वे केशवदास की भाँति कला के संघर्ष मे पड़ गये। 'पन्त' और 'पल्लव', 'मेरे गीत और कला' (प्रकारान्तर से पन्त-काव्य का स्थिति-विवेचन), इसका उदाहरण है। निरालाजी को ऐसा लगा कि लोग उनके कवि की उपेक्षा कर रहे हैं, पन्त को अकारण महत्त्व दे रहे हैं, अतएव वे असन्तुष्ट हो उठे। एक तो उनका व्यक्तित्व यों ही ओजस्वी है (जो उनके कवित्व में भी स्पष्ट है) तिस पर यह रोष! बेचारी ग़रीब हिन्दी के शलभों के लिए प्रदीप की यह ज्वाला! (क्षमा करें, मैं प्रदीप की ज्वाला ही कहूँगा, दीपक की भभक नहीं, क्योंकि निराला जी में प्रतिभा की ज्योति है, यद्यपि उसकी 'लौ'—आत्मलवलीनता—बहुत तेज हो गई है)। निरालाजी की खीझ यहाँ तक बढ़ी कि महात्मा गान्धी के यह संकेत करने पर कि हिन्दी में रवीन्द्रनाथ का अभाव है, (प्रभाव तो है ही), उन्हें महात्मा से अपनी कविताएँ पढ़ने या सुनने के लिए प्रस्ताव करना पड़ा। 'प्रबन्ध-प्रतिमा' में इस विषय पर निरालाजी का संस्मरणात्मक लेख देखा जा सकता है। निरालाजी की इस हलचल को हम क्या कहें, आत्मविश्वास का अभाव तो उनमें है नहीं, अन्यथा

वे इतनी रचनाएँ कैसे देते? फिर भी मैं निरालाजी से कहना चाहूँगा कि दीपक क्या अपने प्रकाश के प्रदर्शन के लिए ही जलता है? उसे तो अपनी साधना में ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। लोग जुगुनुओं से भी अपना पथ आलोकित देखना चाहते हैं, फिर वे तो प्रदीप्त हैं। शायद निरालाजी को कुछ स्नेह चाहिए, वे मोमबत्ती की तरह ही जल-बल नहीं जाना चाहते। निरालाजी की इस विवशता को पन्तजी ने बड़ी ही सहृदयता से देखा, 'युगवाणी' में उन्होंने निरालाजी को पर्य्याप्त स्नेह दे दिया, यद्यपि उन्हीं पन्त की काव्य-त्रुटियों पर निरालाजी पाँच सौ पृष्ठ की पुस्तक लिख डालने के लिए उत्साह प्रदर्शित कर चुके हैं, जो कि अपनी ही पृष्ठ-संख्या के भार से बोझिल है। शायद यह कहा जा सकता है कि निरालाजी प्रतिभा के प्रदीप भी हैं और आवेग के इञ्जन भी। अपने आवेग का बैलेंस ठीक रखने के लिए आवश्यकता से अधिक फोर्स को बाहर फेंक देते हैं और अपनी प्रतिभा की ज्योति को आगे करके अपनी शक्ति का मार्ग आलोकित देखना चाहते हैं। निरालाजी का कवि यदि ड्राइवर की तरह सचेष्ट है (वह अवश्य सचेष्ट होगा, क्योंकि वे संस्कृति की संजीवनी लेकर चले हैं), तो लोकयात्रा के पथ में वे दूसरों के अस्तित्व का भी उतना ही ध्यान रखेंगे जितना आत्म-अस्तित्व का। दूसरों की अवहेलना उनकी ही आत्मविस्मृति की सूचना देगी।

यह प्रखर जागृति का युग है, सौर मण्डल पृथ्वी पर उतर आया है, मेदिनी के स्तर-स्तर को भेदकर प्रकाश की तीव्र किरणें अग-जग को प्रकाशित कर रही हैं, फिर कोई किसी के साथ अंधेर कैसे कर सकता है। न कोई निरालाजी के साथ अन्याय कर सकता है और न निरालाजी किसी के साथ अन्याय कर सकते हैं। निरालाजी तो इस सत्य को अपने आध्यात्मिक वेदान्त से भी जानते हैं, फिर चिन्ता क्यों ?

[५]

निरालाजी समर्थ कलाकार हैं। वे कला की नव-नव नवीनताओं की ओर उन्मुख है। कला के संघर्ष में पड़कर जहाँ उनकी प्रतिभा जटिल हो जाती है, वहाँ वह कला के अच्छे 'रेकार्ड्स' स्वीकार भी कर लेती है। प्रगतिशीलता की माँग में इधर उनकी कुछ सहज कविताएँ इसी की सूचक हैं। ऐसी कविताएँ 'नभ-तम की-सी तारिका सुघर' होकर अपनी सहज आभा में फूट पड़ी हैं।

निरालाजी अपनी वर्णनात्मक कविताओं में बड़ी अच्छी नाटकीय दृश्य-योजना उपस्थित करते हैं; पहिले वे पटोद्घाटन करते हैं, फिर क्रम-क्रम से पट-परिवर्तन। 'तुलसीदास' में यही दृश्य-योजना अन्तर्पटों में परिवर्तित हो गई है। वे अन्तर्बाह्य जगत् के कुशल डाइरेक्टर हैं। कला के संघर्ष में यदि उन्हें

बौद्धिक व्यायाम न करना पड़ता तो वे इस युग के श्रेष्ठ लोकप्रिय कवि होते।

निरालाजी ने मुक्त छन्द प्रचलित कर अपनी बाधा-बन्धन-विहीनता का परिचय दिया है। किन्तु टेकनिक के बन्धान में वे बड़े चुस्त हैं, अवश्य ही उनके तार अत्यधिक कसे जाने के कारण कभी-कभी व्यर्थ ही टूट भी जाते हैं, यथा, 'वनबेला' में। ऐसे अवसरों पर उनकी उसी संघर्ष-जन्य मनःस्थिति का परिचय मिलता है। असल में निराला एक ओर साहित्य में लड़ रहे हैं, दूसरी ओर समाज में; उन्हें दोनों ओर प्रहार ही प्रहार देख पड़ता है। किन्तु निरालाजी ने विवेकानन्द के वेदान्त से शक्ति की ही नहीं, सेवा (विनम्रता) की भी दीक्षा ली है, इसे भूल जाने के कारण ही वे संघर्ष को प्रधानता दे बैठते हैं। एक दार्शनिक कवि के लिए यह आत्म-विस्मृति कहाँ तक शोभाजनक है ? क्या इससे तपोभंग नहीं होता ?

एक ओर निरालाजी कला के संघर्ष में पड़ गये, दूसरी ओर पन्तजी जीवन के संघर्ष में। निराला का संघर्ष बहिर्मुख है, पन्त का संघर्ष अन्तर्मुख। निराला जीवन को छोड़कर कला पर केन्द्रित हो गये, पन्त कला को छोड़कर जीवन पर। निरालाजी ने समय-समय पर जिस तरह कला का निमन्त्रण स्वीकार किया है, उसी तरह वे क्या युग जीवन का भी निमन्त्रण स्वीकार करेंगे ? वे जिस मध्ययुग में बैठकर अपनी कला की चित्रशाला सजा रहे

चित्रों का रूप-रंग भी वर्तमान काल छोड़कर उसी
रहा है जिस तरह—

"वह उस शाखा का वन-विहंग
उड़ गया मुक्त नभ निस्तरंग
छोड़ता रंग पर रंग—रंग पर जीवन।"

इति शुभ।

—

पन्त और महादेवी

(१)

पन्त और महादेवी, अब तक की खड़ी बोली की कविता के सार-अंश है—सौन्दर्य और वेदना।

कला के भीतर से इतिहास ने जीवन की एक परिणति ली है पन्त में, एक परिणति महादेवी में। 'युगान्त' से पूर्व पन्त मध्य-युग के उस सम्पन्न वर्ग की भावुकता के कवि है, जिसकी रीतिकालीन रसिकता आज प्रकृति के गवाक्षों में भी झाँकने लगी है—अलमोड़ा, नैनीताल, मंसूरी, शिमला। पन्त ने उस भावुक समाज को कवि-दृष्टि की उज्ज्वलता दे दी है। रीतिकाल में प्रकृति के ऊपर कुहरे की तरह पड़े हुए तामसिक आवरण को हटाकर पन्त ने प्रकृति की स्वच्छ आत्मा दिखला दी है। महादेवी ने उस आत्मा में परमात्मा का आभास दिया है, भक्तिकाल के अन्तःस्पर्श से। पन्त ने व्यक्त प्रकृति का उज्ज्वल मुख दिखला दिया है, महादेवी ने उस मुख को उसके अव्यक्त हृदय की विकलता से मुखर कर दिया है।

पन्त की आत्मा (प्रकृति) अपनी व्यथा में मूक है, उसका बाह्य क्रीड़ा-कलरव 'मूक व्यथा का मुखर भुलाव' है, किन्तु महादेवी ने उस 'मूक व्यथा' को ही वेदना की कल्याणी वाणी दे दी है।

शृंगारिकता दोनों की ही कविता में नहीं है, बाह्य शृङ्गार उनके चित्र के फ्रेम मात्र हैं, जैसे कबीर या मीरा के पदों में शृङ्गारिक रूपक। पन्त की कविता ने सौन्दर्य्य का अबोध कैशोर्य्य लिया है, महादेवी की कविता ने वेदना का दग्ध यौवन। पन्त के सौन्दर्य्य में अनजान मधुरता है, महादेवी की वेदना में सजग दार्शनिकता। शरीर की परिधि में बँधकर भी ये निःशरीर अनुभूतियों के कवि हैं—अलौकिक आनन्द और अलौकिक वेदना के।

महादेवी के शब्द—"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद भी जीवन को अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुःख सबको बाँटकर—विश्वजीवन में अपने जीवन को, विश्ववेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।"—महादेवी इसी मोक्ष को लेकर चली हैं। इसी प्रसंग में वे पुनः कहती हैं—"मुझे दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं, एक वह जो मनुष्य के संवेदनाशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।"—महादेवी की कविता में इस दुःख का दूसरा रूप ही साकार है, इसी लिए उनकी वेदना अलौ-

किक है। दुःख का पहला रूप अब उनके संस्मरणों में आ रहा है। ठीक इसके विपरीत पन्त आह्लाद (सौन्दर्य-प्रेम) के कवि हैं।

पन्त का सौन्दर्य्य जितना अबोध है, उस सौन्दर्य्य का प्रेम भी उतना ही अबोध है। पन्तजी ने एक बार प्रसंग-वश अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में लिखा था—"मै किशोर-प्रेम का ही प्रायः चित्रण करता हूँ। 'लाई हूँ फूलों का हास, लोगी मोल लोगी मोल?' में क्या लाया या लोगी नहीं लिखा जा सकता था? 'वीणा' मे ऐसी कई कविताएँ हैं। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि प्रेम का प्रारम्भिक उद्रेक पवित्र होने के कारण, उसमें यौन-तत्त्व न रहने या अव्यक्त रहने के कारण, किशोर-किशोरियों मे सजातीय प्रेम ही—लड़की का लड़की के प्रति, लड़के का लड़के के प्रति—पहिले उत्पन्न होता है। वह प्रेम यौन-संसर्ग छोड़कर और सभी रूपों में चुम्बन, परिरम्भण, विरह आदि में अभिव्यक्ति पाते देखा जाता है। उसमें न आस्कर वाइल्ड की गन्ध है न सैफो के 'Lesbianism' की।"

पन्त का यह सौन्दर्य्य-प्रेम विश्व की सीमा में रहकर भी अलौकिक हो गया है, जैसे जीवन की सीमा में शैशव।

पन्त का यह दृष्टिकोण 'गुञ्जन' तक यत्र-तत्र चला आया है, इसके बाद 'गुञ्जन' से ही परिणत वय की अनुभूतियाँ भी कुछ-कुछ अग्रसर हो गई है—'आज रहने दो यह गृहकाज' कैशोर्य्य के बाद यौवन का उद्बोध सूचित करता है।

पन्त में पहिले जीवन के प्रति न आसक्ति थी, न विरक्ति थी; केवल सहज अनुरक्ति थी। आज वह जीवन की आसक्ति की ओर चला गया है। पन्त ने जीवन का प्रारम्भ आध्यात्मिकता से नहीं, बल्कि भौतिक सरलता से किया था, काल-क्रम से उसने यौवन की वक्रता भी स्वीकार कर ली। किन्तु उसका शैशव, उसका यौवन जड़ नहीं, चैतन्य है; इसी लिए वह पशु आकांक्षाओं मे आबद्ध नहीं, बल्कि हृदय की सहज वृत्तियो के छन्दो से बँधा है। महादेवी जिस समष्टि तक दुःख के माध्यम से पहुँचना चाहती है, पन्त उस समष्टि तक सुख के माध्यम से। इसी लिए जब कि महादेवी में एक उत्फुल्ल विषाद है, पन्त में एक प्रसन्न आह्लाद। पन्त में महादेवी की-सी आध्यात्मिक दार्शनिकता तो नहीं है, किन्तु एक भौतिक दार्शनिकता अवश्य है। 'परिवर्तन' में एक बार उस दार्शनिकता ने एक रूढ़ आध्यात्मिकता की ओर जाने का प्रयत्न किया था, किन्तु उससे सन्तोष न होने के कारण 'युगान्त' और 'ज्योत्स्ना' से उसने भौतिक सतह पर ही एक नवीन संस्कृति की दार्शनिकता का संकेत ग्रहण कर लिया। यह संस्कृति न जड़ है, न चेतन है; दोनों का एकीकरण है। न दैवी है, न आसुरी; वह है मानुषी।

इधर महादेवी को हम 'नीहार' से देखते हैं कि उनका कवि शुरू से ही एक आध्यात्मिक दर्शन लेकर चला है। सूफी कवियों जैसा प्रणय का रूपक बाँधकर (ऐहिक सीमा से परिचय

जोड़कर) जीवन को कबीर की अतीन्द्रियता और बुद्ध की करुणा के योग से असीम की ओर उन्मुख कर दिया है, लोक को लोकोत्तर बना दिया है। बुद्ध की करुणा ने उन्हें वेदना की व्यापक अनुभूति दी है, लोक-सृष्टि के साथ एक आत्मीयता स्थापित करा दी है तो कबीर की अतीन्द्रियता ने उन्हें असीम के प्रति जागरूक भी कर दिया है। सूफी पद्धति के रूपक का कारण स्वामी रामतीर्थ का मधुर अध्यात्म है। पन्त और महादेवी की दार्शनिक दिशाओं का अन्तर हम थोड़े में बड़ी स्पष्टता से ग्रहण कर लेंगे यदि हम स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ को सामने रखेंगे। विवेकानन्द के लिए आध्यात्मिकता एक उच्च माध्यम है लोक-संग्रह के लिए; रामतीर्थ के लिए लोकसंग्रह एक सीमित माध्यम है आध्यात्मिक जीवन के लिए। लोक संग्रह का पथ दोनों ने ही अपनाया है, किन्तु दोनों के लक्ष्य की दिशाएँ भिन्न हैं। इसके लिए हम दोनों कवियों की फिलासफी देख सकते हैं। पन्त की फिलासफी 'गुञ्जन' में है, महादेवी की फिलासफी 'रश्मि' में। दोनों कवियों की ये कृतियाँ वह काव्य-केन्द्र है, जहाँ से हम इनके समस्त काव्य की आत्मा में झाँक सकते हैं।

मुख्यत: 'पल्लव',, अंशत: उसके बाद की कृतियों मे पन्त वस्तुजगत् की सूक्ष्मता (भाव-जगत) की ओर उन्मुख थे, जब कि महादेवी शुरू से ही भाव-जगत् से भी आगे की सूक्ष्मता (अन्तर्जगत्) की ओर उन्मुख हैं। पन्त पहिले

जड़ के चैतन्य स्वरूप की ओर थे, महादेवी चैतन्य के अन्तः स्वरूप की ओर।

कविता में महादेवी आज भी वहीं हैं, जहाँ कल थीं; किन्तु पन्त जहाँ कल थे वहाँ से आज की ओर बढ़ गये हैं। आज उन्होंने 'युगवाणी' दी है, समाजवाद की बाइबिल; महादेवी ने छायावाद की गीता दी है—'यामा'।

पन्त की जो अनुभूतियाँ पहिले निःशरीर थीं वे अब शरीरस्थ हो गई हैं। पन्त ने पहिले अपने जिस चेतन (भाव-जगत्) के जड़रूप (वस्तुजगत्) को छोड़ दिया था, आज उन्होंने उसी को चेतन का आधार बना लिया है। आवश्यकता की दिशा में वे प्रगतिशील हैं, किन्तु आधार की दिशा में वे अपनी ही पूर्व-सीमा से पीछे गये हैं, यथा काव्य (भाव) से गद्य (यथार्थ) की ओर। यद्यपि जड़-चेतन के संयुक्तीकरण की तरह वे गीत और गद्य के समन्वय से गीत-गद्य लिख रहे हैं, किन्तु आज वे मुख्यतः गद्योन्मुख हैं। अपने द्वारा सम्पादित 'रूपाभ' के प्रथम अंक में इस दिक्परिवर्त्तन का थोड़े ही शब्दों में पन्त ने बड़ा ही मार्मिक कारण दिया था—

"कविता के स्वप्न-भवन को छोड़कर हम इस खुरदुरे पथ पर क्यों उतर आये......! इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गये हैं। श्रद्धा-अवकाश में

पलनेवाली संस्कृति का वातावरण आंदोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्नजड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण-सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। और युग-जीवन ने उसके चिरसञ्चित सुखस्वप्नों को जो चुनौती दी है उसको उसे स्वीकार करना पड़ रहा है।"

आज पन्त ने युग की वास्तविकता का आमंत्रण अवश्य स्वीकार कर लिया है, किन्तु वस्तुजगत् का प्रतिनिधि न होकर अपने ही भाव-जगत् का प्रतिनिधि रहकर।

शुरू से ही पन्त की एक ही टेक है—सौन्दर्योल्लास। 'पल्लव' के जिस कवि ने कहा था—

अकेली सुन्दरता कल्याणि !
सकल ऐश्वर्यों की सन्धान।

'युगान्त' मे उसी कवि ने यह छवि-चित्र भी दिया है—

आह्लाद, प्रेम औ' यौवन का
नव स्वर्ग : सद्य सौन्दर्य्य-सृष्टि,
मञ्जरित प्रकृति, मुकुलित दिगन्त,
कूजन-गुञ्जन की व्योम-वृष्टि !

वस्तुजगत् के आधार-पट पर पन्त इसी भाव-जगत् को प्रतिफलित देखना चाहते हैं। पहिले वे जिस जीवन-सौन्दर्य्य

के कवि थे आज वे उसी सौन्दर्य के वैरूप्य (कुरूपता) के संशोधक हैं।

पन्त ने पहिले छायावाद की ललित कला दी थी, आज वे समाजवाद की वस्तुकला दे रहे हैं। पहिले उन्होंने 'भू-पलकों पर स्वप्नजाल-सी' छाया का रेशमी संसार बुन दिया था आज वे भू-पृष्ठों पर जीवन के स्थापत्य के कठिन उपकरण चुन रहे हैं। आज वे सौन्दर्य्य के नये आकार और जीवन के नये नीड़ को रचना कर रहे हैं।

हाँ, युग के द्वार पर उन्होंने जीवन-व्यस्त वैज्ञानिक होकर नहीं, वल्कि जीवन-मुग्ध कवि होकर अपनी उपस्थिति दी है। आज उनकी भाषा बदल गई है, अभिव्यक्ति बदल गई है, दिशा बदल गई है, किन्तु 'अभिव्यक्त' वही है जिसे कल तक वे अपने भाव-काव्यों में देते आये हैं। पहिले जिस भावजगत् मे वे काव्य के माध्यम से गये थे, आज उसी भावजगत् में भूगोल, इतिहास और विज्ञान के माध्यम से जाना चाहते हैं। कुछ अंशों में वे दर्शन को भी अपनाते हैं, गान्धीवाद के रूप में। पन्त पहिले केवल सौन्दर्य्य को लेकर चले थे, आज वे सौन्दर्य्य और संस्कृति दोनों को लेकर चल रहे है। उनके सौन्दर्य्य का आधार समाजवाद (भौतिक दर्शन) है, उनकी संस्कृति का आधार गान्धीवाद (आध्यात्मिक दर्शन)। विज्ञान और ज्ञान के योग से वे जीवन का एक सन्तुलित सौन्दर्य्य देना चाहते हैं।

किन्तु सम्प्रति पन्त समाजवाद की ओर ही विशेष उन्मुख है, कारण, जो भावजगत् आज संकट-ग्रस्त हो गया है, अभावों से जिसकी इतिश्री हो रही है, पहिले उसका उद्धार चाहते हैं, सूक्ष्म को स्थूल का आधार देकर। आज वे भावों को शब्दों में नहीं, जीवन में साकार देखना चाहते है; वस्तुजगत् को ही भाव-जगत् बना देना चाहते हैं। इसी लिए पन्त ने जीवन की कलात्मक व्यञ्जना के लिए वस्तुजगत् का आधार-पट ले लिया है। आज पन्त को वह सब कुछ चाहिये जिससे मनुष्य जी जाय, वस्तुजगत् खिल जाय। मनुष्य के जीने और वस्तुजगत् के खिलने में ही जीवन और सौन्दर्य्य का अस्तित्व है। अन्यथा, आज मनुष्य मृत होता जा रहा है, वस्तुजगत् लुप्त होता जा रहा है।—

"कहाँ मनुज को अवसर
देखे मधुर प्रकृति-मुख !
भव अभाव से जर्जर
प्रकृति उसे देगी सुख ?"

—('युगवाणी')

यह उसी कवि का प्रश्न है जिसने स्वयं एक दिन हमारे काव्य-साहित्य में प्रकृति-सुषमा की चारु चित्रशाला सजा दी थी। आज वह अपनी ही सृष्टि को निराधार पा रहा है। 'पल्लव' के सुकुमारतम कवि का 'युगवाणी' की ओर आना ही युग की करालता का सबसे बड़ा प्रमाण है। कहाँ वह कोमल कल-

कण्ठ, कहाँ यह विकल युग! ओस के मृदु स्पर्श से ही सिहर जानेवाले फूल को भी आज पत्थर का भार उठाना पड़ा है।

छायावाद के कवि जब कि वस्तुजगत् की विषमता में ही अपना भाव-जगत् स्थापित करना चाहते हैं, पन्त उस विषमता से जर्जरित वस्तुजगत् में एक स्वस्थ युग देखना चाहते हैं। इसी लिए वे 'आम्र विहग' (युगवाणी) शीर्षक कविता में मानो छायावादी कवियों को सम्बोधन कर कहते हैं—

हे आम्र विहग!—
तुम ताम्र सुभग
नव पर्णों में
छिप कर उँड़ेलते कणों में
मञ्जरित मधुर
स्वर-ग्राम प्रचुर
उन्मुक्त नील,
तुम पंख ढील
उड़ उड़ सलील
हो जाते लय
निःसीम शान्ति में चिर सुखमय;—
जब नीड़-निलय में रुद्ध हृदय
हो उठता पीड़ातुर अतिशय।

* * *

हे आम्र विहग !
तुम सुनो सजग,—
जग का उपवन
मानव जीवन
है शिशिर-ग्रस्त
बहु व्याधि त्रस्त
ये जीर्ण शीर्ण, चिर दीर्ण पर्ण
जो स्रस्त, ध्वस्त, श्रीहत, विवर्ण,
क्षय हो समस्त
युग सूर्य अस्त।

[२]

पन्त और महादेवी छायावाद की कविता के दो विशेष कलाधर हैं। मध्यकाल की काव्यचेतनाओं को इन्होंने नूतन रूप-रंग और वाणी दी है। प्रकृति के मनोहर व्यक्तित्व का परिचय पन्त ने दिया, प्रकृति को पुरुष पुरातन का दिव्य परिचय महादेवी ने। प्रकृति का उल्लास पन्त में है, प्रकृति का उच्छ्वास महादेवी में। पन्त की कविता में प्रकृति एक बालिका की तरह खेलती है, महादेवी की कविता में प्रकृति विरहिणी की तरह अपने को निवेदित करती है। एक में क्रीड़ा है, दूसरे में पीड़ा। फलतः दोनों की अभिव्यक्तियों का रुख-मुख एक दूसरे से भिन्न है। अभिव्यक्तियों में अन्तर होते हुए भी दोनों ललित कला के ही कवि हैं—

चित्रकला और संगीत कला के संयोग से इन्होंने काव्य (भाव) कला की कमनीय रचना की है। यद्यपि कला का विश्वविद्यालय दोनों का एक है, किन्तु उनके जीवन की 'थीसिस' अलग-अलग है।

खड़ीबोली को काव्योचित भाषा देने का एकच्छत्र श्रेय पन्त को है। यदि पन्त का कवि नहीं आया होता तो आज छायावाद की कविता अपनी कोमल अभिव्यक्ति के लिए व्रजभाषा को अपना लेती। व्रजभाषा ने मध्ययुग से लेकर अभी कल तक जो कल-कोमल प्राञ्जलता, मनोहर चित्रचारुता प्राप्त की थी, उसे पन्त ने अपने कुल बीस-पचीस वर्षों के काव्य-जीवन में ही खड़ीबोली को दे दिया। भाषा के परिमार्जन में पन्त का महत्त्व इस लिए और भी बढ़ जाता है कि व्रजभाषा को सुघर बनाने के लिए अढ़ाई-तीन सौ वर्षों के बीच में एक के बाद एक सैकड़ों कवियों का सहयोग मिलता गया, किन्तु पन्त को अकेले ही खड़ीबोली का सौन्दर्य्य-विन्यास करना पड़ा है। उन्होंने खड़ीबोली को जो व्यक्तित्व दे दिया है उसका अतिक्रम कर आज भी कोई आगे नहीं जा सका है।

पन्त ने जिस खड़ीबोली को रमणीयता दी, महादेवी ने उसे मार्म्मिकता देकर प्राण-प्रतिष्ठा कर दी। ताजमहल के भीतर उन्होंने दीपक जला दिया। भाषा के सौन्दर्य्य में पन्त बेजोड़ है, अभिव्यक्ति की मार्म्मिकता में महादेवी। उधर प्रसाद और निराला ने छायावाद को प्रबन्धात्मक व्यक्तित्व दे दिया है, द्विवेदी-

युग के 'पद्य-प्रबन्ध' को चरम उत्कर्ष। इधर पन्त और महादेवी ने छायावाद के मुक्तक को एक निश्चित व्यक्तित्व दे दिया है। द्विवेदी-युग की 'झंकार' को इनके द्वारा सार्थकता प्राप्त हो गई है। ब्रजभाषा में जैसे मुक्तक का एक टकसाली रूप बन गया, वैसे ही पन्त और महादेवी की कविताओं से छायावाद के मुक्तक का भी। नये-नये कवि उन्हीं के मॉडल पर अपनी रचना करने लगे। द्विवेदी-युग की खड़ीबोली में यह श्रेय गुप्तजी की कविताओं को प्राप्त था। कुछ अंशों में माखनलाल, प्रसाद और निराला को भी यह श्रेय दिया जा सकता है, किन्तु इनकी कला को सम्मान देकर भी नवयुवकों ने पन्त और महादेवी की कला को ही अधिक मनोयोग से अपनाया। गुप्तजी के बाद माखनलाल, माखनलाल के बाद प्रसाद, प्रसाद के बाद पन्त, पन्त के बाद महादेवी की लोकप्रियता अधिक बढ़ी। नवयुवक भावोच्छल होते हैं, वे तरलता अधिक चाहते हैं। तरलता के लोभ में वे सुरुचि को भी छोड़ बैठते हैं, इसी कारण वे उर्दू शायरी को भी अपना बैठते हैं। महादेवी की तरलता में एक आर्य्य कवित्व है, उसने नवयुवकों को रोमांस का मनोहर संयम दिया है। महादेवी की कविता उन्हें मानो अपने ही जी की गहरी बात-सी लगती है, वे उसे अपना अन्तःकरण दे देते हैं। सच तो यह है कि महादेवी की कविताओं के कारण ही हिन्दी में उर्दू भावुकता की लोकप्रियता घट गई है।

मुक्तक के क्षेत्र में पन्त और महादेवी में उतना ही अन्तर है जितना सूर और मीरा में। पन्त मुख्यत: वर्णनात्मक हैं, महादेवी मुख्यत: उद्‍गारात्मक। साथ ही एक में सूर-जैसा सख्यभाव है, दूसरे में मीरा जैसा माधुर्य भाव। साथ ही बड़ी कहानियों और छोटी कहानियो की तरह इनकी कविताओं को हम दीर्घ-मुक्तक और संक्षिप्त मुक्तक भी कह सकते है। पन्त में भावों का विशद प्रसार है, महादेवी में हृदय का संक्षिप्त संकलन। पन्त ने उद्यान दिया है, महादेवी ने पुष्पस्तबक। पन्त की यह बहुत बड़ी खूबी है कि भावों का विशद क्षेत्र लेकर भी अपनी कविता के 'पल्लव' और 'गुंजन' में सौन्दर्य (भाषा) और माधुर्य (रस) का ताल और स्वर की तरह सन्तुलन बनाये रखा है। यह बड़े सधे हुए हाथों का काम है। काव्यकला की यह साधना अन्यत्र दुर्लभ है, इसी साधना में पन्त की लोकप्रियता छिपी है।

छायावाद के मुक्तकों में एक नई विशेषता रिपीटीशन की आई है। इस दिशा में अधिकांश कवियों ने पुराने कवियों की-सी टेक ही अपनाई है, किन्तु पन्त ने कविता में रिपीटीशन का उपयोग विशेष कलात्मक रूप से किया है और बहुत अच्छा किया है। पन्त का रिपीटीशन उस संगीत की तरह है, जो सब कुछ बजाकर अपनी अन्तिम ताल में प्रथम ताल को छू देता है। उनके रिपीटीशन से कविता में मर्मव्यंजकता आ जाती है। फिर भी संगीत पन्त का लक्ष्य नहीं है। पन्त में चित्रकला प्रधान है, महादेवी में

संगीत-कला। संगीत पन्त का माध्यम है, चित्र महादेवी का। पन्त की कविता चित्र की रेखाओं जैसी पुष्ट है, महादेवी की कविता संगीत के प्रवाह जैसी तरल। पन्त की कविता आकुंचित है, महादेवी की कविता आस्फालित। निराला की कविता के पद-विन्यास में तो आकुंचन है किन्तु भावों मे आस्फालन है। प्रसाद की कविता में केवल एक श्लथ स्फालन।

आज तो पन्त संगीत को छोड़ चले है, किन्तु महादेवी उसको टेक बनाये हुई है। गीतिकाव्य को महादेवी से विशेष गौरव मिला है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में—"गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवीजी को हुई वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्राञ्जल प्रवाह और कहीं मिलता है, न हृदय की ऐसी भाव-भंगी। जगह-जगह ऐसी ढली हुई और अनूठी व्यञ्जना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।"

पन्त और महादेवी की कला और जीवन में एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि शुरू से ही पन्त साकारता की ओर उन्मुख रहे है, महादेवी निराकारता की ओर। पन्त कहते हैं—

राशि राशि सौन्दर्य, प्रेम,
आनन्द, गुणों का द्वार,
मुझे लुभाता रूप, रंग,
रेखा का यह संसार।

—('युगवाणी')

महादेवी कहती है—

विकसते मुरझाने को फूल
उदय होता छिपने को चन्द,
शून्य होने को भरते मेघ
दीप जलता होने को मन्द;
यहाँ किसका अनन्त यौवन !
अरे अस्थिर छोटे जीवन !

पन्त कहते हैं—

सच है, जीवन के वसन्त में
रहता है पतझार,
वर्ण-गन्धमय कलि-कुसुमों का
पर ऐश्वर्य्य अपार ।

'पल्लव' में भी पन्त ने कहा था—

म्लान कुसुमों की मृदु मुसकान
फलों में फलती फिर अम्लान,
महत् है, अरे, आत्मबलिदान,
जगत केवल आदान-प्रदान ।

महादेवी ने जिस सत्य को 'एक मिटने में सौ वरदान' कहकर जीवन का आध्यात्मिक दर्शन दिया था, पन्त ने उसी सत्य को जीवन का भौतिक दर्शन दे दिया है। आज पन्त के कलात्मक टेकनिक भले ही बदल गये हों, किन्तु मूलतः आज पन्त का

दृष्टिकोण वही है जो उनके पूर्व काव्यों में। हाँ, उनका दृष्टिकोण पहिले भावात्मक था, अब व्यावहारिक हो गया है।

महादेवी स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर हैं—शरीर से मूर्त्ति, मूर्त्ति से चित्र, चित्र से संगीत (आत्मा)। पन्त सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर—संगीत से चित्र, चित्र से मूर्त्ति. मूर्त्ति से शरीर (मांसलता)।

पन्त पहिले जीवन का स्थूल पार्थिव दृष्टिकोण रखते हुए भी कला की सूक्ष्मता की ओर थे, आज वे पार्थिव दृष्टिकोण के साथ ही पार्थिव कला की ओर भी आ गये हैं। आज तूलिका और लेखनी का स्थान छेनी और कुदाली ने ले लिया है, रूप-रंग का स्थान रक्त-मांस ने।

'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' उनकी इस नई दिशा की काव्यकृतियाँ हैं। इन कृतियों से पन्त की रचनाओं का उत्तरार्द्ध बनता है। इनके पूर्व की कृतियाँ ('वीणा', ग्रन्थि', 'पल्लव', गुञ्जन') उनके पूर्वार्द्ध में हैं।

पहिले उन्होंने चित्रकला दी थी, आज वे भास्कर-शिल्प भी दे रहे है। युग जिस मांसल मनुष्य को जन्म देने जा रहा है, वे उसी की मूर्त्ति गढ़ रहे है, जीवन के रूक्ष किन्तु अनिवार्य्य उपकरणों को लेकर। उनका यह शिल्प अभी प्राथमिक अवस्था में है, अभी वे नई कला की संगतराशी कर रहे हैं। जब यह कला भी मूर्तिमन्त होगी तब उसी तरह भली लगने लगेगी

जैसे द्विवेदी-युग के बजाय छायावाद की कविता। इसके लिए भी कुछ समय अपेक्षित है। आज पन्त की कविता में जो रूक्षता है वह पन्त के कवि की नहीं, बल्कि काव्य के नये उपकरणों की रूक्षता है। 'घननाद' में ठङ्-ठङ्-ठ ही तो सुना जा सकता है।

जीवन के प्रहर्ष (भावजगत् के अबोध उल्लास) में पन्त का जो कवि सुकुमार था, आज वह जीवन के संघर्ष (युग के जागरण) में परुष हो गया है। इसी लिए जीवन के शैशव में सौन्दर्य्य-जगत् को देखने का जो दृष्टिकोण था, वह जीवन के तारुण्य में बदल गया है। आज उनकी कला बदली है, दृष्टिकोण बदला है, किन्तु लक्ष्य उनका भी एक नवीन भावजगत् है जो आज के अभावों का भावी स्वप्न है।

आज पन्त ने जीवन के कठोर सत्यों की कला ली है; आज वे लहरों पर नहीं, पत्थरों पर कला को गढ़ रहे हैं। जीवन को पन्त फिर उसके अथ से उठा रहे हैं, अब तक के इतिहासों को छोड़कर मानो एक नये प्रस्तर-युग से जीवन का प्रारम्भ कर रहे हैं, उसे अर्थ, धर्म, कला और संस्कृति का नया परिचय देने के लिए। उनकी फिलासफी, उनकी आकांक्षा, उनकी निर्माण-कला 'युगवाणी' में पुञ्जीभूत है।

[३]

'युगान्त' से पन्त हिन्दी-कविता का एक युग पीछे छोड़ते हैं, एक युग आगे शुरू करते हैं। फलतः इसमें पिछले युग के

प्रतीक-स्वरूप पन्त की ललितकला की भी एकाध कविताएँ हैं और अधिकांशतः नये युग की वस्तुकला की। 'गुञ्जन' से ही पन्त ने वस्तुकला की साधना शुरू कर दी थी और आश्चर्य कि उसमें उन्हें प्रारम्भ में ही बड़ी परिष्कृत सफलता मिली। 'युगान्त', 'गुञ्जन' की ललित और वस्तु कला का शार्टकट है। 'गुञ्जन' में ये दोनों कलाएँ अलग अलग कविताओं में अलग अलग हैं, किन्तु 'युगान्त' में पन्त ने प्रायः इनका एकीकरण करने का यत्न किया है। सब मिलाकर 'युगान्त' मे ललित कला के साथ वस्तुकला गौणरूप में सम्मिलित है। किन्तु 'युगवाणी' में इसका वैपरीत्य है, उसमें वस्तुकला की प्रधानता है, ललित कला गौणरूप में सम्बद्ध है। 'ग्राम्या' में उनकी वस्तुकला निखर गई है, उसमें भास्कर-शिल्प ने कलात्मक मूर्त्तिमत्ता पा ली है। उसमें समाजवाद की मुक्तक कला एक अवस्थान पा गई है। 'ग्राम्या' पन्त के गन्तव्य का सही प्रारम्भ है, जैसे छायावाद की कला में 'वीणा'।

मूर्त्तिकला के निर्म्माण मे पन्त का आदर्श चित्रकला है। उसी के 'मॉडल' पर वे अपनी मूर्त्तियों की रचना करते हैं। यों कहें कि छायावाद की ललित कला गाद्यिक उपकरणों को लेकर पन्त द्वारा ठोस बन रही है। कविता के बाद जिस प्रकार रविबाबू ने चित्रकला की रचना की, उसी प्रकार पन्त ने छायावाद की चित्रकला के बाद समाजवाद की मूर्त्तिकला की। चित्रकला में जिस प्रकार

रविबाबू अपनी काव्यकला को नहीं भूल सके, उसी प्रकार पन्त अपनी चित्रकला को। मूर्त्तिकला का आधार पाकर उनकी चित्रकला सुदृढ़ पृष्ठ पा गई है। जिस प्रकार चित्रकला में भाव गतिशील रहते हैं, उसी प्रकार पन्त की मूर्त्तिकला में चित्र गतिशील हो गये हैं, निश्चल मूर्त्ति ही नहीं। 'युगवाणी' में 'गंगा की साँझ', 'जलद', 'प्रलय-नृत्य' इसके उदाहरण हैं। भविष्य के स्वप्नों में बैठकर 'युगवाणी' में यत्र-तत्र पन्त ने ललित कला का नवीन दृढ़ रूप भी दिया है, यथा, 'मधु के स्वप्न', 'पलाश', तथा अन्य प्राकृतिक चित्रों में।

'गुञ्जन' से 'युगान्त' तक हम मुख्यतः कलाकार पन्त से ही परिचित रहे हैं। उनमें उनका विवेचक प्रच्छन्न रहा है। 'ज्योत्स्ना' में भी उनका कलाकार ही प्रमुख रहा है, विवेचक माध्यम। किन्तु 'युगवाणी' में विवेचक ही प्रमुख है, कलाकार माध्यम। इस भिन्नता के होते हुए भी 'युगवाणी' में वे ही भाव, विषय, आलम्बन और विचार हैं जो 'ज्योत्स्ना' में; दोनों के शरीरों में अन्तर है, शिराओं में नहीं;—वह रूप-नाट्य है, यह मुक्तक काव्य। उसमें गीत और गद्य है, इसमें गीत-गद्य। इस गीत-गद्य ('युगवाणी') द्वारा पन्त ने काव्यकला के कुछ नये टेकनिक सामने रखे हैं। पन्त की पिछली ललित कला में जो आकुंचन है, वही इस नई वस्तुकला में भी। पिछली कला में यदि पन्त नवनीत की तरह जम गये हैं तो इस कला में बर्फ की तरह। पन्त में स्वभावतः

आस्फालन नहीं है, यदि उनमें कहीं कुछ आस्फालन है तो वह उनकी जमी हुई तरलता का उन्मेष है। आस्फालन की कला के टेकनीशियन निराला हैं। पन्त की आकुञ्चित कला छोटे से छोटे छन्दों में चली गई है; निराला की स्फीत कला मुक्त छन्द की ओर। पन्त की रुचि कला के 'शार्टकट' की ओर है, निराला की रुचि 'लांगडिज़ाइन' की ओर। पन्त एक सुस्थ कलाकार हैं, निराला उद्बुद्ध।

'युगवाणी' में पन्त पहिली बार टेकनीशियन होकर आये हैं। अपनी ललित कला की रचनाओं में भी पन्त टेकनीशियन हैं, किन्तु उनमें काव्यात्मकता (रसात्मकता) इतनी प्रधान है कि उनके टेकनीशियन को विरल करके हम नहीं देख पाते। 'युगवाणी' में काव्यात्मकता इतनी कम है कि उसमें उनका टेकनीशियन छिप नहीं पाता।

'युगान्त' में पन्त निर्देशक कलाकार थे, 'युगवाणी' में व्याख्याता कलाकार, 'ग्राम्या' में दर्शक कलाकार। 'युगान्त' में पन्त ने अपने कवि को जगाया है, 'युगवाणी' में समुदाय को उद्बोधित किया है, 'ग्राम्या' में समुदाय के एक विशेष अंग को उपस्थित किया है। आगे ?

'युगान्त' में पन्त ने छायावाद की कला को अन्तिम श्री दी, 'युगवाणी' में उसकी अवशेष-श्री (पतझर) दी, 'ग्राम्या' में 'युगवाणी' को चित्रवाणी दी। 'युगवाणी' में चित्रकला,

मूर्तिकला का मॉडल रही है; 'ग्राम्या' में मूर्तिकला, चित्रकला में ढल गई है।

हिमालय की शोभा-श्री ने पन्त को कलाकार बनाया, कालाकाँकर के ग्राम्य जीवन ने उन्हें मानव-समाज के निकट पहुँचाया। अंशतः 'गुञ्जन' तक पन्त का एक काव्य संस्कार पूर्ण हो जाता है, 'युगान्त' और 'युगवाणी' से नये काव्य-संस्कार, फलतः नये जीवन-संस्कार की पन्त द्वारा आत्मसाधना शुरू होती है। 'ग्राम्या' में आकर उस साधना ने अपनी पहिली सिद्धि प्राप्त कर ली है।

एक युग में 'पल्लव' के जिस भावप्रवण कवि को हम देख चुके हैं वही कवि इतने स्वाभाविक ग्राम्यचित्र भी दे सकता है, इस पर आश्चर्य्य इसलिए नहीं होता कि पन्त के कलाकार में कला की क्षमता है।

कला की दृष्टि से 'कर्मवीर' ने 'ग्राम्या' पर एक प्रकाश डाला था। उसी के शब्दों में—"ग्राम्या" पके हुए धान से लहलहे खेत के समान है। उसमें ग्रामीण जीवन की आर्द्रता है। 'वस्तीट' कवि ने कई सुन्दर चित्र-राग आलेखित किये हैं। भाषा और भी सरल, ओघवती और सजीव हो उठी है। कई जगह ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग है जो 'लोकल कलर' उत्पन्न करता है।...... 'धोबियों का नाच', 'चमारों का नाच', 'कहारों का रुद्रनर्तन', इफेक्ट की दृष्टि से अत्यन्त ललित चीजें हैं।......'भारतमाता ग्रामवासिनी', 'अहिंसा', 'चरखा-गीत' सुन्दर संघगीत (कोरस) है।"

आस्फालन नहीं है, यदि उनमें कहीं कुछ आस्फालन है तो वह उनकी जमी हुई तरलता का उन्मेष है। आस्फालन की कला के टेकनीशियन निराला हैं। पन्त की आकुञ्चित कला छोटे से छोटे छन्दों में चली गई है; निराला की स्फीत कला मुक्त छन्द की ओर। पन्त की रुचि कला के 'शार्टकट' की ओर है, निराला की रुचि 'लांगडिज़ाइन' की ओर। पन्त एक सुस्थ कलाकार हैं, निराला उद्बुद्ध।

'युगवाणी' में पन्त पहिली बार टेकनीशियन होकर आये हैं। अपनी ललित कला की रचनाओं में भी पन्त टेकनीशियन हैं, किन्तु उनमें काव्यात्मकता (रसात्मकता) इतनी प्रधान है कि उनके टेकनीशियन को विरल करके हम नहीं देख पाते। 'युगवाणी' में काव्यात्मकता इतनी कम है कि उसमें उनका टेकनीशियन छिप नहीं पाता।

'युगान्त' में पन्त निर्देशक कलाकार थे, 'युगवाणी' में व्याख्याता कलाकार, 'ग्राम्या' में दर्शक कलाकार। 'युगान्त' में पन्त ने अपने कवि को जगाया है, 'युगवाणी' में समुदाय को उद्बोधित किया है, 'ग्राम्या' में समुदाय के एक विशेष अंग को उपस्थित किया है। आगे?

'युगान्त' में पन्त ने छायावाद की कला को अन्तिम श्री दी, 'युगवाणी' में उसकी अवशेष-श्री (पतझर) दी, 'ग्राम्या' में 'युगवाणी' को चित्रवाणी दी। 'युगवाणी' में चित्रकला,

मूर्तिकला का मॉडल रही है; 'ग्राम्या' में मूर्तिकला, चित्रकला में ढल गई है।

हिमालय की शोभा-श्री ने पन्त को कलाकार बनाया, कालाकाँकर के ग्राम्य जीवन ने उन्हें मानव-समाज के निकट पहुँचाया। अंशतः 'गुञ्जन' तक पन्त का एक काव्य-संस्कार पूर्ण हो जाता है, 'युगान्त' और 'युगवाणी' से नये काव्य-संस्कार, फलतः नये जीवन-संस्कार की पन्त द्वारा आत्मसाधना शुरू होती है। 'ग्राम्या' में आकर उस साधना ने अपनी पहिली सिद्धि प्राप्त कर ली है।

एक युग में 'पल्लव' के जिस भावप्रवण कवि को हम देख चुके हैं वही कवि इतने स्वाभाविक ग्राम्यचित्र भी दे सकता है, इस पर आश्चर्य्य इसलिए नहीं होता कि पन्त के कलाकार में कला की क्षमता है।

कला की दृष्टि से 'कर्मवीर' ने 'ग्राम्या' पर एक प्रकाश डाला था। उसी के शब्दों में—"ग्राम्या" पके हुए धान से लहलहे खेत के समान है। उसमें ग्रामीण जीवन की आर्द्रता है। 'एस्थीट' कवि ने कई सुन्दर चित्र-राग आलेखित किये हैं। भाषा और भी सरल, ओजवती और सजीव हो उठी है। कई जगह ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग है जो 'लोकल कलर' उत्पन्न करता है।...... 'धोबियों का नाच', 'चमारों का नाच', 'कहारों का रुद्रनर्तन', इफेक्ट की दृष्टि से अत्यन्त ललित चीजें हैं।......'भारतमाता ग्रामवासिनी', 'अहिंसा', 'चरखा-गीत' सुन्दर संघगीत (कोरस) है।"

आस्फालन नहीं है, यदि उनमें कहीं कुछ आस्फालन है तो वह उनकी जमी हुई तरलता का उन्मेष है। आस्फालन की कला के टेकनीशियन निराला हैं। पन्त की आकुञ्चित कला छोटे से छोटे छन्दों में चली गई है; निराला की स्फीत कला मुक्त छन्द की ओर। पन्त की रुचि कला के 'शार्टकट' की ओर है, निराला की रुचि 'लांगडिज़ाइन' की ओर। पन्त एक सुस्थ कलाकार है, निराला उद्बुद्ध ।

'युगवाणी' में पन्त पहिली बार टेकनीशियन होकर आये हैं। अपनी ललित कला की रचनाओं में भी पन्त टेकनीशियन है, किन्तु उनमें काव्यात्मकता (रसात्मकता) इतनी प्रधान है कि उनके टेकनीशियन को विरल करके हम नहीं देख पाते। 'युगवाणी' में काव्यात्मकता इतनी कम है कि उसमें उनका टेकनीशियन छिप नहीं पाता।

'युगान्त' में पन्त निर्देशक कलाकार थे, 'युगवाणी' में व्याख्याता कलाकार, 'ग्राम्या' में दर्शक कलाकार। 'युगान्त' में पन्त ने अपने कवि को जगाया है, 'युगवाणी' में समुदाय को उद्बोधित किया है, 'ग्राम्या' में समुदाय के एक विशेष अंग को उपस्थित किया है। आगे ?

'युगान्त' में पन्त ने छायावाद की कला को अन्तिम श्री दी, 'युगवाणी' में उसकी अवशेष-श्री (पतझर) दी, 'ग्राम्या' में 'युगवाणी' को चित्रवाणी दी। 'युगवाणी' में चित्रकला,

मूर्तिकला का मॉडल रही है, 'ग्राम्या' में मूर्तिकला, चित्रकला में ढल गई है।

हिमालय की शोभा-श्री ने पन्त को कलाकार बनाया, कालाकाँकर के ग्राम्य जीवन ने उन्हें मानव-समाज के निकट पहुँचाया। अंशतः 'गुञ्जन' तक पन्त का एक काव्य संस्कार पूर्ण हो जाता है, 'युगान्त' और 'युगवाणी' से नये काव्य-संस्कार, फलतः नये जीवन-संस्कार की पन्त द्वारा आत्मसाधना शुरू होती है। 'ग्राम्या' में आकर उस साधना ने अपनी पहिली सिद्धि प्राप्त कर ली है।

एक युग में 'पल्लव' के जिस भावप्रवण कवि को हम देख चुके हैं वही कवि इतने स्वाभाविक ग्राम्यचित्र भी दे सकता है, इस पर आश्चर्य्य इसलिए नहीं होता कि पन्त के कलाकार में कला की क्षमता है।

कला की दृष्टि से 'कर्मवीर' ने 'ग्राम्या' पर एक प्रकाश डाला था। उसी के शब्दों में—"ग्राम्या" पके हुए धान से लहलहे खेत के समान है। उसमें ग्रामीण जीवन की आर्द्रता है। 'एस्थीट' कवि ने कई सुन्दर चित्र-राग आलेखित किये हैं। भाषा और भी सरल, ओघवती और सजीव हो उठी है। कई जगह ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग है जो 'लोकल कलर' उत्पन्न करता है।......'धोबियों का नाच', 'चमारों का नाच', 'कहारों का रुद्रनर्तन', इफेक्ट की दृष्टि से अत्यन्त ललित चीजें हैं।......'भारतमाता ग्रामवासिनी', 'अहिंसा', 'चरखा-गीत' सुन्दर संघगीत (कोरस) है।"

यद्यपि पन्त 'ग्राम्या' में एक दर्शक कलाकार हैं, किन्तु 'युगवाणी' के उनके व्याख्याता कलाकार ने इसमें भी अपना कण्ठ मिला दिया है। एक चित्र देकर मानो चित्र-परिचय के रूप मे कवि वक्तव्यकार भी हो गया है। कहीं-कहीं वह सुसंगत लगता है, किन्तु कहीं-कहीं 'ग्राम्या' के चित्र-नियोजन 'मैजिक लैन्टर्न लेक्चर' की सीमा में चले गये हैं। इसकी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि चित्र अपनी सजीवता में स्वयं बोलते हैं।

पन्त में जो आकार-प्रियता है वह चित्ररूप में 'ग्राम्या' में प्रकट हुई है। आबजेक्टिव रूप में उनका सबजेक्टिव असंतोष भी व्यक्त हुआ है।

'ग्राम्या' के नृत्य-चित्र उदयशंकर-आर्ट की याद दिलाते हैं। उदयशंकर के नृत्य, रोमैण्टिक कला के क्षेत्र में एक क्लासिकल नवीनता का उत्पादन करना चाहते हैं, किसी नवीन जीवन का नहीं। किन्तु पन्त के नृत्य-चित्र युग-सत्य का निर्देश करना चाहते हैं, एक नवीन जीवन के लिए। उसी क्षेत्र को लेकर पन्त ने उसे देखने का अपना दृष्टिकोण स्वतंत्र रखा है, इसी लिए उन्हें वक्तव्य द्वारा अपने दृष्टिकोण को अवगत कराना पड़ा है।

'ग्राम्या' की काव्यकला को हम 'युगान्त' और 'युगवाणी' का संयोग कह सकते हैं, चित्र और वाणी का सहयोग। 'युगान्त' में पन्त ने नई कला के लिए चित्र-साधना की थी, 'युगवाणी' में उस कला के लिए शब्द-साधना। इन दोनों साधनाओं ने

'ग्राम्या' में संयुक्त होकर अपनी एक गति-विधि निश्चित कर ली है। सब मिलाकर 'युगवाणी' का वक्तव्य-प्राधान्य 'ग्राम्या' में कम हो गया। पन्त कविता की ओर आ गये हैं, आगे पन्त की कला इस नई कविता का क्या रूप धारण करेगा, यह अनुमेय है।

[४]

'युगान्त' में पन्त मुख्यतः गान्धीवाद की ओर थे, जीवन के चिन्तन में अन्तर्मुख थे। उस समय पन्त सृष्टि की सुन्दरता को आत्मा के भीतर से झाँक रहे थे, यथा,—

> चित्रिणि! इस सुख का स्रोत कहाँ
> जो करता नित सौन्दर्य-सृजन?
> 'वह स्रोत छिपा उर के भीतर'
> क्या कहती यही सुमन-चेतन?
>
> —('युगान्त' में 'तितली')

किन्तु 'युगवाणी' में वह आत्मचिन्तन आत्मा में ही केन्द्रित न रहकर शरीरधारी भी हो गया। फलतः आत्मा की कला शरीर की कला भी पा गई। किन्तु 'युगवाणी' में भी पन्त गान्धीवाद को भूले नहीं हैं, उस पर उनकी एकान्त श्रद्धा है, 'बापू' शीर्षक पहिली ही कविता कवि का आत्मोद्घाटन कर देती है, यद्यपि उसे 'युगवाणी' के प्रारम्भ से पूर्व पृष्ठ देकर वे आज के द्वन्द्वों को उसके आगे उपस्थित कर देते हैं, उसे मन्दिर में छोड़-

कर जीवन के गृह-प्रांगण में आ जाते हैं। आज पन्त सूक्ष्म चेतन (आत्मा) को सुन्दर आकार (समाजवाद) देने को अधिक उत्सुक हैं। विज्ञान ने जिस आत्मा को खण्डित कर दिया है, पन्त ने उसी आत्मा को पुनर्जन्म देने के लिए नवीन मानवी मूर्त्तियाँ गढ़ दी हैं। आज भी वह सगुण-जगत् का ही कवि है, किन्तु अब वह समाजवादी है, इसी लिए उसकी गठन बदल गई है।

आज के समाधानों को पाने के लिए कवि के 'पल्लव' में ही एक तड़फड़ाहट आ गई थी। कवि यही कहकर समाधान-हीन रह गया था—

देव! जीवन भर का विश्लेष
मृत्यु ही है निःशेष!!

यह कवि का पिछले आस्तिक समाज के भीतर निराश निश्वास था। 'युगान्त' से उसके भीतर एक नवीन आशा का सञ्चार हुआ, वह समाजवाद की ओर उन्मुख हुआ। 'युगान्त' के बाद 'युगवाणी' में कवि ने उसी नवीन आशा को शक्ति देने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार युग का व्यक्तित्व ग्रहण कर लेने के बाद 'ग्राम्या' में कवि ने जीवन को समाजवादी निरीक्षण और गान्धीवादी संरक्षण दिया। असल में पन्त न तो समाजवाद से विमुख हैं और न गान्धीवाद से; वे दोनो के सम्मुख हैं। दोनो के भीतर जो सत्य हैं उन्हें स्वीकार करके दोनों की अपूर्णताओं की एक

दूसरे से पूर्त्ति चाहते है, यों कहें, वे आत्मा की भूख भी मिटाना चाहते हैं और शरीर की भूख भी। मुख्यत: पन्त में आत्मा की भूख के लिए अधिक आस्था है, इसी लिए वे उसके प्रति प्रश्नोन्मुख होकर भी नतमस्तक हैं, ('ग्राम्या' की 'महात्माजी के प्रति' और 'बापू' शीर्षक कविताएँ इसकी सूचक हैं, साथ ही हम यह भी देखते हैं कि पन्त ने समाजवादी युग के किसी यन्त्र का स्वर न सुनाकर 'चरखा' का स्वर ही सुनाया है)। 'युगवाणी' देकर भी पन्त 'संकीर्ण भौतिकतावादियों के प्रति' प्रश्न-सजग हैं—

"आत्मवाद पर हँसते हो रट भौतिकता का नाम ?
मानवता की मूर्त्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम ?"

पन्त शारीरिक आवश्यकताओं को स्वीकार करके भी उसी को प्रधान नहीं मान लेते, बल्कि आत्मवाद और भूतवाद के संयोजन से एक नवीन संस्कृति का उद्भव चाहते हैं, साथ ही मनुष्य की अनिवार्य्य शारीरिक भूख-प्यास के प्रति क्षमाशील दृष्टिकोण चाहते हैं—

मानव के पशु के प्रति
हो उदार नव संस्कृति।—('युगवाणी')

पन्त जिस तरह संकीर्ण भौतिकतावादियों को नहीं चाहते, उसी तरह संकीर्ण अध्यात्मवादियों को भी। ये दोनों अपने-अपने जिन सत्यों की लकीर पकड़कर चल रहे हैं, पन्त उन्हीं के ठीक अभि-

आर्यों का परस्पर समन्वय चाहते हैं। अभी तो ये दोनों 'अनमिल आखर' हो रहे हैं।

'ज्योत्स्ना' में पन्त ने उसी समन्वय को भविष्य की पलकों में इस प्रकार प्रत्यक्ष किया है—"पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थिपिंजर में भूत या जड़ विज्ञान के रूप रंग भर हमने नवीन युग की सापेक्षतः परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया।" और "इसी लिए इस युग ('ज्योत्स्ना' में निर्दिष्ट भावी युग) का मनुष्य न पूर्व का रह गया है, न पश्चिम का रह गया है, पूर्व और पश्चिम दोनों मनुष्य के बन गये हैं।"

यह पन्त का सापेक्षिक दृष्टिकोण है। किन्तु पन्त का एक निरपेक्ष दृष्टिकोण भी है। वे अपनी दार्शनिक सूक्ष्मता में बहुत ऊपर उठ जाते हैं। एक ओर तो सापेक्षिक दृष्टिकोण से वे यह कहते हैं—

'सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन।'

दूसरी ओर उनका यह निरपेक्ष दृष्टिकोण भी है—

सुख-दुख के पुलिन डुबाकर
लहराता जीवन-सागर

सुख दुख से ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलम्बन।
—('गुंजन')

× × ×

मानव ! कभी भूल से भी क्या सुधर सकी है भूल ?
सरिता का जल मृषा, सत्य केवल उसके दो कूल ?
आत्मा औ' भूतों में स्थापित करता कौन समत्व ?
बहिरंतर आत्मा-भूतों से है अतीत वह तत्त्व।
भौतिकता आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल,
व्यक्ति-विश्व से, स्थूल-सूक्ष्म से परे सत्य के मूल।
—('युगवाणी')

पन्त का यही निरपेक्ष दृष्टिकोण सापेक्षिक दृष्टिकोण को सन्तुलन देता है। सुख-दुख तथा आत्मा और भूत को पन्त का कवि निमित्त-मात्र मानता है, इसी लिए उनके प्रति अनावश्यक लोभ न रखकर उनका समुचित संकलन कर लेता है। यों कहें कि, उभय द्वन्द्वात्मक तत्त्वों के परे एक परम सत्य को पा लेने के लिए कवि अपने निरपेक्ष दृष्टिकोण में एक तटस्थ द्रष्टा है, हाँ, उसकी तटस्थता मनुष्य की आत्मसाधना की ओर अधिक ममतालु है, इसी लिए 'ग्राम्या' में 'आधुनिका' की अपेक्षा 'ग्रामनारी' को कवि ने अपनी ममता से सँवार दिया है।

[५]

अब हम फिर महादेवी की ओर मुड़ें।

आज विश्व के रंगमंच पर जो समस्याएँ चल रही हैं, उनसे महादेवी अनभिज्ञ नहीं हैं। कहती हैं—"इस भौतिकता के कठोर धरातल पर, तर्क से निष्करुण जीवन की हिंसा-जर्जरित समष्टि में आये हुए युग को देखकर स्वयं कभी कभी मेरा व्यथित मन भी अपनी करुण भावना से पूछना चाहता है, 'अश्रुमय कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी रे!'"

वे आज की समस्याओं के बीच एक सूचना देती हैं—जीवन की वैयक्तिक साधना की। जीवन के नेपथ्य में उनकी कविता आकाश-वाणी है। पन्त ने 'पल्लव' में जिस नेपथ्य की ओर संकेत किया है—

न जाने नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन!

महादेवी ने उसी नेपथ्य के संकेतों (रहस्यों) को गा दिया है। निःसन्देह महादेवी की कविता न तो जीवन के प्रहर्ष में है, न जीवन के संघर्ष में। उसमें तो केवल उस चेतन की आराधना है जो जीवन के इतने हर्ष-विमर्षों का संचालक है।

महादेवी सांस्कृतिक कवि हैं। उनकी कविता शरदबाबू की सुरबाला और राजलक्ष्मी जैसी वैष्णवी पात्रियों के अमृतकण्ठ की गीत-वाणी है। प्रसाद की राज्यश्री और देवसेना जैसी बुद्ध-

कालीन आत्माएँ भी उस गीतवाणी में मानो अपने को पा जाती हैं।

युग युग से भारतीय नारी ने अपनी तपस्या से जिन अश्रुओं को ज्योतिर्मय कर दिया है उन्हीं अश्रुओं का करुण गान ही तो महादेवी का गीतिकाव्य है।

आज 'बाजार-दर' की तरह उठते-गिरते परिवर्त्तनशील जीवन के जिन हर्ष-विमर्षों को लेकर हम लोकयात्रा कर रहे है, और 'बाजार दर' में बैलेंस न होने के कारण असन्तुष्ट हो उठे हैं, कभी न कभी वाञ्छित बैलेंस पाकर हम एक समान सुखी हो जायँगे। किन्तु सम्पूर्ण सुख-सुविधाएँ पा जाने पर भी मनुष्य के हृदय में कहीं न कहीं कोई न कोई अतृप्ति या कसक बनी रहेगी, अन्यथा मनुष्य जी कैसे सकेगा? मनुष्य अपने जीवन में अभाव और अतृप्ति लेकर ही तो जीवित है, अन्यथा उसका स्पन्दन कभी ही रुक जाय। आज की जिन सामाजिक और राजनीतिक अव्यवस्थाओं के कारण जीवन में असन्तोष का स्वर भर उठा है, कभी न कभी उसका लय हो जायगा। तब हमारे सुखदुख ये नहीं रह जायँगे जो हमारे काव्य में करुणा और मधुरता के रस बनकर बह रहे हैं। किन्तु समाजवाद के संसार में भी कहीं न कहीं सबजेक्टिव रूप से किसी नवीन अतृप्ति या अभाव का रह जाना सम्भव है, उसी के द्वारा हमारे काव्य में फिर एक नया रोमान्टिसिज़्म आयेगा। उसे न हो हम भविष्य का

समाजवादी छायावाद कह ले। मनुष्य स्वर्ग ही क्यों न पा जाय, उसके एकान्त जगत् में कोई न कोई अतृप्ति या कसक बनी रहेगी। इसी अभावात्मक चित्तवृत्ति को भक्त कवियों ने परमात्म-बोध दे दिया था। महादेवी उसी शाखा की कवयित्री हैं।

युग की दिशा में प्रगतिशील होते हुए भी पन्त संस्कृति की ओर उदासीन नहीं है, बल्कि संस्कृति ही उनके युग का सम्पूर्ण निर्माण है। 'ज्योत्स्ना' और 'युगवाणी' इसका प्रमाण है।

दूसरी ओर महादेवी संस्कृति की ओर उन्मुख होते हुए भी युग की प्रगतिशीलता को स्वीकार करती हैं। किन्तु उनका कथन यह है—(अभी तो) "वास्तव में हमने जीवन को उसके सक्रिय संवेदन के साथ न स्वीकार करके एक विशेष बौद्धिक दृष्टिकोण से छू भर दिया है। इसी से जैसे यथार्थ से साक्षात् करने में असमर्थ छायावाद का भावपक्ष में पलायन सम्भव है उसी प्रकार यथार्थ की सक्रियता स्वीकार करने मे असमर्थ प्रगतिवाद का चिन्तन में पलायन सहज है। और यदि विचार कर देखा जाय तो जीवन से भावजगत् में पलायन उतना हानिकर नहीं जितना जीवन से बुद्धिपक्ष में पलायन, क्योंकि एक हमारे कुछ क्षणों को गतिशील कर जाता है और दूसरा हमारा सम्पूर्ण सक्रिय जीवन माँग लेता है।"

"यदि इन सब उलझनों को पार कर हम पिछले और आज के काव्य के एक विस्तृत धरातल पर उदार दृष्टिकोण से परीक्षा

करें तो हमें दोनों में जीवन के निर्माण और प्रसाधन के सूक्ष्म तत्त्व मिल सकेंगे। जिस युग में कवि के एक ओर परिचित और उत्तेजक स्थूल था और दूसरी ओर आदर्श और उपदेश-प्रवण इतिवृत्त, उसी युग में उसने भावजगत् और सूक्ष्म सौन्दर्य्य-सत्ता की खोज की थी। आज वह भावजगत् के कोने कोने और सौन्दर्य्यगत चेतना के अणु-अणु से परिचित हो चुका है अतः स्थूल व्यक्त उसकी दृष्टि को विराम देगा। यदि हम पहले मिली सौन्दर्य्य-दृष्टि से आज की यथार्थ-सृष्टि का संयोग कर सकें, पिछली सक्रिय भावना से बुद्धिवाद की शुष्कता को स्निग्ध बना सकें और पिछली सूक्ष्म चेतना की व्यापक मानवता में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकें तो जीवन का सामञ्जस्य-पूर्ण चित्र दे सकेंगे। परन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के समान कविता का भविष्य भी अभी अनिश्चित ही है। पिछले युग की कविता अपनी ऐश्वर्य-राशि से निश्चल है और आज की प्रतिक्रियात्मक विरोध में गतिवती। समय का प्रवाह जब इस प्रतिक्रिया को स्निग्ध और विरोध को कोमल बना देगा तब हम इनका उचित समन्वय कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।"

पीछे हम देख चुके हैं कि पन्त की प्रगति भी समन्वय की ओर है। किन्तु पन्त और महादेवी के समन्वय के माध्यम में अन्तर है; पन्त का माध्यम लौकिक सौन्दर्य्य (भूतवाद) है, महादेवी का माध्यम अलौकिक वेदना (अध्यात्मवाद)। यहाँ महादेवी की काव्य-तरलता

को वस्तुजगत् के स्पर्श से कुछ ठस हो जाने की आवश्यकता जान पड़ती है तो पन्त की वाणी को वेदना से कुछ तरल हो जाने की। इस प्रकार जीवन और कला को दोनों एक सम्यकता प्रदान कर सकेंगे। महादेवी के गीतिकाव्य और पन्त के वस्तुकाव्य के समन्वय से हिन्दी-कविता को एक नई काव्यकला मिल सकती है।

जो करुणा महादेवी की कविता (भाव-पक्ष) का प्राण है, वही पन्त की सृष्टि (लोक-पक्ष) में भी जीवन-मूरि है—

"चिर पूर्ण नहीं कुछ जीवन में
अस्थिर है रूप-जगत का मद,
बस आत्मत्याग जीवन-विनिमय
इस संधि जगत में है सुखप्रद

करुणा है प्राण-वृन्त जग की,
अवलंबित जिस पर जग जीवन,
भर देती चिर स्वर्गिक करुणा
जीवन का खोया सूनापन।
करुणा रंजित जीवन का सुख,
जग की सुन्दरता अश्रु स्नात,
करुणा ही से होते सार्थक
ये जन्म-मरण सन्ध्या-प्रभात।"

—('युगवाणी')

किन्तु पन्त ने आज मनुष्य की अस्तित्व-रक्षा के लिए तात्कालिक कर्त्तव्य को ही प्रमुखता से आगे उपस्थित किया है। अभी तो मनुष्य विषम विष से मूर्च्छित है, वह सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही की ओर से बेसुध है। उसमें स्थूल चेतना आ जाने पर वह सूक्ष्म चेतना को भी ग्रहण करने में समर्थ हो सकेगा। समाजवादी मनुष्य स्वस्थ मन से छायावाद को ग्रहण कर सकेगा।

जीवन का वर्तमान संघर्ष शाश्वत नहीं है, इसका कभी न कभी अन्त होगा, उस प्रकृतिस्थ भविष्य का स्वप्न भी पन्त के पलकों में है—

मौन रहेगा ज्ञान,
स्तब्ध निखिल विज्ञान!
क्रान्ति पालतू पशु-सी होगी शान्त
तर्क, बुद्धि के वाद लगेंगे भ्रांत।
राजनीति औ' अर्थशास्त्र
होंगे संघर्ष-परास्त।
धर्म, नीति, आचार—
रुचेगी सबकी क्षीण पुकार!

जीवन के स्वर में हो प्रकट महान
फूटेगा जीवन रहस्य का गान।

क्षुधा, तृषा औ' स्पृहा, काम से ऊपर,
जाति, वर्ग औ' देश, राष्ट्र से उठकर
जीवित स्वर में, व्यापक जीवन गान
नव्य करेगा मानव का कल्याण।

—('युगवाणी')

पन्त केवल क्रान्तमुख नहीं, शान्तमुख भी है। श्री शिवदान-सिंह चौहान के शब्दों में—"क्रान्ति की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करनेवाली काव्यधारा में भी दो प्रवाह हैं, एक है जिसका नेतृत्व भगवतीचरण वर्मा और दिनकर कर रहे हैं, दूसरा है जिसके अभी एकमात्र प्रवर्तक-समर्थक पन्त है।"

पन्त क्रान्ति और शान्ति दोनों चाहते हैं, संहार और सृजन दोनों को युग-वाणी दे रहे है। दिनकर और भगवतीचरण जीवन की कोई मूर्तिमत्ता नहीं दे रहे है, वे प्रायः आवेशपूर्ण हैं। पन्त उन्मेषपूर्ण हैं और जीवन की मूर्त्तिमत्ता दे रहे हैं; उनमें कलाकारिता है।

पन्त काव्य से गीत-गद्य की ओर आये, महादेवी गीत से गद्य की ओर आ गई हैं। अपने संस्मरणों में उन्होंने वस्तुजगत् को करुणा की वाणी दे दी है। गीतिकाव्य में उन्हें जिस सुदृढ़ आधार की आवश्यकता थी, उसे उन्होंने अपने इन लोकचित्रों में पा लिया है। हाँ, समाज के आँसुओं को उन्होंने अपनी वेदना में अपना लिया है, किन्तु राजनीतिक असन्तोषों को काव्य बनाकर

देने का प्रयत्न उन्हें अभीष्ट नहीं जान पड़ता। उनका कहना है—"विचारों के प्रसार और प्रचार के अनेक वैज्ञानिक साधनों से युक्त युग में, गद्य का उत्तरोत्तर परिष्कृत होता चलनेवाला रूप रहते हुए, हमें अपने केवल बौद्धिक निरूपणों और वादविशेष सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं रही। चाणक्य की नीति वीणा पर गाई जा सकती है, परन्तु इस प्रकार वह न नीति की कोटि में आ सकती है और न गीति की सीमा में, इसे जानकर ही इस बुद्धिवादी युग को हम कुछ दे सकेंगे।" यहाँ यह निवेदना करना है कि चाणक्य की नीति भी अन्तःद्रवित होकर काव्य का रस बन सकती है। राष्ट्रीय कविताएँ राजनीतिक भावप्रवणता ही तो है।

किन्तु पन्त के शब्दों में स्थिति आज यह है कि मनुष्य भाव-प्रवण नहीं रह सकता—

> अपने मधु मे लिपटा पर
> कर सकता मधुप न गुञ्जन,
> करुणा से भारी अन्तर
> खो देता जीवन-कम्पन।
>
> —('गुञ्जन')

हम देखते है कि आज जीवन गद्यमय ही हो गया है। क्या वह फिर कभी काव्य की ललित संज्ञा नहीं ग्रहण करेगा?—

कालाकाँकर में एक दिन मैंने पन्तजी से पूछा था—तो क्या आपका अभिप्राय यह है कि आज की अशान्तियों का समाधान करके भविष्य में मनुष्य अधिक तृप्ति से गा सकेगा? पन्तजी ने कहा—तब मनुष्य बोलना छोड़ देगा, वह गाना ही गाता रहेगा। अर्थात् मनुष्य का गद्य-कठोर जीवन भविष्य में संगीत-मय हो जायगा।

निःसंदेह उसी दिन पन्त का कलाकार अपने कवि को जगाकर एक बार फिर कहेगा—

स्वस्ति, जीवन के छाया काल!
सुप्त स्वप्नों के सजग-सकाल!
मूक मानस के मुखर-मराल!
स्वस्ति, मेरे कवि बाल!

— —

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५ (भूमिका)	१४	भा	भी।
६ (,,)	४	दिशा का	दिशा की
२९	१५	शामित	शासित
३६	२०	रहा	रहीं
३८	७	दिग्ध	दग्ध
४०	१	वहिजगत्	बहिर्जगत्
,,	१३	नहा	नहीं
४२	१	धम	धर्म
६३	१३	को	की
७७	७	अन्तर्दशी	अन्तर्दृशी
७८	२१	कौसलों	कौंसिलों
८६	१६	धर्य	धैर्य
९७	६	निणायक	निर्णायक
१२७	५	गांधा	गांधी
,,	११	श्रम भा	श्रम भी
१६०	१०	नवीन आधुनिकता	एक नवीन आधुनिकता
,,	१०	आधुनिकता एक	आधुनिकता
२१३	१४	बोधादय	बोधोदय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१९	६	मध्य के	मध्य युग के
२२०	१०	लाकसाधन	लोकसाधन
२२४	१०	प्रभुत्ववाद की	प्रभुत्ववाद को
२३१	२१	बिल्वपत्र का	बिल्वपत्र की
२५०	८	मातृगुप्त का	मातृगुप्त की
२६२	१२	वैसे हा	वैसे ही
२७७	१८	संकेत का	संकेत की
३१०	२०	होता है	होती है
३१६	१०	मार्दवा	गम्भीरता
३२०	१	श्रष्ट	श्रेष्ठ
३२६	७	महादेवा	महादेवी
३३९	४	ठङ्-ठङ्-ठ	ठङ्-ठङ्-ठङ्
३४३	१२	का क्षमता	की क्षमता
३४५	४	करेगा	करेगी
”	८	सृष्टि का	सृष्टि की

——